वर्तमान अणु एवं उद्जन युग
की
सन्तप्त एवं सन्त्रस्त
समस्त मानव-जाति
को
अहिंसा-दर्शन
का
अमृत-पात्र
सस्नेह
स म र्पि त

द्वितीय संस्करण

'अहिंसा-दर्शन' का यह दूसरा संस्करण है। प्रस्तुत पुस्तक ने जैन अजैन सभी तटस्थ विचारकों की दृष्टि में जो आदरपूर्ण सम्मान का स्थान प्राप्त किया है, ज्ञानपीठ, इसके लिए अपने को सौभाग्यशाली समझता है।

प्रथम संस्करण बहुत शीघ्र ही समाप्त हुआ। उन दिनों इसकी एक सिरे से दूसरे सिरे तक धूम सी मच गई थी। यही कारण है कि गुजराती पाठकों के आग्रह पर, इस बीच, जैन सिद्धान्त सभा बंबई से अहिंसा दर्शन का शानदार गुजराती संस्करण भी प्रकाशित हो चुका है। अंग्रेजी अनुवाद की मांग भी काफी तीव्र हो रही है। लेकिन, ज्ञानपीठ के सीमित साधन, इस दिशा में, अब [illegible] हैं।

प्रस्तुत संस्करण बहुत सुन्दर एवं परिमार्जित हुआ है। इसका यह वर्तमान मोहक रूप, आदरणीय साहित्य सेवी श्री अखिलेश मुनिजी, श्री मनोहर मुनि जी शास्त्री साहित्यरत्न, तथा श्री प० बाबूराम जी शर्मा का आभारी है। साहित्य सेवियों के बौद्धिक श्रम के साथ-साथ मुद्रण-सम्बन्धी सुविधाओं की दृष्टि से कल्याण प्रिन्टिंग प्रेस के व्यवस्थापक की सहानुभूति पूर्ण सत्-सहयोग भी सराहनीय है। आप सब का अपनी अपनी मर्यादा में दिया गया योगदान, चिरस्मरणीय रहेगा।

आगरा
विजय दशमी, १९५७

—विजयसिंह दूगड़
मंत्री, सन्मति ज्ञानपीठ

सम्पादकीय

विश्व के समस्त धर्म अहिंसा के सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं। जिन धर्मों में हम हिंसा का प्रचलन देखते हैं वह हिंसा भी विचारकों की दृष्टि से ही हिंसा है। वस्तुतः वह धर्म तो उस हिंसा को भी अहिंसा मानकर ही प्रश्रय देता है। इस प्रकार किसी भी धर्म के शास्त्र में हिंसा को धर्म और अहिंसा को अधर्म के रूप में स्वीकार नहीं किया गया वरन् सभी धर्म अहिंसा को ही परम-धर्म स्वीकार करते हैं। सभी धर्मों में अहिंसा को जो महत्त्वपूर्ण स्थान मिला है वह यों ही नहीं मिल गया है। वास्तव में अहिंसा मानव जीवन की सर्वोत्कृष्ट नीति है और कहना चाहिए कि वह अनिवार्य एवं आध्यात्मिक स्तम्भ भी है, जिसके सहारे मानव जाति का अस्तित्व टिका हुआ है।

अहिंसा कोरी सिद्धान्त की वस्तु नहीं वरन् व्यवहार की वस्तु है। चिरकाल से बड़े-बड़े साधक पुरुष अपने व्यावहारिक जीवन में अहिंसा की आराधना करते आए हैं और कुछ ने अहिंसा के लिए अपने मूल्यवान् जीवन का उत्सर्ग करके उसे बहुत बड़ी महिमा प्रदान की है। जैन-ग्रन्थों में ऐसे सैकड़ों उदाहरण हमें मिलते हैं। केवल संसार-त्यागी सन्तों के लिए ही अहिंसा आचरणीय नहीं किन्तु गार्हस्थ्य जीवन में भी वह आचरणीय मानी गई है क्योंकि गार्हस्थ्य जीवन का सदाचरण ही संत-जीवन की पृष्ठ भूमि है।

किस युग में अहिंसा की कल्पना की गई यह कहना कठिन है। इतिहास इस प्रश्न का उत्तर देने में मौन दिखाई देता है और सम्भवतः उसके पास कोई समुचित उत्तर हो भी नहीं सकता। जब से इस धरातल पर मनुष्य नामक प्राणी विद्यमान है तब से उसे हृदय और मस्तिष्क प्राप्त है तभी से अहिंसा का परम पुनीत सिद्धान्त भी

प्रचलित है। इस ध्रुव सत्य को मान लेने में कोई भ्रान्ति दिखाई नहीं देती।

सुदूर अतीत से अहिंसा के सम्बन्ध में विचार किया जाता रहा है। उस सुदूर प्राचीन काल से लेकर आज तक हिंसा-अहिंसा की मीमांसा चल रही है। उत्तरोत्तर अहिंसा को विकास और विराट् स्वरूप प्रदान किया जाता रहा है। आचार जगत् की अहिंसा भगवान् महावीर के युग में विचार जगत् में भी शान से साथ प्रवेश करती जान पड़ती है, और गांधी युग में राजनीति के क्षेत्र में आकर वरदान बना प्रतीत होती है। जीवन के जिस क्षेत्र में हिंसा की बीमारी बढ़ने लगती है, उसे दूर करने के लिए अहिंसा को उसी क्षेत्र में पदार्पण करना पड़ता है।

हिंसा और अहिंसा की मर्यादा स्थिर करने में जो जटिलता प्रतीत होती है उसका कारण उनकी विराटता ही है। तथापि मन में यदि किसी प्रकार का दुरभिनिवेश न हो और शुद्ध जिज्ञासा विद्यमान हो, तो हिंसा और अहिंसा की मर्यादा स्थिर करने में कोई कठिनाई नहीं हो सकती। मनुष्य का हृदय स्वयं ही इस विषय में सही साक्षी देने लगता है।

उपाध्याय श्री अमरचन्द्रजी महाराज बहुश्रुत विद्वान् और निष्पक्ष भाव से तत्त्व ज्ञान का चिन्तन करने वाले सन्त हैं। सौभाग्य से उन्हें विद्या और बुद्धि के साथ वक्तृत्व कला भी उच्चकोटि की प्राप्त है। उन्होंने अहिंसा पर जो प्रवचन किये हैं, इस पुस्तक में उन्हीं का सङ्कलन है। यह प्रवचन अनेक दृष्टियों से मौलिक और महत्वपूर्ण हैं। इनके पढ़ने से पाठकों को अहिंसा के निखरे हुए विराट् स्वरूप का दर्शन होगा, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है। जैन दृष्टि से अहिंसा का ऐसा स्पष्ट, विशद और सर्वाङ्गीण चिन्तन और प्रतिपादन अन्यत्र नहीं मिलेगा। वक्ता के भावों में गाम्भीर्य है और भाषा में ओज है। उनकी भाषा बहती है। नदी के प्रवाह की तरह प्रतिपाद्य विषय की ओर बढ़ती हुई, लहराती हुई, धरातल से ऊपर उठकर गगनतल को स्पर्श

न हो कहीं सकती है न स्खलित ही
द पथ की ओर अग्रसर होकर यथेष्ट
देती है। प्रवचनों का सम्पादन करते
। मौलिकता को कायम रखने का मैंने
र भी यह दावा करना कठिन है कि मैं
र हूँ।

अपरिचित और अनगढ़ होते हैं। अतएव
ई कठिनाई नहीं होनी चाहिए। परन्तु कहीं
दु के प्रवाह एवं वेग को सम्यक् ग्रहण न कर
ई है और उन स्थलनाओं को सँवारना ही
ा करते समय भाषा में कहीं विषमता आ गई
ता है।

मुम की भाषा बोलते हुए भी आपश्च के 'हृदय'
आपकी विचारावली विमल पुष्प की बलाहार
ा हठात् स्मरण करा देती है। हो सकता है कि
ाँ के कारण किसी का उनसे मतभेद हो तथापि
निष्पक्ष भाव से विचार किया तो उनका समाधान
।

ों के विचारों को माँजने में ये प्रवचन खूब सहायक

वर —शोभाचन्द्र भारिल्ल
-१९

प्रकाशकीय

'अहिंसा दर्शन' उपाध्याय श्रीजी के ब्यावर-चातुर्मास (वि० २००६) में दिए गए अहिंसा-सम्बन्धी प्रवचनों का सकलन है। इसमें अनेक पहलुओं से अहिंसा की जो विवेचना की गई है, उसमें कितनी मौलिकता, गभीरता और विशदता है, यह बात इस पुस्तक को ध्यानपूर्वक पढने वाले विवेकशील पाठक स्वय समझ सकते है। जैन शास्त्रों में अहिंसा के सम्बन्ध में बहुत विस्तृत विवेचना की गई है, किन्तु आज बहुत थोडे ही विद्वान् मिलेंगे, जो शास्त्रों का अध्ययन करते हैं। फिर उस विवेचना के अन्तस्तत्त्व को सही रूप में समझने और प्रतिपादन करने वालो की सख्या तो और भी कम है। उपाध्याय श्री ने शास्त्रों की शब्दावली के सहारे शास्त्रो की आत्मा को स्पर्श किया है और यही कारण है कि उनके द्वारा की हुई विवेचना अपूर्व और मौलिक बन पडी है। हमारे इस विचार में कितना तथ्य है, इसका निर्णय विद्वान् पाठक स्वय कर सकते हैं।

'अहिंसा दर्शन' ब्यावर-श्री-सघ की दीर्घदर्शिता का फल है। उपाध्याय श्री के प्रवचनो को लिपिबद्ध कराने की सूझ ब्यावर-सघ की ही है। अतएव इसका सारा श्रेय ब्यावर-सघ के हिस्से में जाता है। ब्यावर के साहित्य प्रेमी श्रावको ने इन प्रवचनो को लिपिबद्ध ही नहीं करवाया, अपनी ओर से इनका सम्पादन भी करवाया है और प्रकाशन के लिये ज्ञानपीठ को उल्लेखनीय सहयोग प्रदान किया है। इस सब के लिए हम ब्यावर श्रीसघ के अत्यन्त ही आभारी हैं। उसकी सामयिक सूझ-बूझ की बदौलत ही पाठको को यह सुन्दर साहित्य उपलब्ध हो रहा है।

मत्री, सन्मति ज्ञानपीठ,
आगरा।

ब्यावर-श्रीसंघ

पौष वदि ८ संवत् २ १ की बात है। श्री अ भा श्वे स्था जैन कान्फरेन्स बम्बई के अध्यक्ष तथा अन्य सदस्य संघ-ऐक्य-योजना के प्रति स्थानकवासी सन्त-मुनिराजों और बड़े-बड़े नगरों के श्रावकों का सहयोग प्राप्त करते हुए ब्यावर पधारे। विभिन्न सम्प्रदायों के नाम से बिखरे हुए ब्यावर के स्थानकवासी समाज ने भी इस संघ-ऐक्य के महायज्ञ में अपनी आहुति प्रदान की। सभी स्थानकवासियों ने एक संघ का निर्माण किया और वे उन प्रगतिशील भावनाओं को मूर्त रूप देने को कटिबद्ध हुए, जो संघ-ऐक्य-योजना में पूर्ण सहायक हों।

इसी दिशा में ब्यावर-श्रीसंघ ने उपाध्याय मुनि श्री प्रेमचन्दजी महाराज पूज्य आनन्द ऋषिजी महाराज और उपाध्याय मुनि श्री कविरत्न अमरचन्दजी महाराज के चातुर्मास कराने का निर्णय किया। प्रथम चातुर्मास संवत् २ ६ में पूज्य श्री का हुआ और द्वितीय चातुर्मास संवत् २ ७ में कवि श्री का हुआ।

कवि श्री जी के गंभीर सारपूर्ण एवं तत्त्वस्पर्शी व्याख्यानों से प्रेरित एवं प्रभावित होकर श्रीसंघ के कुछ प्रमुख बन्धु सर्वश्री पन्नालालजी पूनमचन्दजी कांकरिया छैनराजजी मुराड़ा और पुखराज जी सिसोदिया ने उन व्याख्यानों को लिपिबद्ध कराने का निर्णय किया।

पं० श्री शोभाचन्द्र जी भारिल्ल द्वारा सम्पादन किया जाकर उन व्याख्यानों का कुछ भाग "अहिंसा-दर्शन" के रूप में जनसाधारण के सामने आ रहा है।

कवि श्री ने 'उपासक-दशांग-सूत्र' का अवलम्बन करके व्याख्यान फरमाये थे। अहिंसा सत्य अस्तेय ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह आदि विषय पर आपके बड़े ही महत्त्वपूर्ण एवं हृदयस्पर्शी प्रवचन हैं। जन-जन

भारतीय संस्कृति एवं जैन संस्कृति के गौरवपूर्ण दृश्य पाठक की आत्मा को सहसा आप्लावित कर देते हैं।

श्री संघ के पास प्रकाशन और प्रचार के साधन सुलभ न होने के कारण प्रकाशन का कार्य 'श्री सन्मति ज्ञानपीठ आगरा' ने स्वीकार किया है, जिसके लिए यह संघ ज्ञानपीठ को धन्यवाद प्रदान करता है।

यह, और आगे प्रकाशित होने वाला उपाध्यायजी महाराज का व्याख्यान-साहित्य उनके ब्यावर-चातुर्मास की अमर स्मृति है। इस वाग्विभूति की उपलब्धि में उपाध्याय श्री जी का कितना भाग है और किन शब्दों में उनका आभार माना जा सकता है, यह निर्णय करना कठिन है। हमें कोई उपयुक्त शब्द ही नहीं मिल रहे हैं।

आशा है इस साहित्य के अध्ययन और मनन से पाठकों के विचारों का स्तर कुछ ऊँचा उठेगा और तत्व-शोधन की दिशा में जनसाधारण की रुचि अग्रसर होगी।

जालमसिंह मेडतवाल
मन्त्री
श्री श्रमणोपासक जैन-श्रीसंघ,
ब्यावर

चैत्र शुक्ला १
२००६ वि०

अनुक्रमणिका

१ अहिंसा-दर्शन का स्वरूप-दर्शन

२ सामाजिक हिंसा का शोषण पक्ष

३ कृषि उद्योग और अहिंसा-तत्त्व

अहिंसा-दर्शन

'एवं खु नाणिणो सारं, जं न हिंसइ किंचणं।

ज्ञानी होने का सार है किसी की हिंसा न करना।

—तीर्थंकर महावीर

उपाध्याय अमर मुनि

अहिंसा-वाणी

'समं सर्वेषु भूतेषु, मद्-भक्तिं लभते पराम् ।'

'जो सब पर सम है, वही मेरा परम भक्त है ।'

—*कर्मयोगी कृष्ण*

'अत्तानं उपमं कत्वा, न हनेय्य न घातये ।'

'सभी को अपने जैसा समझ न किसी को मारे, न मरवाए ।'

—*तथागत बुद्ध*

'अहिंसा सत्य का प्राण है, उसके बिना मनुष्य पशु है ।'

—*महात्मा गांधी*

प्रथम खण्ड

अहिंसा-दर्शन

का

स्वरूप-दर्शन

औरो को हँसते देखो मनु,
हँसो और सुख पाओ।
अपने सुख को विस्तृत कर लो,
सब को सुखी बनाओ॥

—प्रसाद

—: १ :—

अहिंसा एक जीवन-गंगा

आज आपके सामने अहिंसा और उसके महत्त्व की चर्चा चल रही है। अहिंसा मानव-जाति के ऊर्ध्वमुखी विराट चिन्तन का सर्वोत्तम विकास-बिन्दु है। क्या लौकिक और क्या लोकोत्तर—दोनों ही प्रकार के मंगल-जीवन का सूत्राधार 'अहिंसा' है। व्यक्ति से परिवार परिवार से समाज समाज से राष्ट्र और राष्ट्र से विश्व-युग का जो विकास हुआ या हो रहा है उसके मूल में अहिंसा की ही पवित्र भावना काम करती रही है। मानव-सभ्यता के उच्च आदर्शों का सही सही मूल्यांकन अहिंसा के रूप में ही किया जा सकता है। हिंसा और विनाशकता अधिकार-लिप्सा और असहिष्णुता सत्ता-लोलुपता और स्वार्थपरता से विपाक्त उत्पीड़ित संसार में अहिंसा ही सर्वश्रेष्ठ अमृतमय विश्राम-भूमि है जहाँ पहुँच कर मनुष्य आराम की साँस लेता है। अपने को और दूसरों को समान धरातल पर देखने के लिए अहिंसा की निर्मल आँख का होना नितान्त आवश्यक है। यदि अहिंसा न हो

तो मनुष्य न स्वय अपने को पहचाने, और न दूसरो को ही। पशुत्व से ऊपर उठने के लिए अहिंसा का अवलम्बन अनिवार्य है।

यही कारण है कि विश्व के सभी धर्मों ने, घूम-फिर कर ही सही, अन्ततोगत्वा अहिंसा का ही आश्रय लिया है। मनुष्य के चारो ओर पार्थिव जीवन का मजबूत घेरा पडा हुआ है, उसे तोड कर उच्चतम आध्यात्मिक जीवन के निर्माण के लिए अहिंसा के विना गुजारा नही है। कौन ऐसा धर्म है, जो अपने प्रभु से मिलने के लिए और सब कुछ लेकर चले, किन्तु अहिंसा को किसी कारणवश छोड दे ? इसीलिए ईसा को भी यह कहना पडा कि—"यदि तू प्रार्थना के लिए धर्म-मन्दिर मे जा रहा है और उस समय तुझे याद आ जाय कि मेरी अमुक व्यक्ति से अनबन या खटपट है, तो तुझे चाहिए कि तू लौट जा और विरोधी से अपने अपराध की क्षमा-याचना कर। अपने अपराधो की क्षमा-याचना किये विना, प्रार्थना करने का तुझे अधिकार नही है।" इतना ही नही, वह यह भी कहता है कि—"यदि कोई तेरे एक गाल पर तमाचा मारे, तो तू दूसरा गाल भी उसके सामने कर दे।" यह है वह अहिंसा का स्वर, जो आपकी मान्यता के अनुसार अनार्य देश मे पैदा हुए एक साधक के मुख से भी गूंज उठा है।

अहिंसा जैन-धर्म का तो प्राण ही है। उसकी छोटी-से-छोटी और बडी-से-बडी प्रत्येक साधना में अहिंसा का जीवन-सगीत चलता रहता है। जैन-धर्म का नाम लेते ही जो

मे अहिंसा हमारी भूमि है। जहाँ अहिंसा है—वही सत्य, करुणा, क्षमा, दया आदि सब कुछ टिक सकेंगे। अहिंसा न हो, तो कुछ भी टिकने वाला नही है। इस सम्बन्ध मे एक आचार्य कहते हैं —

दयानदी-महातीरे, सर्वे धर्मास्तृणाङ्कुरा ।
तस्या शोषमुपेतायां, कियन्नन्दन्ति ते चिरम् ॥

गगा जैसी महानदी जब बहती है और उसकी विराट धाराएँ जब लहराती हुई चलती हैं तो उसके किनारो पर घास खडी हो जाती है, हरियाली लहलहाने लगती है, अनेकानेक बडे-बडे वृक्ष भी उग आते हैं, और यदि निरन्तर पोषण मिले तो ऊँचे-ऊँचे वृक्ष तो क्या, सघन वन भी खडे हो जाते हैं। पर ऐसा कब और कैसे होता है ? जब पानी की धारा वहाँ तक पहुँचती है। नदी के पानी की धारा प्रत्यक्ष मे उन्हे सीचती तो नजर नही आती, किन्तु उसके जलकण अन्दर ही अन्दर सबको तरी पहुँचाते हैं, वृक्षो को हरा-भरा करते हैं, पोषण देते हैं और वे वृक्ष विस्तार पाते हैं। यदि नदी सूख जायगी तो हरियाली कब तक ठहरेगी ? वह भी सूख जायगी और समाप्त हो जायगी। निसर्ग का वह सुन्दर और मनोरम विशाल-वैभव नष्ट हो जायगा, स्थिर नही रह सकेगा।

इसी प्रकार दया की महानदी भी यदि हमारे अन्त करण में बहती रहेगी, वचन में और काय में भी उसका सचार होता रहेगा, तो दूसरे व्रत भी आप ही आप पनप उठेगे। अहिंसा एव दया के साधक का मन शुद्ध भावना से परिपूर्ण होकर प्रत्येक प्राणी के लिए करुणा का भडार बन जाता

है। अपनी ओर से किसी को कष्ट देना तो दर-किनार रहा दूसरे की ओर से भी यदि किसी पर कष्ट होता हुआ देखता है तब भी उसका हृदय करुणा से छलछलाने लगता है। मुँह से कुछ भी बोलता है तो अमृत छिड़क देता है। क्या मजाल कि कभी मुह से गाली निकल जाय ? कड़वी बात तो उसकी जीभ पर कभी आ ही नहीं सकती। जहाँ अहिंसा और करुणा की धाराएँ जीवन के कण-कण में बह रही हों वहाँ विकार का जहर आएगा कहाँ से ? वहाँ से तो अमृत की ही बूँद टपकेगी। यदि कहीं जहर निकल रहा है, तो समझ लो कि उस स्रोत के मूल में अमृत की कमी है।

हाँ तो साधक की वाणी के ऊपर अहिंसा और दया का झरना बह रहा है। जब वह बोलता है तो ऐसा मालूम पड़ता है कि दुखिया के मन को वाणी द्वारा ढाढस मिलता है। दुखिया उसकी वाणी सुनने के बाद अपना दुख भूल जाता है। साधक की वाणी लगी हुई चोट में मरहम का काम करती है। वह अमृत रस से छलकती हुई वाणी संसार का कल्याण करने के लिए सदैव तैयार रहती है। वह साधक बच्चों से बूढ़ों से नौजवानों से बहिनों से, घर में और घर से बाहर भी सबसे आदर और प्रेम के साथ बोलता है। साधक को यदि अमीर मिलता है तो उसी भाव से और यदि झाड़ू देने वाला भंगी सम्मुख आता है तो उसके साथ भी उसी समान भाव से उसकी वाणी बहेगी। उस वाणी में दया और प्रेम का सोता बहता है उससे मानो फूल झड़ते हैं। इस प्रकार

अहिंसा की वह धारा शरीर मे भी वहती है, वाणी मे भी वहती है, और मन से भी वहती है। भगवान् महावीर ने कहा है —

'हत्यसजए पायसजए वायसजए सजइ दिए।'

—दशवैकालिक, १०, १५

अपने हाथो को सयम मे रखो, उन्हे अनुचित कार्य के लिए छूट मत दो। इन हाथो पर तुम्हारा पूरा नियत्रण और पूरा अधिकार होना चाहिए। जब ये हाथ बेकाबू हो जाते हैं तो अनुचित की ओर बढते हैं, और स्व-पर के विनाश मे निमित्त बनने लगते हैं। इसलिए इन्हे सदा काबू मे ही रखो। यदि इन्हे असयत होने दिया तो इनमे शूल चुभेंगे और व्यथा होगी, और उस व्यथा से सारे शरीर मे उत्पीडन पैदा हो जायगा। इससे आत्म-हिंसा तो होगी ही, साथ ही दूसरे मूक जीवो को, और कीडो-मकोडो को भी ये कुचल डालेगे। वाणी को भी सयम मे रखो। यदि इसे बे-लगाम होने दिया, तो यह दूसरो के कानो मे शूल हूल देगी और न जाने क्या-क्या अनर्थ पैदा करेगी! इन्द्रियो को भी सयम मे रखो। यदि इन्हे निरकुश हो जाने दिया, तो समझ लो कि जीवन नौका व्यसनो के प्रवाह मे बहकर एक दिन विनाश के भँवर में जा गिरेगी, और मानव-जीवन का अनमोल महत्व धूल मे मिल जायगा।

यह मन, वचन और काय की अहिंसा है। जो साधक अहिंसा का व्रत लेगा—वह मन से भी लेगा, वचन से लेगाभी और शरीर से भी लेगा। तभी वह सच्चा साधक कहलाने

सौम्य होगा। यह नहीं होगा कि अन्दर मन में तो सोच रहा है अहिंसा और मन के बाहर वाणी से संसार में आग लगाने का दुस्साहस करे। यह कैसी अहिंसा जो वाणी तथा काया से तो बाहर में हिंसा करे और ढिंढोरा जग में यह पीटे कि मेरे तो मन में अहिंसा है? अतएव अहिंसा-व्रती साधक के लिए यह परम आवश्यक है कि उसकी अहिंसा—मन वचन और शरीर के रूप में त्रिपथगामिनी होनी चाहिए। तभी वह अहिंसा का सच्चा आराधक माना जायगा।

कहते हैं गंगा त्रिपथगा है—त्रिपथगामिनी है अर्थात् वह तीन राह से होकर बहती है। पौराणिक ग्रंथों में इसे त्रिपथगामिनी कहा गया है। पुराने टीकाकारों ने इसकी बड़ी लम्बी-चौड़ी व्याख्या की है। परन्तु मुझे ऐसा लगता है कि तीर जिस जगह लगना चाहिए था वहाँ नहीं लगा है। वे त्रिपथगामिनी का अर्थ करते हैं कि गंगा की एक धारा पाताल लोक में दूसरी धारा मर्त्यलोक में और तीसरी धारा स्वर्ग लोक में बहती है। यह विश्व तीन लोकों में विभाजित है—पाताल ऊर्ध्व और मध्य। अस्तु, गंगा तीनों लोकों के कल्याण के लिए बहती है। बेचारे पाताल लोक के निवासी यहाँ कैसे आ सकते हैं? तो गंगा की एक धारा पौराणिक टीकाकारों ने उनके लिए वहीं भेज दी। इसी प्रकार ऊर्ध्व लोक वालों पर दया करके गंगा की एक धारा ऊर्ध्वलोक में भी पहुँचा दी गई है। मध्यलोक में तो वह है ही मगर है उसकी तीन धाराओं में से एक ही धारा! इसीलिए उसे त्रिपथगामिनी कहा है।

'त्रिपथगामिनी' विशेषण की यह कैसी लोभनीय कीमा-मेदर की गई है! हमारे पण्डित स्वयं गंगा में लिपट गए, और मन अपनी कल्पना के घोड़े दौड़ा दिए। खैर, जो भी कुछ हो, किन्तु अहिंसा की यह त्रिपथगामिनी गंगा तो वस्तुत तीनों लोकों में बहती है। यह हमारा मानव-जीवन या इन्सानी जिन्दगी तो एक विराट दुनिया है। एक विशाल लोक है। उसके विषय में ऐसा कहा जाता है —

"यत् पिण्डे, तद् ब्रह्माण्डे।
यद् ब्रह्माण्डे, तत् पिण्डे॥"

अर्थात्—जो पिण्ड में है, वही ब्रह्माण्ड में है और जो ब्रह्माण्ड में है, वही पिण्ड में है। जो पिण्ड में मालूम कर लिया गया है, वह ब्रह्माण्ड में मिल जायगा। कृष्ण के जीवन-चरित्र में एक अलंकार आता है —

कृष्ण-चरित्र के लेखक कहते हैं—कृष्ण जब बच्चे थे, तो उन्हें मिट्टी खाने की आदत थी। साधारण बच्चे मिट्टी खा ही लिया करते हैं, पर शुक या सूरदास ने कृष्ण में भी इस आदत की घोषणा कर दी। हाँ, तो कृष्ण मिट्टी खाते थे और माता उन्हें रोकती थी। एक बार कृष्ण ने देखा कि घर में मुझे कोई नही देख रहा है, और झट मिट्टी की डली उठाकर मुँह में डाल ली। अचानक उसी समय यशोदा आ पहुँची और मुँह पकड लिया कि क्या कर रहे हो ?

कृष्ण ने बात को हँसी में उडाते हुए कहा—कुछ नही।

यशोदा ने मुँह खोलने को कहा। कृष्ण ने मुँह खोला तो माता को मुँह मे सारा विश्व दिखलाई दिया। वहाँ चाँद,

सूरज और चमकते हुए तारे दिखाई दिए। वन पर्वत सागर और बड़े-बड़े नगर भी नजर आए। तब यशोदा ने सोचा—यह पुत्र नहीं भगवान् है।

यह तो अलंकार की बात है रूपक अलंकार है। इसका असली मतलब यह है कि नन्हे से बालक के अन्दर भी विश्व की विराट चेतना छिपी पड़ी है। उसकी आत्मा के अन्दर भी अनन्त शक्ति का अनन्त स्रोत बह रहा है। इसी प्रकार एक बूढ़ा जो मौत की शय्या पर पड़ा जीवन की अंतिम घड़ी गिन रहा है उसकी आत्मा में भी अनन्त शक्तियाँ हैं। यद्यपि यह कहानी काल्पनिक है तथापि इसके आधार पर भागवतकार बताना चाहता है कि यदि ब्रह्माण्ड में देखने चलोगे तो वहाँ क्या मिलेगा? जो देखना है वह आत्म ब्रह्माण्ड में देखो। यदि गंगा को देखना हो तो अपने अन्तःस्थल पर देखो यदि चाँद और सूरज देखने हों तो अपने अन्दर ही देखो। अधिक क्या जो भी महान् विभूतियाँ देखनी हों वे सब आत्मा के पुनीत पट पर चित्रित हैं।

हाँ तो गंगा की धारा—अहिंसा-गंगा की धारा है। पुराने टीकाकार भटक गए। वे तीनों लोकों में पानी की धार को तलाश करने लगे। लेकिन अहिंसा-गंगा की धारा तीन मार्गों पर बहती है। यदि स्थूल गंगा में नहा भी लिए, तो शरीर के ऊपर का मैल भले ही साफ हो जाय किन्तु ऐसे गंगा-स्नान से पाप नहीं धुल सकते। यदि पापों को धोना है तो आत्मा में जो अहिंसा की अमृत-गंगा बह रही है उसी में स्नान करना होगा। तभी तुम्हारा कल्याण सुनिश्चित है।

अहिंसा की वह अमृत-धारा तीन रूप मे वह रही है। इस सम्बन्ध मे भगवान् महावीर ने कहा है कि "मनुष्य का यह विराट जीवन—मन का लोक, वचन का लोक और शरीर का लोक है।" इस प्रकार मानव जीवन तीन लोको मे विभक्त है, यही त्रिलोकी है। इसी के अन्दर वसने वाले राक्षस वन रहे हैं, पशु वन रहे है और अहिंसा अमृत को पीने वाले देवता भी वन रहे है, और इस तत्व-ज्ञान का पान करने वाले कोई-कोई भगवान् भी वन रहे हैं। जो व्यक्ति इस त्रिलोकी के अन्दर अहिंसा की गगा नही वहा रहा है, जिसने अहिंसा की ज्ञान-गगा मे स्नान नही किया है और गहरी डुवकियाँ नही लगाई तथा जिसकी आत्मा अहिंसा की धारा में नही वही है—वह वाहर से इन्सानी चोला भले ही पहने हो, किन्तु अपनी अन्दर की दुनिया मे वह हैवान वन रहा है। उसे न तो अपने आपका पता है, न अपने अमूल्य जीवन का ही पता है। वह वासनाओ मे भटक रहा है, फलत कभी कुछ भी अनर्थ करने को तैयार हो जाता है। इस तरह उसकी जिन्दगी ठोकरें खा रही है, वह जगली और हिंसक जानवरो की तरह वन रही है। वह एक प्रकार से राक्षस की जिन्दगी है।"

मानव-जाति के इस विराट जीवन मे न मालूम कितने राम और कितने रावण छिपे पडे हैं। वे कही वाहर से नही आते, वल्कि अन्दर ही पैदा होते हैं। भारतवर्ष के सन्तो ने इस सम्बन्ध मे कहा है कि इस आत्मा को, जो अनादि काल से रावण के रूप मे राक्षस और पशु रहा है, यदि इन्सान बनाना है, देवता बनाना है और भगवान् बनाना है, तो

अहिंसा की जो पवित्र-पावनी ज्ञान-गंगा बह रही है, उसमें स्नान कराओ। सब मैल-पाप दूर हो जायगा। अहिंसा की ज्ञान-गंगा में कूदो। यदि अभिमान आता होगा तो स्वतः नष्ट हो जायगा। मोह लोभ माया आदि जो भी विकार तुम्हें तंग कर रहे हैं, और इनका जो मैल मन एवं मस्तिष्क पर चढ़ गया है वह समूल नष्ट हो जायगा। अन्तर्जीवन में जो अमृत की धारा बह रही है यदि उसमें डुबकी लगाओगे,—स्नान करोगे—तो संसारी आत्मा से महात्मा और महात्मा से परमात्मा बन जाओगे।

मनुष्य के भीतर प्रायः एक ऐसी मिथ्या धारणा काम करती रहती है कि वह समस्या का समाधान अन्दर तलाश नहीं करता बल्कि बाहर खोजता फिरता है। जहाँ जख्म है वहाँ मरहम नहीं लगाता अन्यत्र लगाता है। यदि चोट हाथ में लगी है और दवा पैर में लगाई गई तो क्या असर होगा? यदि सिर दुख रहा है और हाथों में चन्दन लगाया तो क्या सिर का दर्द मिट जाएगा? रोग जहाँ हो वहीं दवा लगानी चाहिए। यदि दाहिने हाथ में कीचड़ लगा है तो बाएँ हाथ पर पानी डालने से वह कैसे साफ होगा?

हाँ तो हमें देखना चाहिए कि काम क्रोध मद लोभ आदि विकारों का मैल कहाँ लगा है? यदि वह मैल कहीं शरीर पर लगा है तब तो किसी तीर्थ में जाकर धो लिया जाय। पर, वहाँ तक भी जाने की क्या जरूरत है? यदि कहीं आस-पास के किसी तालाब या नदी में डुबकी लगा लोगे तो भी वह दूर हो जाएगा। जैन-धर्म दृढ़ता पूर्वक कहता है कि

वह मैल आत्मा पर लगा है। अत दुनिया भर के तीर्थों मे क्यो भटकते हो ? सबसे बडा तीर्थ तो तुम्हारी अपनी आत्मा ही है। क्योकि उसी मे तो अहिंसा और प्रेम की निर्मल धाराएँ बहती हैं। उसी मे डुबकी लगाओ तो पूर्णत शुद्ध हो जाओगे। जहाँ अशुद्धि है, वहाँ की ही तो शुद्धि करनी है। जैन-दर्शन बडा आध्यात्मिक दर्शन है, और वह इतना ऊँचा भी है कि मनुष्य को मनुष्यत्व के अन्दर बन्द करता है। मनुष्य की दृष्टि मनुष्य मे डालता है। अपनी महानता अपने ही अन्दर तलाश करने को कहता है। क्या तुम अपना कल्याण करना चाहते हो ? तुम पूछते हो कि कल्याण तो करना चाहते हैं, पर कहाँ करें ? तो जैन-धर्म का उत्तर साफ है कि—जहाँ तुम हो, वही पर ! बाहर किसी गगा मे, या और किसी नदी या पहाड मे नही। आत्म-कल्याण के लिए, जीवन-शुद्धि के लिए या अपने अन्दर में सोए हुए भगवान् को जगाने के लिए एक इन्च भी इधर-उधर जाने की जरूरत नही है। तू जहाँ है, वही जाग जा ! और आत्मा का कल्याण कर ले।

एक बार एक अजैन विद्वान् ने परिहास में कहा—आपके यहाँ ४५ लाख योजन का मोक्ष माना गया है। कितना बडा विस्तार है ? आप एक ओर तो बडी-बडी दार्शनिक चर्चाएँ करते हैं, और दूसरी ओर मोक्ष को इतना लम्बा-चौडा मानते है कि जिसकी कोई हद नही। क्या यह गप नही हैं ?

मैंने कहा—इतना तो मानना ही है। इतने बडे की जरूरत भी तो है। हमने मोक्ष को इन्सान के लिए माना है, और जहाँ इन्सान है, वहाँ मोक्ष भी है। यदि इन्सान का

कदम भू-मंडल पर ४५ लाख योजन तक है तो ऊपर मोक्ष भी ४५ लाख योजन लम्बा चौड़ा है। मोक्ष तो इन्सान को ही मिलता है। जब इन्सान आत्म-शुद्धि कर लेगा तो सीधा मोक्ष में पहुँच जायगा। उसे एक इञ्च भी इधर-उधर नहीं होना पड़ेगा। अतएव जहाँ हो वहीं बैठ जाओ। जहाँ हो वहीं आत्म-गंगा में डुबकी लगा लो। क्योंकि वहाँ अमृत की धारा बह रही है। जीवन-यात्रा में संयम और साधना की ओर जितना अधिक-से-अधिक अग्रसर होंगे उतने ही मोक्ष के निकट होते जाओगे। मैल धोकर निर्मल होते जाओगे और धुलते धुलते जब मैल का आखिरी कण भी धुल जायगा तो वहीं के वहीं मोक्ष पा लोगे।

यह सुनकर वह विद्वान् हँसे और बोले—मोक्ष-सिद्धि के लिए बड़े गजब का नक्शा खोजा है!

मैंने कहा—यह बनावट नहीं है, सार्वभौमिक सत्य ऐसा ही है।

आप ही कहिए, मोक्ष किसको मिलेगा? क्या ऊँट घोड़े या राक्षस को मिलेगा? नहीं! वह तो केवल मनुष्य को ही मिलेगा। अत जहाँ मनुष्य है वहीं मोक्ष होना चाहिए।

हाँ तो जैन-धर्म अपने आप में इतना विराट है कि वह गंगा को अपने ही अन्दर देखता है कहीं अन्यत्र जाने को नहीं कहता। सब से बड़ी गंगा उसके भीतर बह रही है और वह तीन मार्गों पर बहती है। अर्थात्—वह मन के लोक में वचन के लोक में, और कर्म के लोक में बह रही है। परन्तु उस

गगा में तभी डुबकी लगेगी, जब आप लगाएँगे। यदि हजारों तीर्थों में स्नान कर भी आय, किन्तु अन्दर की गगा में स्नान नहीं किया, तो सब बेकार होगा।

हमारे भारतीय लोक-साहित्य मे एक रूपक कथा प्रचलित है। जब महाभारत का युद्ध खतम हुआ, अठारह 'अक्षौहिणी सेना का सहार हुआ, निस्सकोच नर-सहार हुआ और भाई ने भाई की गर्दन पर तलवार चलाई। तब उस भीषण रक्तपात के बाद युधिष्ठिर के मन में यह शका उत्पन्न हुई कि हमने बहुत पाप किये हैं। इतने पाप कैसे धुलेंगे? उनकी आत्मा मे व्यथा होने लगी। गम्भीरता से सोचने लगे—प्रायश्चित्त के लिए क्या उपाय करूँ, क्या न करूँ? युधिष्ठिर सात्विक मन वाले साधु-पुरुष थे। काम तो कर ही गुजरे, पर पश्चात्ताप उन्हें परेशान करने लगा। तब उन्होंने श्रीकृष्ण से कहा—भगवन्, हमने बहुत पाप किये हैं। उन्हे धो डालने के लिए ६८ तीर्थों मे स्नान करना आवश्यक है। मैं अपने पापो को धोने के लिए तीर्थों मे जाना चाहता हूँ। आपकी क्या राय है?

श्रीकृष्ण ने सोचा—युधिष्ठिर स्थूल बन रहे हैं। मरहम कहाँ लगाना है, और लगाना कहाँ चाहते हैं? मैल कहाँ है, और धोने कहाँ जा रहे हैं? अभी सूक्ष्म दर्शन की बात कहूँगा तो इनके मन की समस्या हल नही होगी और इनका मन कभी नही बदलेगा। जब मन न बदला, तो किसी बोलते को बन्द कर देने का फल भी क्या निकलेगा? किसी को चुप कर देना और बात है, किन्तु मन को बदल देना और बात है।

तो श्रीकृष्ण ने युधिष्ठिर से कहा—पापों को तो धोना ही चाहिए ! जब तुम्हारे जैसे साधु-पुरुष नहीं धोएँगे तो और कौन धोएगा ?

युधिष्ठिर—अच्छा महाराज ! आज्ञा हो जाता हूँ ।

श्रीकृष्ण बोले—ठीक है ! तुम तो जा ही रहे हो परन्तु हम तो काम-काज की दलदल में फँसे हैं । हम कैसे जाएँ ? किन्तु हमारी यह प्यारी तूंबी है इसे ही लेते जाओ । इसे भी स्नान कराते लाना ।

युधिष्ठिर को श्रीकृष्ण की तूंबी स्नान कराने के लिए मिली तो मानो कृष्ण ही मिल गए । बोले—महाराज इसे जरूर स्नान कराऊँगा और सबसे पहले कराऊँगा ।

श्रीकृष्ण ने कहा—देखो भूल मत जाना ।

युधिष्ठिर बोले—महाराज यह तूंबी थोड़ी तूंबी नहीं है यह तो आप ही हैं । अत इसे सब से पहले और सभी तीर्थों में जरूर स्नान कराऊँगा ।

बेचारे युधिष्ठिर सब तीर्थों की यात्रा करने गए और भटक-भटक कर स्नान किया और वापिस भी आ गए । श्रीकृष्ण का दरबार लगा हुआ था । वे सिंहासन पर विराजमान थे । तब सारी सभा के बीच युधिष्ठिर आदि आकर बैठ गए ।

श्रीकृष्ण युधिष्ठिर की ओर दृष्टिपात कर बोले—स्नान कर आए धर्मराज !

युधिष्ठिर—हाँ महाराज ! गंगा यमुना आदि सब तीर्थों में स्नान कर आए ।

श्रीकृष्ण—पाप धो आए ! कहीं लगा तो नहीं रहा ?

युधिष्ठिर—आपकी कृपा से सब पाप धुल गए। जब इसी काम के लिए गया था, फिर बचाकर क्यो लाता ?

श्रीकृष्ण—ठीक ! हमारी तूंबी को भी स्नान कराया या नही ?

युधि०—महाराज ! आपकी तुंबी को कैसे न कराते ? सब तीर्थो मे उसे पहले स्नान कराया, और बाद में हमने किया।

अब श्रीकृष्ण ने अपनी तूंबी को हाथ मे लेकर कहा—हमारी तूंबी ६८ तीर्थों में स्नान करके आई है। अब यह पवित्र हो गई है। तुम सभी सभासद् तीर्थ-स्नान करने नही गए हो, अत इसे पीस कर चूर्ण बनालो, और थोडा-थोडा चूर्ण सभी लोग खा लो। तुम सब भी पवित्र हो जाओगे।

चूर्ण तैयार हो गया और सबको थोडा-थोडा बांट दिया गया। क्योकि कृष्ण महाराज की आज्ञा थी, इसलिए सभी ने थोडा-थोडा चूर्ण अपने मुंह मे डाला। पर, वह तो कडवा जहर था। सब के रग-रूप बदल गए। मुख विपण्ण, नाक-भौह बुरी तरह तनकर रह गए। बहुतो को तो उलटी भी हो गई। कोई-कोई बाहर जाकर थू-थू करके थूक भी आए।

सभा की यह बदली रगत देखकर श्रीकृष्ण ने कहा—यह क्या कर रहे हो ? तूंबी इतनी पवित्र होकर आई है, और तुम इसका अपमान कर रहे हो ? इसे तो बडे प्रेम से और गहरी श्रद्धा से ग्रहण करना चाहिए था !

सब ने कहा—महाराज ! बात तो ठीक है, मगर तूंबी कडवी बहुत है। निगली ही नही जाती।

श्रीकृष्ण बोले—तुम सब झूठ बोलते हो। इसका कड़वापन तो गंगा मैया में ही निकल गया। फिर भी यह कड़वी कैसे रह गई ? क्यों युधिष्ठिर तुमने कहा था कि इसे सब तीर्थों मे स्नान करा दिया है ? फिर यह कड़वी कैसे रह गई ?

इस दृश्य को देखकर युधिष्ठिर सोच-विचार में पड़ गए। मन ही मन कहने लगे—श्रीकृष्ण तो इतने बड़े दार्शनिक और विचारक हैं फिर भी कहते क्या है कि इसका कड़वापन निकल गया होगा ! फिर वह बोले—'महाराज इसको अनेक बार डुबकियाँ लगवाई है। कड़वेपन के लिए तो बात यह है कि वह इसके बाहर नहीं लगा है। वह कड़वापन तो भीतर है और इसकी रग रग में समाया हुआ है। भला वह कैसे दूर हो सकता है ?

श्रीकृष्ण—अच्छा यह बात है ! कड़वापन बाहर नहीं था इसके भीतर था ?

युधि —जी हाँ महाराज ! वह इसके भीतर था और तीर्थ-स्नान का पानी भीतर नहीं जा सकता था। वह बाहर ही बाहर रहा।

श्रीकृष्ण—युधिष्ठिर, अब यह तो बताओ कि तुम्हें पाप भीतर लगा था या बाहर ही बाहर लगा था ? पाप शरीर के बाहर लगता है या आत्मा में लगता है ? और तुमने गंगा में किसको स्नान कराया—शरीर को या आत्मा को ? तू बी का कड़वापन बाहर से स्नान कराने पर नहीं गया क्योंकि वह अन्दर था। इसी प्रकार तुम्हारे कर्मों का तुम्हारी वासनाओं का और तुम्हारी सम्पूर्ण बुराइयों का मैल तो

यह आत्मा नदी है। इसमें संयम का जल भरा है। दया की तरंग उठ रही है। सत्य का प्रवाह बह रहा है। इसके ब्रह्मचर्य रूपी तट बड़े मजबूत हैं। इसी में तुम्हें स्नान करना चाहिए। अहिंसा और सत्य की गंगा मे स्नान करने से ही आत्मा की शुद्धि होती है। शरीर पर पानी डाल लेने से केवल शरीर की सफाई हो सकती है, परन्तु आत्मा कदापि स्वच्छ नही हो सकती।

जो बात यहाँ पर पाण्डुपुत्र के लिए कही गई है, वही समस्त साधको के लिए समान है। इसे हल करना चाहिए। पर हल कहाँ करना चाहते हो? क्या गली के नुक्कड पर

बैठकर हल करता है ? या जंगलों में भटक कर ? नहीं यह हल तो जीवन के अन्दर ही मिल सकता है। शुद्धि की साधना भी अन्दर है और मूल शुद्धि भी अन्दर ही होती है। सब से बड़ा इष्ट देव अन्दर ही बैठा है। दुनिया भर के देवता कहीं पर हों किन्तु सबसे बड़ा आत्म-देव तो अन्दर ही मौजूद है। इसी इष्ट देवता की उपासना में तल्लीन होकर जब तक अन्दर का पाप नहीं धोओगे तब तक बाहर के देवताओं से कुछ भी लाभ प्राप्त नहीं होगा।

हां तो सबसे बड़ी गंगा हमारे ही अन्दर बह रही है। अहिंसा और सत्य की गंगा हमारी नस-नस में प्रवाहित हो रही है। यदि अहिंसा की उस गंगा में स्नान नहीं करोगे तो जीवन की पवित्रता कभी मिलने वाली नहीं। आप जैन-धर्म को देखें बौद्ध-धर्म का देखें वैदिक धर्म को देखें या ससार के किसी और धर्म को देखें देश काल और परिस्थितियों के प्रभाव से कुछ मतभेदमियां मिल सकती हैं किन्तु अहिंसा की आवाज सभी धर्मों में एक-सी सुनाई देगी। सब का स्वर एक ही निकलेगा—अहिंसा से ही कल्याण हो सकेगा। इस सम्बन्ध में हमारे यहां कहा है —

अवलानदी-महावीरे सर्वे धर्मास्तृणांकुरा।

जब नदी बहती है तब तो किनारों पर, आसपास हरियाली छा जाती है और जब वह नदी सूख जाती है तो आसपास की हरियाली भी सूख जाती है। इसी प्रकार हमारे मन वचन और शरीर में से भी यदि अहिंसा की धारा बह रही है—तो सत्य भी फला-फूला रहेगा अस्तेय

भी, ब्रह्मचय्य भी, श्रावकपन और साधुपन भी हरा-भरा रहेगा। यदि अहिमा की नदी सूख गई और उसका प्रवाह बन्द हो गया तो—सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य्य और अपरिग्रह आदि सभी धम सूख जाएँगे। न श्रावकपन रहेगा, न साधुपन बचेगा। यदि इन सब धर्मों को हरा-भरा और जीवन को सुन्दर एव सौरभमय देखना है, तो अहिसा की त्रिपथगामिनी दिव्य गगा को मन, वचन एव कम के पथ पर अविश्रान्त गति से बहन दो।

३०-८-५०

— २ —

अहिंसा की कसौटी

चाहे जैन धर्म हो चाहे और कोई धर्म हो। यदि गहराई के साथ उसका अध्ययन, मनन और चिन्तन किया जाए तो एक बात स्पष्ट विदित हो जायगी कि—प्रत्येक धर्म का प्राण या हृदय अहिंसा ही है।

हमारा शरीर कितना ही बलवान क्यों न हो, मजबूत क्यों न हो और लम्बा चौड़ा भी क्यों न हो। जब तक उसमें हृदय अपना काम करता रहता है, अर्थात् हृदय धक-धक करता रहता है तभी तक यह शरीर चलता है और इसका एक-एक अंग हरकत करता है। तभी तक हमारा शरीर क्रियाशील है और उस पर हमारा अधिकार रहता है। किन्तु ज्यों ही हृदय की गति में जरा भी गड़बड़ हुई हृदय का स्पन्दन जरा-सी देर के लिए भी रुका कि यह भारी भरकम शरीर सहसा बेकार हो जाता है। चलता फिरता सड़क पर ही लुढ़क जाता है।

यद्यपि हृदय, शरीर मे छोटी-सी जगह रखता है, फिर भी सारे शरीर का उत्तरदायित्व, सम्पूर्ण-प्राणशक्ति, उसी मे केन्द्रित है। यदि हृदय धक-धक करता रहेगा और रक्त को ठीक-ठीक फेंकता रहेगा, तो प्राणो की झकार रहेगी, शरीर चैतन्य रहेगा। यदि हृदय गुम हो जाय, उसकी हरकत बन्द हो जाय, वह काम करना छोड दे—तो क्या फिर शरीर स्थिर रह सकेगा? कदापि नही, क्रियाशील शरीर के स्थान पर निष्क्रिय लाश-मात्र रह जायगी। शरीर तभी तक रहता है जब तक आत्मा उसमे स्थिर है। आत्मा के निकल जाने के बाद शरीर, शरीर नही रहता।

आगमो की परिभाषा मे भी वह शरीर नही कहलाता। आगमकार एक-एक इच नाप कर चलते हैं और जिनके पद-चिन्हो को देखकर आज हम चलते हैं, वे यही कहते है कि जब तक शरीर मे आत्मा है, तभी तक शरीर, शरीर है। जब आत्मा निकल जाती है, तो वह मिट्टी का ढेर है। भूत-काल के दृष्टिकोण से भले ही स्थूल भाषा मे उसे शरीर कहते रहे। हाँ, तो जो बात इस शरीर के सम्बन्ध मे हम देखते हैं और सोचते हैं, वही धर्म के सम्बन्ध मे भी है। कोई धर्म कितना ही ऊँचा क्यो न हो, उसका क्रियाकाण्ड कितना ही उग्र और घोर क्यो न हो, उसकी तपस्या कितनी ही तीव्र क्यो न हो, और ऐसा भी क्यो न जान पडता हो कि दुनिया की समस्त साधनाओ का गहन बोझ उस धर्म या व्यक्ति ने अपने ऊपर लाद लिया है, किन्तु जब तक उसमे अहिंसा की भावना विद्यमान रहेगी, जीवो के प्रति दया का झरना बहता रहेगा,

पीढ़ियों के लिए सर्वदा सम्मिलित रहेगी तभी तक वह धर्म वह क्रियाकाण्ड वह तप और वह परोपकार धर्म की कोटि में गिना जायगा। तभी तक सत्य भी धर्म है, नवकारसी से लेकर छः महीने तक की तपस्या आदि क्रियाकाण्ड भी धर्म है। यदि उनमें से अहिंसा निकल जाय तो फिर वह धर्म नहीं रहेगा धर्म का निर्जीव शवमात्र रहेगा अथवा वहाँ एक प्रकार से अधर्म ही होगा। अहिंसा मूल में रहनी चाहिए, फिर चाहे वह थोड़ी हो या ज्यादा न्यूनाधिक की बात नहीं नहीं है। यहाँ तो यह बात है कि अहिंसा का अंश भी अंग न रहे तो फिर वहाँ धर्म नहीं रह सकता।

हमारा जीवन धर्ममय और विराट तब ही बनता है जब अहिंसा की भावनाएँ उसमें लहराती हों दूसरों पर अन्तःकरण में करुणा का अमृत वर्षा होती हो और अपने जीवन के साथ दूसरों के जीवन को भी देखकर चला जाता हो। जिस प्रकार मुझे जीने का हक है उसी प्रकार दूसरों को भी जीने का हक है। जहाँ 'जीओ और जीने दो' यह महा-मंत्र जीवन के कण-कण में घुल गया हो हृदय में प्रेम रखते हुए चलता हो तो समझ लो कि वहाँ सच्ची अहिंसा है। जहाँ यह अहिंसा रहेगी वहीं पर धर्म रहेगा। इस अहिंसा के अभाव में धर्म टिक नहीं सकता। इसी महातत्त्व की ओर संकेत करते हुए भगवान् महावीर ने प्रश्नव्याकरणसूत्र के संवरद्वार में जहाँ अहिंसा का वर्णन किया है उसे 'भगवती' कहा है।१

१ एसा सा भगवती अहिंसा जा सा भीयाण विव सरणं।

यद्यपि हृदय, शरीर मे छोटी-सी जगह रखता है, फिर भी सारे शरीर का उत्तरदायित्व, सम्पूर्ण-प्राणशक्ति, उसी मे केन्द्रित है। यदि हृदय धक-धक करता रहेगा और रक्त को ठीक-ठीक फेंकता रहेगा, तो प्राणो की झकार रहेगी, शरीर चैतन्य रहेगा। यदि हृदय गुम हो जाय, उसकी हरकत बन्द हो जाय, वह काम करना छोड दे—तो क्या फिर शरीर स्थिर रह सकेगा? कदापि नही, क्रियाशील शरीर के स्थान पर निष्क्रिय लाश-मात्र रह जायगी। शरीर तभी तक रहता है जब तक आत्मा उसमे स्थिर है। आत्मा के निकल जाने के बाद शरीर, शरीर नही रहता।

आगामो की परिभाषा मे भी वह शरीर नही कहलाता। आगमकार एक-एक इच नाप कर चलते है और जिनके पद-चिन्हो को देखकर आज हम चलते है, वे यही कहते है कि जब तक शरीर मे आत्मा है, तभी तक शरीर, शरीर है। जब आत्मा निकल जाती है, तो वह मिट्टी का ढेर है। भूत-काल के दृष्टिकोण से भले ही स्थूल भाषा मे उसे शरीर कहते रहे। हां, तो जो बात इस शरीर के सम्बन्ध मे हम देखते है और सोचते है, वही धर्म के सम्बन्ध मे भी है। कोई धर्म कितना ही ऊँचा क्यो न हो, उसका क्रियाकाण्ड कितना ही उग्र और घोर क्यो न हो, उसकी तपस्या कितनी ही तीव्र क्यो न हो, और ऐसा भी क्यो न जान पडता हो कि दुनिया की समस्त साधनाओ का गहन बोझ उस धर्म या व्यक्ति ने अपने ऊपर लाद लिया है, किन्तु जब तक उसमे अहिंसा की भावना विद्यमान रहेगी, जीवो के प्रति दया का झरना बहता रहेगा,

अहिंसा नहीं पाल सके और हिंसा का पूरा पर्दा नहीं उतार सके तो भी जितना बन सके उतना ही उतारो।

अहिंसा भगवती की पूजा के लिए कहीं भी भटकने की आवश्यकता नहीं। किसी खास समय की जरूरत नहीं। दुकान में बैठे हो तब भी उसकी पूजा करो घर में भी उसी को सामने रखो। आँखों से जरा-सी देर के लिए भी ओझल न होने दो। जीवन के प्रत्येक क्षण में और प्रत्येक व्यापार में अहिंसा की प्रतिष्ठा करो। अपनी मनोवृत्तियों को अपने कर्मों को अहिंसा की तराजू पर ही तोलो। अहिंसा के प्रति गहरी और आग्रह-भरी भावना चित्त में उत्पन्न करो। इस प्रकार हर जगह और हर समय उसकी पूजा होनी चाहिए। आचार्य समन्तभद्र जो जैन-जगत् में एक बहुत बड़े दार्शनिक हो चुके हैं और जिनकी विचारधाराएं गम्भीर रूप में हमारे सामने आज भी मौजूद हैं वे जब भी बोले आत्मा की झाँकी खोलकर बोले। अहिंसा के सम्बन्ध में उनका एक बड़ा ही हृदय-स्पर्शी बोल है —

अहिंसा भूतानां जगति विदितं ब्रह्म परमम्।

—बृहत्स्वयम्भू स्तोत्र

वह परमब्रह्म परमेश्वर, परमात्मा कौन है? कहाँ है? और किस रूप में है? इस प्रश्नावली के उत्तर में आचार्य कहते हैं—*इस संसार के प्राणियों के लिए, साधारण प्राणियों* के लिए, और जो भी विशिष्ट साधक हैं उनके लिए भी साक्षात् परमब्रह्म तो अहिंसा है। यदि उसकी उपासना नहीं कर सके सेवा नहीं कर सके तो जिस भगवान् की उपासना या सेवा करने

अहिंसा को भगवती का जो रूपक दिया गया है वह अर्थहीन नहीं है। अहिंसा वस्तुत भगवत्स्वरूप है, पूज्य है। जितनी श्रद्धा तुम भगवान् के प्रति करते हो, जितना प्रेम और जितना स्नेह तुम्हारा भगवान् के प्रति होता है, उतना ही स्नेह और श्रद्धा साधक के मन मे अहिंसा के प्रति भी होनी चाहिए है। अहिंसा हमारे लिए पूजा की चीज है और श्रद्धा का केन्द्र है।

अब प्रश्न उठता है कि भगवान् के दर्शन कब होगे ? उत्तर सीधा है—जब अहिंसा के दर्शन कर लोगे, तभी भगवान् के दर्शन होगे। अहिंसा के दर्शन किये नही, अहिंसा की झाकी देखी नही, अपितु आप उसे ठुकराते चले, उसकी ओर से पीठ मोडकर चले, तो भगवान् के दर्शन कैसे होगे !

सबसे बडे भगवान् तो अन्दर बैठे है और उनके ऊपर विकार-वासनाओ का पर्दा पडा है। आत्म-देव, जो सबसे बडे भगवान् है, अन्दर ही तो बैठे है, इसी शरीर के अन्दर तो विराजमान हैं ! किन्तु दुर्भाग्य से, अनादि काल से हिंसा का पर्दा पडा हुआ है, काला लबादा पहिन रखा है और वह पर्दा नख से शिख तक पडा हुआ है। फिर आत्म-देव के दर्शन हो तो कैसे हो ? यदि उस आत्म-देव के दर्शन करना है तो हिंसा के काले पर्दे को उतारना होगा। जितने अशो में वह कम होता जायगा, उतने ही अशो में आत्मा के दर्शन होते जाएँगे और उतने ही अशो मे फिर भगवान् का भी साक्षात्कार होता चला जायगा। श्रावक बने हो, किन्तु श्रावक के रूप मे पूरी

फिर भी अहिंसा की विराट झांकी हमारे सामने आई है और वह इतनी बड़ी झांकी है कि सम्भव है दूसरों के सामने न आई हो। साथ ही वह झांकी इतनी विशाल और विस्तृत है कि उसका नेत्रों से ओझल होना असम्भव है अतः अहिंसा हमारे लिए बड़ी से बड़ी अलौकिक विभूति है। हम जब पढ़ते हैं और शास्त्रों की बात करते हैं तो जान पड़ता है कि बड़ी बारीकी से घूमकर धस गए। मगर जिन्होंने उसे पहिचाना है और कहा भी है वे बतलाते हैं कि यह तो अनन्तवां भाग ही कहा गया है? महा समुद्र में से केवल एक ही बूंद बाहर फेंकी गई है? वह अनन्तवां भाग और एक बूंद जो भी शास्त्रों में आई है बड़े विस्तार में है। वह पूरा पढ़ा भी नहीं गया और समझा भी नहीं गया किन्तु जो कुछ भी थोड़ा-सा पढ़ा और समझा गया है वह भी आपको पूर्णतः समझाया नहीं जा सकता। फिर भी जो कुछ समझाया जा रहा है वह भी बहुत बड़ी बात है और उसे आपको ध्यान से समझना है।

उस विराट अहिंसा का दिव्य स्वरूप आपको समझना है और यह भी तय करना है कि आपको मानव बनना है या दानव? जब मनुष्य के सामने मानवता और दानवता में से किसी एक को चुन लेने का सवाल उपस्थित होता है तो उसी क्षण अहिंसा सामने आकर खड़ी हो जाती है। परन्तु अनन्त-अनन्त काल से यह संकल्प हमारे मन में उत्पन्न नहीं हुआ। अनादि काल से प्राणी मानवता के सत्-मार्ग को छोड़कर दानवता के कुपथ पर भटक रहा है और कहीं-कहीं

के लिए जो तुम चले हो, वह अविवेक हो सकता है, भ्रान्ति हो सकती है किन्तु सच्ची उपासना एव सेवा कदापि नही हो सकती।

अहिंसा को जब भगवान् कहा है तो वह अपने आप में स्वत अनन्त हो गई, क्योंकि जो भगवान् होता है वह अनन्त होता है। जिसका अन्त आ गया, वह भगवान् कैसा? जिसकी सीमा बँध गई हो, वह और कुछ भले ही हो, किन्तु भगवान् कदापि नही हो सकता। आत्मा मे अनन्त गुण हैं। भगवान् होने के लिए उनम मे प्रत्येक गुण को भी अपने असली रूप मे अनन्त होना चाहिए। आत्मा मे एक विशेष गुण ज्ञान है। जब यह ज्ञान गुण अनन्त और असीम बन जाता है, तभी भगवान् बना जा सकता है। इसी प्रकार जब चरित्र मे अनन्तता आ जाती है, दर्शन गुण, वीर्य और दूसरे प्रत्येक गुण जब अनन्त बन जाते है, तब साधक को भगवत्स्वरूप की प्राप्ति होती है। अहिंसा जब भगवान् है, परम ब्रह्म है तो अनन्त है, और जब अनन्त है तो उसकी पूरी व्याख्या हम जैसे साधारण जीव न तो जान सकते है और न कह ही सकते हैं। केवलज्ञानी भी अहिंसा के पूर्ण रूप को जानते तो हैं, किन्तु वाणी के द्वारा पूर्णत व्यक्त वे भी नही कर सकते। इस भू-मण्डल पर अनन्त-अनन्त तीर्थंकर अवतरित हो चुके हैं किन्तु अहिंसा का परिपूर्ण रूप जानते हुए भी किसी के द्वारा वर्णन नही किया जा सका, तो फिर मुझ जैसे को तो कहना आ ही कहाँ सकता है? हम तो अहिंसा को अच्छी तरह पहिचान भी नही पाए हैं, उसके अनन्त रूप की झाँकी देख भी कहाँ पाए हैं?

सकता। इस मिट्टी के ढेर को अनन्त अनन्त बार ग्रहण किया और छोड़ दिया। इस प्रकार के ग्रहण करने और छोड़ देने से मानवता नहीं आती। जब मन में अहिंसा की ज्योति जाग्रत होगी प्रेम का स्रोत प्रवाहित होगा, अपने ही समान दूसरों की जिन्दगी को समझने की दिव्य चेतना जागेगी, अखिल विश्व में इन्सानियत का पवित्र भाव भरेगा—तभी सच्चे अर्थों में इन्सानियत आयगी और जितना-जितना अहिंसा का विराट रूप निखरता आता जायगा जीवन में उतरता जायगा—उतनी ही तेरे भीतर भगवत् चेतना जागेगी तभी यह दुष्कर्म और पाप जो तुझे सब ओर से घेरे खड़े हैं तुरन्त भाग खड़े होंगे। अरे मानव जब भी कभी तुझे कठिनाई अनुभव हो कि मैं क्या करूं तब भगवान् महावीर की अहिंसा की यह व्याख्या तुझे सीधा रास्ता दिखलाएगी —

> सव्वभूय प्पभूयस्स सम्मं भूयाइ पासओ।
> पिहियासवस्स दन्तस्स पावकम्मं न बन्धइ॥
>
> —दशवैकालिक सूत्र ४ ६

"संसार भर के प्राणियों को अपनी आत्मा के समान समझ! यही अहिंसा की व्याख्या है यही अहिंसा का भाष्य और महाभाष्य है और यही अहिंसा की महान् कसौटी है। जिस दिन और जिस घड़ी तू अपने आप में जो जीने का अधिकार लेकर बैठा है वही जीने का अधिकार सहज भाव से दूसरों के लिए भी देगा तेरे अन्दर दूसरों के जीवन की परवाह करने की मानवता जागेगी दूसरों की जिन्दगी को

तो दानवता के आवेश मे इतनी वीभत्स हिंसा भी कर चुका है कि ज़मीन को निरीह प्राणियो के खून से तर कर दिया। फिर भी उसे इस सकल्प की याद नही आई कि—मैं मानव बनू या दानव ? इस गति से यह जीव एक दिन उस अवस्था मे भी पड गया कि वाहर से जरा भी हिंसा नही की, उस एकेन्द्रिय और निगोद दशा मे कि जहाँ अपना रक्षण करना भी उसके लिए मुश्किल हो गया। वहाँ तो यह सकल्प आता ही कैसे कि मुझे मानव वनना है या दानव , राक्षस बनना है या इन्सान।

ससार चक्र मे भटकता हुआ यह प्राणी किस गति और किस स्थिति मे नही रहा है ? इस असीम ससार मे जितनी भी गतियाँ, स्थितियाँ तथा योनियाँ हैं, उन सव मे एक-एक वार नही, अनन्त-अनन्त बार यह गया और आज भी जा रहा है।❀ किन्तु किसी भी स्थिति मे यह सकल्प नही जगा कि मुझे वनना क्या है—मानव या दानव ? जिस दिन आत्मा के सामने यह प्रश्न खडा होता है कि मुझे क्या वनना है, उसी समय अहिंसा सामने आती है और कहती है—यदि तुझे इन्सान वनना है तो मुझे स्वीकार कर, मेरा अनुसरण कर, मेरे चरणो की पूजा कर, और मेरे चरणो पर अपना जीवन उत्सर्ग कर।

अपनी जिन्दगी को यदि इन्सानियत के आदर्श साँचे मे ढालना है और मानवता के महान् स्वरूप को प्राप्त करना है तो समझ लो कि अहिंसा के बिना प्राणी, मानव नही वन

❀ देखिये, भगवती सूत्र १२, ७ ४५७।

सकता। इस मिट्टी के डर को अनन्त अनन्त बार ग्रहण किया और छोड़ दिया। इस प्रकार के ग्रहण करने और छोड़ देने से मानवता नहीं आती। जब मन मे अहिंसा की ज्योति जाग्रत होगी प्रेम का स्रोत प्रवाहित होगा अपने ही समान दूसरों की जिन्दगी को समझने की विश्व चेतना जागेगी अखिल विश्व में इन्सानियत का पवित्र भाव भरेगा—तभी सच्चे अर्थों मे इन्सानियत आयगी और जितना-जितना अहिंसा का विराट रूप निकट आता जायगा जीवन में उतरता जायगा—उतनी ही तेरे भीतर भगवत् चेतना जागेगी तभी यह दुष्कर्म और पाप जो तुझे सब ओर से घेरे खड़े है तुरन्त भाग खड़े होगे। अरे मानव जब भी कभी तुझे कठिनाई अनुभव हो कि मैं क्या करू तब भगवान् महावीर की अहिंसा की यह व्याख्या तुझे सीधा रास्ता दिखलाएगी —

> सव्वभूय प्पभूयस्स सम्म भूयाइ पासओ।
> पिहियासवस्स दंतस्स पावकम्म न बधइ॥
>
> —दशवैकालिक सूत्र ४ ६

"संसार भर के प्राणियो को अपनी आत्मा के समान समझो। यही अहिंसा की व्याख्या है यही अहिंसा का भाष्य और महाभाष्य है और यही अहिंसा की महान् कसौटी है। जिस दिन और जिस घड़ी तू अपने आप मे जो जीने का अधिकार लेकर बैठा है वही जीने का अधिकार सहज भाव से दूसरों के लिए भी लगा तेरे अन्दर दूसरों के जीवन की परवाह करने की मानवता जागेगी दूसरों की जिन्दगी को

अपनी जिन्दगी के समान देखेगा और संसार के सब प्राणी तेरी भावना में, तेरी अपनी आत्मा के समान बनने लगेंगे और सारे संसार को समभाव से देखने लगेगा—ज्ञान और विवेक की दिव्य दृष्टि से देखेगा कि यह सब प्राणी मेरे ही समान है, मुझ मे और उनमे कोई मौलिक अन्तर नहीं है, जो चीज मुझे प्रिय है, वही दूसरो को भी प्रिय होगी। बस, तभी समझना कि मेरे अन्दर अहिंसा है।

जब तक तेरा यह हाल है कि—'मेरे लगी सो तो दिल में, और दूसरो के लगी सो दीवार में। यानी चोट लगने पर जैसा दर्द मुझे होता है वैसा दूसरो को नही होता, तब तक अहिंसा नहीं आ सकती। निश्चय समझ ले कि जब तेरे मन को, तेरी भावना को चोट लगती है और तब तू दर्द से घबराने लगता है तो दूसरो को भी वैसी ही पीडा होती है। इस प्रकार दूसरो के दर्द की अनुभूति जब तेरे हृदय मे अपने दर्द की तरह होने लगे तो समझ लेना कि अहिंसा भगवती तेरे भीतर आ विराजी है। इस सम्बन्ध मे भगवान् महावीर ने कहा है —

सव्वे जीवा वि इच्छति, जीविउ न मरिज्जिउ ।
तम्हा पाणिवह घोर, निग्गथा वज्जयति ण ॥
—दशवैकालिक ६, ११

एक वार भगवान् से एक शिष्य ने पूछा, "प्रभो! आपने हिंसा क्यो छोड़ी और अहिंसा के पथ पर क्यो आए? भते! "अनेक कष्ट और पीडाएँ सहन करते हुए भी इस दुर्गम मार्ग पर ही क्यो चल रहे हैं?"

तब भगवान् ने सीधा-सादा और सहज ही समझ में आ जाने वाला किन्तु प्रभावशाली उत्तर दिया— 'आयुष्मन् ! सब जीव जीना चाहते हैं ! कोई मरना नहीं चाहता। सभी को अपने जीवन के प्रति आदर और आकांक्षा है। सभी अपने सुख-सुविधा के लिए सतत प्रयत्नशील हैं अपने अस्तित्व के लिए संघर्ष कर रहे हैं और अपनी सत्ता के लिए जूझ रहे हैं। अतः जैसा तू है वैसे ही सब हैं। इसीलिए मैंने प्राणिवध अर्थात् हिंसा का त्याग किया है और दूसरों को सताना छोड़ा है। यदि स्वयं को सताया जाना पसंद होता तो दूसरों को सताना न छोड़ते। यदि स्वयं को मारा जाना पसंद होता तो मारना न छोड़ते। परन्तु सभी प्राणियों के जीवन की एक ही धारा है।

उपर्युक्त कथन की परिपुष्टि में श्रीआचारांगसूत्र में यही कहा गया है —

> सव्वे पाणा पियाउया सुहसाया दुक्खपडिकूला अप्पियवहा
> पियजीविणो जीविउकामा। सव्वेसिं जीवियं पियं।
> १ २ ६३-६४।

अर्थात्—सब जीव सुख के लिए तरसते हैं और दुःख से घबराते हैं।

इस प्रकार अहिंसा की सच्ची कसौटी अपनी ही आत्मा है। एक सज्जन बस बात कर रहे थे। वह कह रहे थे कि धर्म और अधर्म पुण्य और पाप निश्चित नहीं हैं। एक जिसे धर्म समझते हैं दूसरा उसे अधर्म समझता है। एक जिसे पुण्य कहता है, दूसरा उसे पाप मानता है। क्या परीक्षा है ? जिस

कसौटी पर उन्हे परखे, और उसके अनुसार आचरण करे ?

मैने उनसे कहा—यह कसौटी वेदो मे, पुराणो या आगमो मे नही मिलेगी। यह कसौटी तो भगवान् ने तुम्हारी आत्मा को ही प्रदान कर दी है। उसी कसौटी पर जाँचो। यदि तुम्हे कोई मारे, गाली दे या तुम्हारा धन छीने तो तुम्हारी क्या हालत होगी ? और यदि कोई गुडा तुम्हारी बहिन, बेटी या माता की इज्जत बर्बाद करे तो उस समय तुम्हारी क्या भावनाएँ होगी ? उस समय पूछो केवल अपनी आत्मा से कि यह धर्म हो रहा है या अधर्म हो रहा है ? यह पुण्य है या पाप है ?

इस परीक्षण के लिए यदि हजारो पोथे सिर पर लादे-लादे भी फिरो, तो भी कुछ नही होगा। अहिंसा की सच्ची परीक्षा और कसौटी पोथियो को रगडने मे या उनके पन्ने पलटने मे नही तैयार होगी। उसके लिए यदि आत्म-मन्थन करोगे और विचार करोगे तो पता चलेगा। जब तक तुम्हारे ऊपर नही बीती, तभी तक यह बात हो रही है, और जब तक आपत्तियाँ नही आई तभी तक तर्क-वितर्क हो रहे है। जिस दिन और जिस क्षण भी दृढ सकल्प के द्वारा तुम आत्म-चिन्तन मे लीन हो जाओगे, और आत्मानुभूति के अनुसार अपने जीवन-व्यापार को चलाओगे, उसी समय तुम अहिंसा के धर्मत्व को अनुभव करोगे।

मैने उनसे पूछा—एक गुडा है और वह हिन्दू स्त्री के अपहरण मे ही धर्म समझता है। दूसरी ओर एक हिन्दू किसी मुस्लिम स्त्री का अपहरण करने मे ही धर्म मानता है।

तो क्या इन दोनों के लिए वैसा करना धर्म हो गया! अगर तुम्हारे ऊपर भी यही बात गुजरे तो तुम्हारी आत्मा उसे धर्म कहेगी या अधर्म? तुम उस कृत्य को पुण्य समझोगे या पाप?

एक वेदान्ती कहता है—सारा संसार मिथ्या है स्वप्न है असत्य है। किन्तु जब वही वेदान्ती चार-पाँच दिन का भूखा हो और उसके सामने मिठाइयों का भरा थाल आ जाय और खाने का इशारा किया जाय तो क्या वह उस वक्त भी कह सकेगा कि यह तो मिथ्या है असत्य है भ्रम है? यदि उस समय भी ऐसा कह दे तो उसी वक्त खबर पड़ जाए। अतः जब जीवन को परखने का प्रश्न आता है और सचाइयाँ सामने आती हैं तभी वास्तविकता का सही-सही पता चलता है। एक हिन्दी साहित्यकार ने कहा है —

जाके पैर न फटी बिवाई
सो का जानै पीर पराई?

अर्थात्—जिसने कष्ट न पाया हो जिसने पीड़ाएँ न देखी हों फकत जो मारना ही जानता हो सताना ही जानता हो और दूसरों के हृदय में भाले भोंकना जानता हो और जो भोग-विलास की गहरी नींद में सो रहा हो—आत्मस्वरूप को नहीं देख सका हो उसे भला कैसे मालूम होगा कि 'अहिंसा' क्या होती है? जब मनुष्य दुःख की आग में पड़ता है तभी जानता है कि यहाँ धर्म है अधर्म है पुण्य है या पाप है! जीवन का देवता किसी विशेष प्रसंग पर जब बोलता है तो पूरी तरह पुकार कर कहता है कि यह धर्म है, यह अधर्म है!

१

कल्पना करो—तुम जंगल मे जा रहे हो और लाखों के हीरे जवाहिरात भी लिये जा रहे हो। यदि उस समय लपलपाती हुई नगी तलवार लेकर कोई तुम्हारे सामने आकर खडा हो जाता है और कहता है—'सब दे दे, जो हो तेरे पास, और मौत के घाट उतरने के लिए तैयार हो जा।' तब तुम क्या कहोगे ? यही कि ये सब चीजे ले लो किन्तु प्राण रहने दो। लेकिन जब वह कहता है—'नही, मै तो धन और तन दोनो लूँगा। यह तो मेरा धर्म है। तू जीता कैसे निकल जायगा ?' और वह मारने के लिए तैयार होता है। तब तुम उसके सामने गिडगिडाते हो, पैरो पडते हो और हजार-हजार मिन्नते करते हो, और फिर कहते हो—जो लेना हो ले लो, पर मेरे ऊपर करुणा करो। वह मृत्यु की घडी आपसे कहलवाती है कि मुझे छोड दो। परन्तु वह कहता है, छोडूँ कैसे ? मारना तो मेरा धर्म है, कर्त्तव्य है। यही तो मेरे धर्म, गुरु और देवता ने मुझे सिखाया है।

ऐसी विकट परिस्थिति मे प्रकट रूप मे कहने का साहस, सभव है आपको न हो, तो भी मन ही मन यही कहोगे—"धूल पडे ऐसे धर्म, गुरु और देवता पर कि जिसने ऐसा निर्मम पाठ सिखलाया है ! सच्चे धर्म, गुरु और देवता तो दुर्बल की रक्षा करना बताते है। जो किसी निरपराध दीन-हीन की हत्या करने की शिक्षा देता है—वह धर्म नही, अधर्म है, गुरु नही, कुगुरु है, देवता नही, राक्षस है। भला किसी राह चलते आदमी का गला काट लेना भी कोई धर्म है ?"

कल्पना करो—इतने में ही दूसरा आदमी आ पहुँचता है

और कहता है— क्या कर रहे हो ? तुम इसे नहीं मार सकते। जब कि वह पहला कहता है कि मारना मेरा धर्म है। तब यह दूसरा कहता है— बचाना मेरा धर्म है। मेरे देवता गुरु और धर्म ने मुझे रक्षा का पाठ सिखाया है कि मरते जीव को अपना जीवन देकर भी बचाओ। और वह कहता है—'मैं हर्गिज नहीं मारने दूंगा। तेरा मारने का धर्म झूठा है और मेरा बचाने का धर्म सच्चा है।

'मारने' और 'बचाने' के इस संघर्ष में धर्म की कसौटी ढूंढने कहां जाएं ? मारा जाने वाला बीच में खड़ा है। उसी से पूछ लो कि 'मारना' धर्म है या 'बचाना' धर्म है ? हिंसा में धर्म है या अहिंसा में ? तलवार चलाने वाला कहता है कि हिंसा में धर्म है और तलवार पकड़ने वाला कहता है कि अहिंसा में धर्म है। तो जिस पर तलवार पड़ रही है उसी से पूछ लो। जिस पर गुजर रही है उसी से पूछो। जिस पर तलवार का झटका पड़ने वाला है उसी से पूछ कर देखो कि हिंसा में धर्म है या अहिंसा मे ? यही सबसे बढ़कर आत्मा की कसौटी है। इस सम्बन्ध मे एक सन्त के विचार सुनिये—

श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चैवावधार्यताम्।
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत् ॥

धर्म के गूढ़ रहस्य को सुनो और विश्व में जितने भी मत-मतान्तर हैं, सब की बातें सुनो। कहीं इधर-उधर जाने आने से और सुनने-सुनाने से धर्म भागता नहीं है। अपने धर्म के साथ-साथ दूसरों के धर्म को भी मालूम करो। फिर देखो कि सब धर्मों का निचोड़ एक ही है अर्थात्, अपनी आत्मा के

प्रतिकूल जो बाते मालूम होती हो और जिन बातो से तुम्हारे मन मे पीडा उत्पन्न होती हो, जैसे—गाली देना, अपमान करना, नुकसान पहुँचाना, कष्ट पहुँचाना आदि, वे तुम दूसरो के लिए भी कभी न करो। यही सबसे बडा धर्म है और सबसे बडी अहिंसा है। जो व्यक्ति के अहम्' भाव को अन्दर से निकाल कर प्राणीमात्र में बिखेर देता है, व्यक्ति के भीतर सीमित स्नेह की सकीर्ण वृत्ति को विशालता और विपुलता प्रदान करता हुआ चलता है और अन्त मे जगत् के कोने-कोने मे उसे फैला देता है, वही सच्चा धर्म है।

आज की सबसे बडी समस्या क्या है ? आज ससार क्यो चक्कर मे पडा है ? नित्य नये-नये सघर्षो का जन्म क्यो हो रहा है ? वर्गगत सघर्ष क्यो दैत्य की तरह भयानक होकर परेशान और भयभीत कर रहे है ? इन सबके मूल मे केवल एक ही कारण है, और वह यह है कि हमारे अन्दर आज धर्म सजीव रूप मे नही रह गया है। मनुष्य अपनी वासना के लिए, खाने-पीने के लिए, भोग-विलास के लिए दूसरो को बर्बाद कर रहा है, नेस्तनाबूद कर रहा है। 'क्षुद्र स्वार्थों की पूर्ति के लिए चाहे भले ही दूसरो के हित कुचल दिये जायँ, चाहे दूसरो का जीवन नष्ट हो जाए, किन्तु अपना घर भर जाना चाहिए और अपनी जिन्दगी को पूरा आराम मिल जाना चाहिए।' इस प्रकार की भावना से मनुष्य अपने अन्दर बन्द हो गया है, फलत उसे नही मालूम कि दूसरो पर कैसी गुजर रही है। तो ऐसा सकुचित प्रेम अपने अन्दर जागता हुआ भी प्रेम नही, अपितु स्वार्थ है, मोह है और अज्ञान है। वह

धर्म नहीं है। इसी की बदौलत प्राज संसार की यह दुर्दशा है। वही प्रेम जब दूसरों के संकट में सहायक होगा करुणा की धारा में बहेगा और समष्टि के रूप में फैलता जायगा तो अहिंसा के विराट साँचे में भी ढलता जाएगा।

जो आदमी अपने अन्दर बंद हो गया है, स्थिर स्वार्थों मे घिर गया है और जिसे अपनी ही जरूरतें और चीजें महत्वपूर्ण मालूम होती हैं वह उनकी पूर्ति के लिए दूसरों के जीवन की उपेक्षा करता है और ऐसी उपेक्षा करता है जैसी एक नशेबाज ड्राइवर।

कल्पना कीजिए—एक ड्राइवर है और उसने नशा कर लिया है। वह मोटर में बैठ जाता है और पूरी रफ्तार में मोटर छोड़ देता है। अब मोटर दौड़ रही है और ड्राइवर को भान नहीं है कि इस रास्ते पर दूसरे भी चलने वाले हैं। दूसरों के जीवन भी इसी सड़क पर घूम रहे हैं वे मेरी बेहोशी से कुचले जा सकते हैं। वह तो नशे की मस्ती में झूम रहा है और मोटर तीव्रतम वेग के साथ दौड़ी जा रही है। क्या वह ड्राइवर सच्चा और ईमानदार ड्राइवर है? नहीं कभी नहीं। इसी प्रकार जो मनुष्य अपने लिए स्वार्थ या वासना का प्याला चढ़ा लेता है और अपनी जीवन-गाड़ी को ऐसी उन्मुक्त एवं तीव्र गति से चलाता है कि दूसरों के जीवन कुचले जा रहे हैं वे मर रहे हैं परन्तु इसको उन तनिक भी चिन्ता नहीं है। क्या वह व्यक्ति कभी सच्चा मनुष्य हो सकता है?

गाड़ी को तेज रफ्तार में छोड़ने पर कोई भी दुर्घटना या

खतरा हो सकता है, अत उसे ब्रेक लगाकर चलाना चाहिए। जिस मोटर गाडी मे ब्रेक न लगा हो, क्या उस गाडी को चलाने का अधिकार मिल सकता है ? बिना ब्रेक की गाडी चलाना दण्डनीय है। जीवन की गाडी मे भी सयम का ब्रेक लगाओ। सयम का ब्रेक लगने पर जीवन-गाडी स्वय भी सुरक्षित रहती है और दूसरो को भी सुरक्षित रखती है। हाँ, तो कोई ड्राइवर सोच-समझकर मोटर चला रहा है, नशा उसने नही कर रखा है और दिमाग को तरोताजा रखकर चला रहा है, और मोटर को जैसे-तैसे मरते-मारते ठिकाने पहुँचा देना मात्र ही उसका लक्ष्य नही है, किन्तु सडक पर किसी को किसी प्रकार का नुकसान भी नही होने देता और सकुशल ठिकाने पहुँच जाता है तो वही सच्चा और होशियार ड्राइवर है। अतएव जब वह चलाता है तो दाएँ-बाएँ बचाकर चलाता है। फिर भी मनुष्य होने के नाते उससे कभी भूल हो भी जाती है। अस्तु बचाने का पूरा प्रयत्न करने पर भी कोई टकरा ही गया, या जब कोई सामने आया और उसने ब्रेक भी लगाया, किन्तु ब्रेक फेल हो गया और गाडी नही रुकी, तो ऐसी स्थिति मे यही कहा जा सकता है कि वह ड्राइवर उस हिंसा के पाप का भागी नही हुआ।

हाँ, तो आप भी जीवन की गाडी लेकर चल रहे है। मोटर गाडी को घर से बाहर न निकाल कर केवल घर के गैरेज मे बन्द कर देना ही उस का सही उपयोग नही है। मोटर का सही उपयोग तो मैदान मे चलाना है। किन्तु चलाने का उचित विवेक रहना चाहिए। इसी

प्रकार जीवन में भी मन को बन्द करके सुला दो जीवन की सारी हरकतें बन्द कर दो और शरीर को एक मांस-पिण्ड बनाकर किसी एक कोने मे रख छोड़ो तो इससे क्या परिणाम निकलेगा ? जीवन को प्रतिक्षण गतिशील रहने दो। गति हीन जीवन—जीवन नहीं बल्कि जीवन की जिन्दा लाश है। मुर्दे की तरह निष्क्रिय पड़े रहना क्या कोई धर्म का लक्षण है ?

जैनाचार्य कहते हैं—जीवन की मोटर को चलाने की मनाही नहीं है। यदि गृहस्थ है तो उस रूप में गाड़ी को चलाने का हक है और यदि साधु है तो भी चलाने का हक है। किन्तु चलाते वक्त कोई प्रमाद मत करो अर्थात् असावधान न बनो। मस्तिष्क को साफ और तरोताजा रखो। सदैव यह ध्यान रखो कि जीवन की यह गाड़ी किसी से टकरा न जाय। व्यर्थ या अनुचित ढंग से किसी को कुछ भी नुकसान न पहुँचने पाए।

हाँ तो इन सब बातों को ध्यान में रखकर ही जीवन की गाड़ी चलाना चाहिए। फिर भी कदाचित् भूल हो जाय और हिंसा की दुर्घटना हो जाय तो उस अवसर पर क्षम्य हो सकते हो। किन्तु अन्धे बनकर चलाओगे तो क्षम्य नहीं हो सकते।

एक बार गौतम ने भगवान से प्रश्न किया। उन्होंने अपने लिए ही नहीं किन्तु समस्त विश्व के लिए पूछा—भगवन् ! जीवन में कहीं पाप न लगे ऐसी राह बताइए। क्योंकि जीवन पापमय है यहाँ चलते हुए भी पाप लगता है।

विश्व के कुछ दार्शनिको ने इस शास्वत प्रश्न का समाधान इस प्रकार करने का प्रयत्न किया है —

—चलना पाप है ,

—तो खडे रहो ।

—खडे-खडे भी पाप लगता है ।

—अच्छा, वैठ जाओ ।

—पाप तो वैठने पर भी लगता है ।

—अच्छा, पड जाओ । सारे शरीर को मुर्दे की तरह पडा रखो ।

—पडे-पडे भी पाप लगता है ।

—तो मौन धारण करलो, चुप रहो, वोलो मत और खाओ-पीओ भी नही !

क्या जीवन का यही अर्थ है ? किन्तु जैन-धर्म के समाधान करने की यह पद्धति नही है। भगवान् यह कभी नही कहते कि चलने से पाप लगता है तो खडे हो जाओ । यदि इस पर भी पाप लगे तो वैठ जाओ, फिर पसर जाओ , और इस तरह जीवन को समाप्त कर दो । भगवान् के धर्म में सच्चा साधक वह नही है, जो इधर 'वोसिरे' कहे और उधर एक ज़हर की पुडिया खा ले । बस, राम नाम सत्य ! न तो जीवन रहे, और न जीवन की हरकत ही रहे । जैन-धर्म तो यही कहता है कि—अरे मनुष्य ! तेरी जिन्दगी अगर पचास वर्ष के लिए है तो पचास वर्ष, अगर सौ वर्ष के लिए है तो सौ वर्ष, और यदि हजार वर्ष के लिए भी है तो हजार वर्ष पूरे कर, शान के साथ पूरे कर। किन्तु एक बात का

ध्यान अवश्य रखा कि —

> जयं चरे जयं चिट्ठे, जयमासे जयं सए।
> जयं भुंजंतो भासंतो पावकम्मं न बंधइ ॥
>
> —दशवैकालिकसूत्र ४-८

उपर्युक्त गाथा के द्वारा भगवान् महावीर का संसार के समस्त साधकों को यह जीवन-सन्देश है कि—प्रत्येक कार्य यतनापूर्वक करो। यदि चलना है तो चलने में यतना रखो विवेक रखो। यदि खड़े हो तो बैठने की बात नहीं है। यथा प्रसंग खड़े रह सकते हो पर विवेक के साथ खड़े हो। यदि बैठना हो तो भी विवेक के साथ बैठो। यदि सोना है तो सोओ भी विवेक के साथ। यदि खाना है या बोलना है तब भी यही शर्त है। विवेक के साथ ही खाओ विवेक के साथ ही बोलो। फिर पाप-कर्म कदापि नहीं बँधेंगे। पाप-कर्म तो अविवेक में ही है।

बस विवेक ही अहिंसा की सच्ची कसौटी है। जहाँ विवेक है वहाँ अहिंसा है और जहाँ विवेक नहीं है वहाँ अहिंसा भी नहीं है। विवेक या यतनापूर्वक काम करते हुए भी यदि कभी हिंसा हो जाय तो वह काम हिंसा का नहीं होगा। अनुबन्ध हिंसा नहीं होगी।

—: ३ :—

द्रव्य-हिंसा और भाव-हिंसा
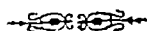
अहिंसा के सम्बन्ध मे कुछ बाते कही जा चुकी हैं और कुछ बाते कहनी भी हैं। अहिंसा को ठीक तरह समझने के लिए और उसके वास्तविक रूप को जानने के लिए सर्वप्रथम हिंसा को समझ लेना जरूरी है, क्योकि हिंसा का विरोधी भाव अहिंसा है। अहिंसा का साधारणतया अर्थ है, हिंसा का न होना। हिंसा का विरोधी भाव वही हो सकता है, जिसके रहते हिंसा न हो सके। इस प्रकार अहिंसा की जो मूल व्याख्या है, वह सर्वप्रथम 'न' के ऊपर ही आधारित है। अतएव अहिंसा को पूरी तरह समझने से पहले, हिंसा को समझ लिया जाय तो ठीक होगा और उस स्थिति मे अहिंसा का ठीक-ठीक पता लग सकेगा।*

महान् तीर्थंकरो ने और जैनाचार्यों ने मूल मे हिंसा के दो भेद किये हैं—(१) भाव-हिंसा, और (२) द्रव्य-हिंसा।

* हिंसाए पडिवक्खो होइ अहिंसा परूविया चेव।'

—दशवैकालिक चूर्णि, प्रथम अध्ययन।

जब मैंने उक्त भेदों का अध्ययन किया चिन्तन किया और जरा गहराई में उतरकर विचार किया तो मालूम पड़ा कि हिंसा और अहिंसा के विश्लेषण के लिए उन महापुरुषों ने संसार के सामने एक महत्त्वपूर्ण बात रख दी है।

भाव-हिंसा क्या है ? जब आपकी आत्मा में किसी के प्रति द्वेष जगा तो हिंसा हो गई तथा किसी भी रूप में असत्य का संकल्प चोरी का संकल्प और व्यभिचार का दुर्भाव आया इसी प्रकार कभी क्रोध मान माया और लोभ की भावनाएँ जगीं जो जीवन को अपवित्र बनाती है—तो हिंसा हो गई। इसे हम भाव-हिंसा कहते हैं।

भाव-हिंसा से सर्वप्रथम हिंसक का ही नाश होता है। आपको क्रोध आया और ज्यों ही क्रोध ने आपको घर दबाया कि मन में आग लग गई और किसी का सर्वनाश करने का विचार किया। बस जिस समय यह भाव आया कि हिंसा हो गई। दूसरे को मारना या उसको पीड़ा पहुँचाना आपके लिए हर समय सक्षम नहीं है। यदि कोई आपसे दुर्बल होगा तो उसके सामने आप अपनी शक्ति का उपयोग कर सकते हैं। यदि वह आपसे अधिक शक्तिशाली हुआ तो आप स्वयं जल कर रह जाएँगे और उसका कुछ बिगाड़ नहीं कर पाएँगे। इस तरह बाहर की हिंसा की है या नहीं की है किन्तु खुद तो जले और अस्थिर हो अन्दर जलते रहे।

कुछ बच्चे एक बच्चे को चिढ़ाते हैं और गन्दा कहकर उसका मजाक करते हैं। वह खिसिया कर कहता है—मैं गन्दा हूँ ? अच्छा गन्दा ही सही। अब वह अपने हाथ में

कीचड लेता है और दूसरे बच्चो पर उछालने के लिए उनके पीछे दौडता है। बच्चे तेजी से भाग जाते हैं और वह उन पर कीचड नही उछाल पाता। यदि उछाल भी देता है तो दूसरो पर कीचड पडी या नही पडी, परन्तु उसका हाथ तो कीचड से भर ही गया। यदि कीचड उछालने वाला तेज दौडता है और दूसरो पर डाल देता है, तब भी उसका हाथ तो कीचड से भरेगा ही। अगर दूसरे बालक तेज है, और वह उन पर कीचड नही डाल पाता, तो वह अपना गन्दा हाथ लिए मन ही मन जलता है। इस प्रकार दूसरो पर कीचड चाहे पडे चाहे न पडे, किन्तु उछालने वाला तो हर हालत में गन्दा हो ही जाता है।

शास्त्रकार यही बात बाल जीवो के विषय मे कहते है। अविवेकी जीव प्राय बच्चो के जैसे खेल खेला करता है। वह अपने मन मे दूसरो के प्रति बुरे भाव, बुरे सकल्प पैदा करता है, और उनके कारण अपने अन्दर मैल भर लेता है—अन्त -करण को मलिन बना लेता है और आत्मा के गुणो की हत्या कर लेता है। क्रोध आया, तो क्षमा की हत्या हो गई, अभिमान आया, तो नम्रता का नाश हो गया, माया आई, तो सरलता का सहार हो गया, और यदि लोभ आया तो सन्तोष का गला भी घुट गया। असत्य का सकल्प आया तो सत्य की सुगन्ध भी समाप्त हो गई। इस प्रकार जो भी बुराई आत्मा मे पनपती है, वह अपने विरोधी सद्गुण को कुचल डालती है।

रात को आना हो तो कैसे आए ? दिन को जब तक

बुभने न डाले या दिन जब तक समाप्त न हो जाय और सूर्य की एक-एक किरण विलीन न हो जाय तब तक रात कैसे आए ? यदि रात हो गई तो समझ लो कि दिन नष्ट हो गया है और सूरज छिप गया है।

हमारे जीवन में भी जब अमावस्या की रात आती है अर्थात् हिंसा असत्य आदि की काली घटाएँ उमड़-घुमड़कर आती है तो अहिंसा सत्य और करुणा की जो ज्योति जगमगा रही थी समझो वह नष्ट हो गई। वहाँ दिन छिप गया और रात आ गई।

तो भाव-हिंसा आत्मा के गुणों की हिंसा कर डालती है। अब रह गई दूसरो की हिंसा। सो वह देश काल आदि पर निर्भर है। सम्भव है कोई दूसरो की हिंसा कर सके या न भी कर सके किन्तु अपने आप तो जल ही जाता है।*

दियासलाई को देखिए। वह रगड़ खाती है और जल उठती है। स्वयं जल उठने के बाद घास पात आदि को जलाने जाती है। वह खुद तो जल गई है अब दूसरों को जलाये या न भी जलाये। वह जलाने चली और हवा का झोंका आ गया तो बुझ जाने के कारण दूसरे को नही जला सकेगी किन्तु अपने आप तो बिना जली नहीं रही।

इस प्रकार भाव-हिंसा अन्तरंग मे तो जलन पैदा करती ही है। उसके बाद दूसरे प्राणियों की हिंसा हो तो वह द्रव्य

* स्वयमेवात्मनात्मानं हिनस्त्यात्मा प्रमादवान्।
पूर्वं प्राण्यन्तराणां तु पश्चात्स्याद्वा न वा वधः॥

—राजवार्तिक ७। ११।

हिंसा भी होगी। द्रव्य-हिंसा कदाचित् हो या न हो, पर हिंसामय संकल्प के साथ भाव-हिंसा तो पैदा हो ही जाती है।

शास्त्रकार कहते हैं कि इस जीवन मे मूलभूत और सब से बडी बुराई भाव-हिंसा है और इसी से तुम्हे सबसे बडी लडाई लडनी है। तुम्हे अपने अन्दर के सबसे बडे शत्रु का संहार करना है। राजर्षि नमि ने कहा है —

अप्पाणमेव जुज्झाहि किं ते जुज्झेण बज्झओ ?

—उत्तराध्ययन सूत्र, ६, ३५

राजर्षि ने कहा—जीवन मे कितनी ही बाहर की लडाइयाँ लडो और कितना ही खून बहा और बहाया भी, किन्तु उनसे जीवन का सही फैसला नही हुआ। अब तो अपने विकारो और वासनाओ से लडना है। यदि इस संघर्ष मे सफलता प्राप्त हो जाती है, तो बाहर के शत्रु आप ही आप शान्त हो जाएँगे। उन पर शाश्वत विजय पाने वाले सद्गुण अपने अन्दर ही विराजित हैं, इसलिए तू अपने आप से लड। अपने से लडने का अर्थ है—अपने विकारो से और अपनी हिंसा-वृत्ति से लडना। द्रव्य-हिंसा की जननी, यह अन्दर की हिंसावृत्ति ही तो है।

द्रव्य-हिंसा और भाव-हिंसा को लेकर हिंसा के चार विकल्प किए गए है।* आगम की परम्परा मे उसे चौभंगी कहते हैं। वह इस प्रकार है —

(१) भाव-हिंसा हो, द्रव्य-हिंसा न हो।

---

* देखिए, दशवैकालिक चूर्णि-प्रथम अध्ययन।

(२) द्रव्य-हिंसा हो भाव हिंसा न हो।
(३) द्रव्य हिंसा भी हो भाव-हिंसा भी हो।
(४) द्रव्य-हिंसा न हो भाव-हिंसा भी न हो।

कहीं ऐसा प्रसंग आ जाता है और बहुधा आता ही रहता है कि भाव हिंसा हो किन्तु द्रव्य-हिंसा न हो। जैसा कि अभी कहा गया है अन्दर हिंसा की भावना जगी हिंसा का विचार पैदा हो गया और अपने जीवन के दुर्गुणों और वासनाओं के द्वारा अपने सद्गुणों का बर्बाद कर दिया तो भाव-हिंसा हो गई। किन्तु दूसरे का कुछ बिगाड़ नहीं हो सका तो द्रव्य-हिंसा न होने पाई।

तन्दुलमच्छ का वर्णन आपने सुना है? कहते हैं महासागर मे हजार-हजार योजन के विशालकाय मच्छ रहते हैं और मुँह खोल पड़े रहते है। जब वे सांस लेते है तब हजारों मछलियाँ उनके पेट में श्वास के साथ खिंची चली आती हैं और जब सांस छोड़ते हैं तो बाहर निकल जाती है। इस तरह प्रत्येक श्वास के साथ हजारों मछलियाँ अन्दर आती और बाहर जाती हैं। ऐसे किसी मच्छ की भौंह पर या किन्हीं आचार्यों के मतानुसार कान पर, तन्दुल मच्छ रहता है। वह कहीं भी रहता हो उसकी आकृति चावल के बराबर होती है। उसके सिर है आँखें है कान है नाक है और सभी इन्द्रियाँ हैं। शरीर भी है और मन भी है। वह उस विशाल काय महामत्स्य की भौंह या कान पर बैठा-बैठा देखता है कि इस महामत्स्य की श्वास के साथ हजारों मछलियाँ भीतर जाती हैं और फिर बाहर निकल आती है और वह सोचता

है—"ओह ! इतना बडा शरीर पाया है, इस भीमकाय मच्छ ने, किन्तु कितना मूर्ख और आलसी है ! इसे होश नही है कि—हजारो मछलियाँ आई और यो ही निकल गई ! क्या करूँ, मुझे ऐसा शरीर नही मिला ! यदि मिला होता तो क्या मै एक को भी वापिस निकल जाने देता ?" किन्तु जब मछलियो का प्रवाह आता है तो वह दुबक जाता है, डर जाता है कि कही मैं झपट मे न आ जाऊँ ! मर न जाऊँ ! वह कर कुछ भी नही पाता, किन्तु इस व्यर्थ की दुर्भावना से ही उसकी हजारो जिन्दगियाँ बर्बाद हो जाती हैं !

अरे ! जब जीवन में कुछ सत्त्व पाया ही नहीं, तो फिर क्यो व्यर्थ जल रहा है ?

तन्दुल-मत्स्य मछलियो को निकलती देखकर हताश हो जाता है और सोचता है कि हाय, एक भी नही मरी ! वह इन्ही दु सकल्पो में उलझा रहता है और रक्त की एक बूँद भी नही बहा पता । यहाँ तक कि वह किसी को एक चुटकी भी तो नही भर पाता । अन्तर्मुहूर्त्त भर की उसकी नन्ही-सी जिन्दगी है और इस छोटी-सी जिन्दगी मे ही वह सातवे नरक की तैयारी भी कर लेता है ।

भाव-हिंसा को सुगमता से समझने के लिए एक उदाहरण और लीजिए —

कल्पना कीजिए—किसी डाक्टर के पास एक बीमार आया । इससे पहले वह अपनी चिकित्सा कराने के लिए जगह-जगह भटक चुका है और अपने जीवन की आशा भी लगभग छोड चुका है । डाक्टर के साथ उसका पूर्व-परिचय

नहीं है। उसने डाक्टर से कहा— 'मैं बीमार रहता हूँ। कृपा करके मेरा इलाज कीजिए। मेरा होश-हवास भी ठीक नहीं रहता है। इसलिए मेरी इस चार-पाँच हजार की पूँजी को आप अपने पास सुरक्षित रहने दें। रोग-मुक्त होकर यदि जिन्दा रह गया तो मैं इसे ले लूँगा। यह बात किसी तीसरे को मालूम भी नहीं होनी चाहिए।

डाक्टर ने इलाज शुरू कर दिया। एक दिन अचानक डाक्टर के मन में लोभ जाग उठा। वह सोचने लगा—यह रोगी यदि मेरे इलाज से नीरोग और स्वस्थ हो जायगा तो अपनी पूँजी लेकर चलता बनेगा।

जब मन में दुर्विचारों का शैतान जाग उठता है तो कभी-कभी उसे शान्त करना कठिन हो जाता है। यह वह भूत है कि जिसे एक बार जगा दिया तो फिर उसे सुलाने का मंत्र मिलना जरा मुश्किल हो जाता है।

डाक्टर के मन में पाप जगा और उसने रोगी से कहा— 'लो यह बड़ी बढ़िया और कारगर दवा है। आशा है इसके सेवन से तुम्हारी सारी बीमारी सदैव के लिए दूर हो जायगी। यह कहते हुए उसने जहर का गिलास रोगी के सामने कर दिया। अर्थात् मन के लोभ ने डाक्टर के मन को *विपाक्त* बनाया और फलतः रोगी को जहर दे दिया गया।

रोगी का रोग विष-प्रयोग से ही ठीक होने वाला था। इस सम्बन्ध में हमारे आयुर्वेदाचार्य भी कहते हैं—'विषस्य विषमौषधम्' अर्थात् जहर की दवा जहर है। रोगी के शरीर में जो जहर फैल गया था वह जहर से ही दूर हो सकता

था। अस्तु, डाक्टर ने जो ज़हर दिया, उससे शरीर का जहर नष्ट हो गया और रोगी नीरोग हो गया।

वह रोगी अब डाक्टर के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करता हुआ कहता है—"डाक्टर साहब! आप तो साक्षात् ईश्वर हैं! आप जैसा दयालु और बुद्धिमान् दूसरा कौन होगा? मै भटकते-भटकते परेशान हो गया था, जीवन से भी निराश हो चुका था। निस्सदेह आपने तो मुझे नया जीवन दिया है! आपके इस उपकार के बदले मे मेरी वह पूँजी बिल्कुल नगण्य है। अब उसे आप अपने ही पास रहने दीजिए।" इस प्रकार वह रोगी अपनी सबकी सब पूँजी डाक्टर को ही अर्पित कर देता है और जहाँ कही जाता है, डाक्टर की योग्यता का विज्ञापन करता है और उसका गुण-गान गाता है।

यह कहानी तो समाप्त हो चुकी। अब तो हमारे सामने यह प्रश्न उपस्थित होता है कि डाक्टर को क्या हुआ? डाक्टर ने तो बीमार को मार डालने के विचार से ही ज़हर दिया था। परन्तु उसे उलटा आराम हो गया। डाक्टर को चार-पाँच हजार रुपये मिले, रोगी के द्वारा प्रशसा मिली, जनता मे भी उसने कल्पनातीत प्रसिद्धि प्राप्त की और लोगो ने कहा कि—डाक्टर ने बीमार को नया जीवन दिया। परन्तु इस सम्बन्ध मे शास्त्र क्या कहते हैं? शास्त्रो के अनुसार डाक्टर ने रोगी को जीवन दिया या मृत्यु? रोगी के नीरोग होने पर वह जीवन देने के पुण्य का भागी है या विष प्रयोग के आधार पर मौत देने के पाप का भागी है?

उसने मनुष्य की हिंसा की है अथवा दया ?

इस प्रश्न का उत्तर कुछ कठिन नहीं है। मनुष्य में यदि सामान्य विवेक हो तो भी वह इसी परिणाम पर पहुँचेगा कि—भले ही डाक्टर रोगी के प्राण न ले सका और रोगी नीरोग भी हो गया फिर भी डाक्टर तो मनुष्य की हत्या के पाप का भागी ही है ! यद्यपि वहाँ द्रव्य-हिंसा नहीं है फिर भी भाव-हिंसा अन्तर में स्थित है। क्योंकि डाक्टर के मन में तो हिंसा की भावना उत्पन्न हुई थी फलतः उसी हिंसा भाव के कारण डाक्टर हिंसा के पाप का भागी हुआ। इस दुष्कर्म के अनुसार डाक्टर ने रोगी को जहर नहीं पिलाया बल्कि अपने आपको जहर पिलाया है। यथार्थ में उसने अपने आपको मार डाला है। अपनी सद्भावना का अपने सद्गुणों का अपनी उच्चता का और कर्त्तव्य (Duty) का घात करना भी एक प्रकार का आत्म-घात ही है।

यह विचारधारा जैन आगमों की है। भाव-हिंसा को भली भाँति समझने के लिए उपरिलिखित दोनों रूपक बहुत उपयोगी हैं। यहाँ द्रव्य-हिंसा कुछ भी नहीं अकेली भाव-हिंसा ही 'महतो महीयान्' है। वह तन्दुल मत्स्य को सातवें नरक में ढकेल देती है।

उपयुक्त दृष्टान्त के आधार पर अहिंसा के साधकों को इस भाव हिंसा से सदैव बचना चाहिए, और तन्दुल मत्स्य के दुर्विकल्पों से तो अवश्य ही बचना चाहिए। अखिल विश्व की आत्माओं से संतों का यही कहना है कि—"तुम अकेले ही दुनिया भर की सारी गति-विधि के ठेकेदार नहीं हो।

किसी का जन्म-मरण तुम्हारे हाथ मे नही है। फिर क्यो व्यर्थ ही किसी को मारने की दुर्भावना रखते हो ?"

दूसरे प्रकार का भग या विकल्प वह है, जिसमे द्रव्य-हिंसा तो हो, किन्तु भाव-हिंसा न हो। मान लीजिए—एक साधक है, और वह अपने जीवन की यात्रा तय कर रहा है। उस समय उसके मन मे हिंसा नहीं है और हिंसा की वृत्ति भी नही है। यद्यपि वह सावधानी के साथ प्रवृत्ति करता है, फिर भी हिंसा हो जाती है। आखिर जब तक यह शरीर है, तब तक हिंसा रुक ही कैसे सकती है। आध्यात्मिक उत्क्रान्ति की तेरहवी भूमिका तक भी अशत हिंसा होती रहती है। जब तक आत्मा और देह का सम्बन्ध है, तब तक यह कार्यक्रम चलता ही रहेगा। आप बैठे हैं और हवा का झोका लग रहा है, इस स्थिति मे भी असख्य जीव मर रहे हैं।

'पक्ष्मणोऽपि निपातेन तेषां स्यात् स्कध पर्यय ।'

एक पलक का झपकना, यद्यपि अपने आप में एक अति सूक्ष्म हरकत है, किन्तु उसमे भी असख्य जीव मर जाते हैं। इस प्रकार जब तक शरीर है, तब तक हिंसा चल रही है और वह भी तेरहवे गुणस्थान तक। यह बात मैं अपनी ओर से नही कह रहा हूँ, अपितु आगमो में ऐसा उल्लेख है। भगवती-सूत्र के अनुसार केवलज्ञानियो से भी काययोग की चचलता के कारण कभी-कभी पचेन्द्रिय जीवो तक की हिंसा हो जाती है।*

---

* अणगारस्स भते ! भावियप्पणो पुरओ जुगमायाए पेहाए रीय रायमाणस्स पायस्स अहे कुक्कुडपोए वा कुलिगच्छाए वा परियावज्जिज्जा,

केवलज्ञानी विहार कर रहे हैं और बीच में कहीं नदी आ जाय तो क्या करेंगे ? उत्तर स्पष्ट है वे नाव में बैठेंगे। यदि नदी में पानी थोड़ा है तो विधि के अनुसार पैदल भी जल में से पार होंगे। वे चाहे नाव में बैठकर चलें या पानी में उतर कर, परन्तु हिंसा से बचाव सर्वथा असम्भव है ? नाव और पानी की बात भी छोड़ दीजिए, एक कदम रखने में भी जो हरकत होती है उसमें भी हिंसा हो जाती है।

अब जरा कर्म-बन्ध की बात भी सोचिए। तेरहवें गुणस्थान वाले केवलियों को कौन-सी कर्म प्रकृति का बंध होता है ? उक्त नदी-संतरण आदि कार्य करते हुए भी वे सातावेदनीय का ही बंध करते हैं। यह कैसी बात हुई ? जीवन के द्वारा तो होती है हिंसा किन्तु बंध होता है सातावेदनीय का! जिन जीवों की हिंसा हुई है वे साता से मरे हैं या असाता में ? वे कुचले गये हैं चोट पहुँचने पर मरे हैं अपने आप नहीं मर गये हैं। फिर भी आगम कहते हैं कि इस स्थिति में बंध होता है सिर्फ पुण्यप्रकृति का ही पापप्रकृति का नहीं। इस जटिल समस्या पर विचार करने की आवश्यकता है।

वास्तव में हिंसा कषायभाव में है। इस सम्बन्ध में कहा भी गया है —

तस्स णं भंते ! इरियावहिया किरिया कज्जइ ? संपराइया किरिया कज्जइ?
गोयमा ! अणगारस्स णं भावियप्पणो जाव तस्स णं इरियावहिया किरिया कज्जइ नो संपराइया कज्जइ।

—श्री भगवती-सूत्र श १८ उ ८

'प्रमत्तयोगात् प्राण-व्यपरोपण हिंसा ।'

—तत्त्वार्थसूत्र ७, १३

'मण-वयण-कायेहि जोगेहि दुप्पउत्तेहि ज पाण-ववरोवण कज्जइ सा हिंसा'

—दशवैकालिक चूर्णि, प्रथम अध्ययन

किसी के द्वारा किसी जीव का मर जाना अपने आप मे हिंसा नही है, अपितु क्रोधभाव से, मानभाव से, मायाभाव से या लोभभाव से किसी जीव के प्राणो को नष्ट करना, हिंसा है। मतलब यह है कि क्रोध, मान, माया, लोभ, घृणा, द्वेष आदि दुर्भाव यदि मन मे हो और मारने की दुर्वृत्ति के साथ जीवो को मारा जाता हो या सताया जाता हो, तो वहाँ हिंसा होती है।

उक्त कथन का भावार्थ यह है कि हिंसा का मूलाधार कषायभाव है। अत जो साधक कषायभाव मे न हो, फिर भी यदि उसके शरीर से हिंसा हो जाती है तो वह केवल द्रव्य-हिंसा है, भाव-हिंसा नही। द्रव्य-हिंसा, प्राण नाश स्वरूप होते हुए भी हिंसा नही मानी जाती।* केवलज्ञानी की यही स्थिति है। वे राग-द्वेष की स्थिति से सर्वथा अलग है। उनके अन्दर किसी भी प्राणी के प्रति दुर्भाव नही है, अपितु सर्वांगीण सद्भाव है। अत उनके शरीरादि से होने वाली हिंसा, हिंसा नही है। केवली स्वभावत हिंसा करते नही है, अपितु वह हो जाती है। इसीलिए उन्हे बाहर मे हिंसा

* 'यदा प्रमत्तयोगो नास्ति, केवल प्राणव्यपरोपणमेव न तदा हिंसा। उक्त च-वियोजयति चासुभिर्न च वधेन सयुज्यते।'

—तत्त्वार्थराजवार्तिक ७, १३

होते हुए भी एकमात्र सात-वेदनीय का ही बंध होता है।

अब तनिक शब्दों पर ध्यान दीजिए। यहाँ दो प्रकार के शब्दों का प्रयोग किया गया है—वे तो हिंसा करते नहीं वह अपने आप हो जाती है। दूसरे प्रकार से इसे यों भी कह सकते हैं कि वेचारी जीवों को मारते नहीं वे अपने आप मर जाते हैं। इन दोनों प्रयोगों में कितना बड़ा अन्तर है?

कल्पना कीजिए—एक साधु विवेकपूर्वक भिक्षा के लिए जाता है या कोई गृहस्थ विवेकपूर्वक गमन-क्रिया करता है। उस समय उसके अंतस् में किसी भी जीव को मारने की वृत्ति नहीं है फिर भी यदि मर जाते हैं, तो यही कहा जायगा कि वह जीवों को मारता नहीं है किन्तु जीव मर जाते हैं। इस प्रकार के मर जाने में पाप-बंध नहीं है किन्तु मारने में पाप-बंध है। इस सम्बन्ध में आचार्य भद्रबाहु भी कहते हैं—

> उच्चालियम्मि पाए इरियासमियस्स संकमट्ठाए।
> वावज्जेज्ज कुलिंगी मरेज्ज तं जोगमासज्ज ॥७४८॥
> न य तस्स तन्निमित्तो बंधो सुहुमो वि देसिओ समए।
> अणवज्जो उवओगेण सव्वभावेण सो जम्हा ॥७४९॥
>
> —ओघनिर्युक्ति

अर्थात्—ईर्यासमिति से युक्त होकर कोई साधक चलने के लिए पाँव उठाए और अचानक यदि कोई जीव उसके नीचे आकर दबकर मर जाय तो उस साधक को उसकी मृत्यु के निमित्त से तनिक-सा भी बंध होना शास्त्र में नहीं बतलाया है। क्योंकि वह साधक गमन क्रिया में पूर्ण-रूप से उपयोग रखने के कारण निष्पाप है।

यही बात दिगम्बर परम्परा के आचार्य वट्टकेर जी ने भी उद्घोषित की है —

> पउमिणि-पत्तं व जहा, उदएण ण लिप्पदि सिणेहगुणजुत्त ।
> तह वद समिदीहिं ण लिप्पदि, साहू काएसु इरियंतो ॥
>
> —मूलाचार, पचाचाराधिकार

(कमलिनी का पत्ता जल मे ही उत्पन्न होता है और जल मे ही उसका पोषण और विकास भी होता है, फिर भी वह जल से लिप्त नही होता, क्योकि वह स्नेहगुण से युक्त है। इसी प्रकार समितियुक्त साधु जीवो के मध्य मे विचरण करता हुआ भी पाप से लिप्त नही होता, क्योकि उसके अन्त करण मे करुणा का अखण्ड स्रोत प्रवाहित है।)

एक और सुन्दर उपमा के साथ आचार्य फिर इसी बात को स्पष्ट करते हैं —

> सर-वासेहिं पडतेहिं जह दिढकवचो ण भिज्जदि सरेहिं ।
> तह समिदीहिं ण लिप्पइ, साहू काएसु इरियतो ॥

(अर्थात्—घोर सग्राम छिडा हुआ है। योद्धागण एक-दूसरे पर प्रखर बाणो की जलधारवत् वर्षा कर रहे हैं। परन्तु जिसने अपने वक्षस्थल को मजबूत कवच से ढँक रखा है, उसे क्या वे बाण घायल कर सकते हैं ? कदापि नही। इसी प्रकार जो मुनि ईर्यासमिति के सुदृढ कवच से युक्त है, वह जीवो के समुदाय मे निरन्तर विचरता हुआ भी पाप से लिप्त नही हो सकता।)

यतनापूर्वक प्रवृत्ति करने से नवीन पाप-कर्म का स्पर्श भी नही होता। इतना ही नही, अपितु पहले बँधे हुए कर्मों

का क्षय भी होता है। वही आचार्य कहते हैं —

तम्हा चेट्ठिदुकामो जइया तइया भवाहि तं समिदो।
समिदो हु अण्णं ण दियदि खवेदि पोराणयं कम्मं ॥

—पंचाचाराधिकार

और—

एवं तु चरमाणस्स दयापेहस्स भिक्खुणो।
णवं ण बज्झदे कम्मं पोराणं च विधूयदि ॥

—समयसाराधिकार

अर्थ स्पष्ट है कि जो मुनि यतना के साथ चल रहा है जिसके चित्त में प्राणीमात्र के प्रति दया की भावना विद्यमान है वह चलता हुआ भी नवीन कर्मों का बंध नहीं करता। इतना ही नहीं अपितु वह पहले बंधे हुए कर्मों की निर्जरा भी करता है।

आचार्यशिरोमणि श्री भद्रबाहु जी ओघनियुक्ति में ऐसा ही उल्लेख करते हैं —

जा जयमाणस्स भवे विराहणा सुत्तविहिसमग्गस्स
सा होइ निज्जर-फला अज्झत्थ-विसोहि-जुत्तस्स ॥७५९॥

अर्थात्—गीतार्थ साधक के द्वारा यतनाशील रहते हुए भी यदि कभी हिंसा हो जाती है तो वह पाप-कर्म के बंध का कारण न होकर निर्जरा का कारण होती है। क्योंकि बाहर में हिंसा होते हुए भी यतनाशील के अन्तर में भाव-विशुद्धि रहती है। फलतः वह कर्मनिर्जरा का फल अर्पण करती है।

हाँ तो मन के अन्तर्जगत् में अहिंसा का सागर लहरा रहा है वहाँ कषायजन्य दुर्भाव नहीं है, असावधानी भी नहीं

है, अपितु जागरूकता है, फिर भी शरीर से हिंसा हो रही है। साधक किसी को मार नहीं रहा है, मरने वाले स्वत ही मर रहे हैं। इस पर शास्त्रकार कहते हैं कि वहाँ द्रव्य-हिंसा है, भाव-हिंसा नही। यह दूसरा भग है। जहाँ ऐसी स्थिति हो वहाँ द्रव्य-हिंसा होती है, भाव-हिंसा नही। द्रव्य-हिंसा को स्पष्ट रूप से समझने के लिए एक रूपक लीजिए —

डाक्टर के पास एक बीमार आता है। उसके आमाशय मे घातक फोड़ा है। डाक्टर पहले तो बीमारी का गम्भीरता-पूर्वक अध्ययन करता है और निश्चय करता है कि फोडे का आपरेशन करना अनिवार्य है। वह बीमार को सूचना दे देता है कि आपरेशन किये बिना काम नहीं चल सकता और आपरेशन है भी खतरनाक। बेचारा बीमार खतरा उठाने के लिए तैयार हो जाता है। तब डाक्टर, स्वय अपने हाथो से, अत्यन्त सावधानी और ईमानदारी के साथ आपरेशन करता है। उसकी प्रत्येक सास मे मानो यही ध्वनि निकलती है कि बीमार किसी प्रकार अच्छा हो जाय। क्योंकि बेचारा वेदना का मारा, भरोसा करके मेरे पास आया है। गृहस्थी है और बाल-बच्चो वाला है। यदि इसकी जिन्दगी बच गई तो कितनो की ही जिन्दगी बच जायगी। यदि यह मर गया तो सारा घर तबाह और बर्बाद हो जायगा। इस प्रकार डाक्टर के मन में दया का प्रवाह उठता है और करुणा का झरना बहता है। इस स्थिति मे डाक्टर आपरेशन करता है, किन्तु करते-करते कहीं भूल हो जाती है। नस कट जाती है और खून की धारा बह उठती है। डाक्टर की करुण भावना और

भी अधिक मालूम होती है और वह खून का बहाव रोकने के लिये हर सम्भव प्रयत्न करता है। परन्तु उसके प्रयत्न विफल हो जाते हैं और रोगी मृत्यु की शरण में पहुँच जाता है।

यहाँ भी वही प्रश्न उपस्थित होता है कि डाक्टर को क्या हुआ? कहने को तो यही कहा जा सकता है कि डाक्टर के हाथ से रोगी की मृत्यु हुई है। यदि डाक्टर आपरेशन नहीं करता तो रोगी को प्राणों से हाथ न धोने पड़ते। कोई-कोई यह भी कहते है—डाक्टर मूर्ख है लापरवाह है अनाड़ी है! रोगी के घर वाले भी उत्तेजित हो जाते है और डाक्टर को कोसते है। उसकी प्रेक्टिस को भी धक्का पहुँचता है और गली-गली मे उसकी बदनामी होती है। दुनिया की बात जाने दीजिए, वह चाहे कुछ भी कहे। हमें तो सूक्ष्म-दृष्टि से यह देखना है कि इस सम्बन्ध में शास्त्रकार क्या कहते है?

शास्त्रकार कहते है कि डाक्टर मनुष्य की हिंसा के पाप का भागी नही है। उसने सद्भावना से बीमार को शान्ति देने के शुभ सकल्प से और सावधानी के साथ कार्य किया है। बीमार तो स्वत मरा है डाक्टर ने उसे नहीं मारा है।

इस प्रकार द्रव्य हिंसा हुई है भाव-हिंसा नहीं। इस स्थिति में डाक्टर को पुण्य ही हुआ पाप अंशमात्र भी नहीं। पुण्य-पाप का सम्बन्ध तो कर्त्ता के अन्तर्जगत् से है बाह्य जगत् से नहीं।

अब इन दोनों दशाओं की तुलना करके देखते है तो विस्मय-सा होता है। पहले भंग में भाव-हिंसा है द्रव्य-हिंसा नहीं और दूसरे भग में द्रव्य-हिंसा है भाव-हिंसा नहीं। दोनों

के परिणाम मे और प्रयोग में कितना अन्तर है ? एक, वाहिरी हिंसा न होते हुए भी हिंसक है, और दूसरा, लोक दृष्टि मे हिंसक होते हुए भी अहिंसक है ।

जो लोग अहिंसा को अव्यावहारिक कहते हैं, उन्हे इस सिद्धान्त पर गम्भीरतापूर्वक विचार करना चाहिए । जीवन-व्यापार मे यदि हिंसा का दु सकल्प त्याग दिया जाय, निष्कपायत्व का भाव पूर्णरूप से अपना लिया जाय, तो हिंसा का परित्याग हो जाता है । जैन-धर्म मुख्यत हिंसा की वृत्ति को छोडने के लिए ही कहता है । वह कहता है कि जितनी-जितनी हिंसा की वृत्ति कम होगी, अर्थात् कषाय की दुर्भावना जिस अनुपात से कम होती जायगी, उसी अनुपात से अविवेक भी कम हो जायगा । इसके फलस्वरूप विवेक जागेगा और जीवन मे पवित्रता की ज्योति उत्तरोत्तर जगमगाती दिखलाई देगी ।

आचार्य भद्रबाहु ने उक्त सिद्धान्त का स्पष्टीकरण करते हुए ओघनिर्युक्ति मे कहा है —

आया चेव अहिंसा आया हिंसत्ति निच्छओ एसो,
जो होइ अप्पमत्तो अहिंसओ हिंसओ इयरो ।।७५४।।

अर्थात्—अहिंसा और हिंसा के सम्वन्ध मे यह एक निश्चित सिद्धान्त है कि आत्मा ही अहिंसा है और आत्मा ही हिंसा । जो आत्मा विवेकी है, सजग है, सावधान है, अप्रमत्त है, वह अहिंसक हैं । इसके विपरीत जो अविवेकी है, जागृत एव सावधान नही है, प्रमाद युक्त है , वह हिंसक है ।

तीसरा भग है—भाव-हिंसा भी हो और द्रव्य-हिंसा

भी हो। अर्थात्—हृदय की अन्तर्भूमि में मारने की वृत्ति भी आ गई, और बाहर में किसी को मार भी दिया। किसी को सताने की भावना भी उत्पन्न हुई, और उसे सताया भी गया। इस प्रकार की दोहरी हिंसा का फल भी भाव-हिंसा के समान ही जीवन को बर्बाद करने वाला होता है।

चौथा भंग है—न तो भाव-हिंसा हो और न द्रव्य हिंसा हो। परन्तु यह भंग हिंसा की दृष्टि से शून्य है। यहाँ हिंसा को किसी भी रूप में स्थान नहीं है। ऐसी सर्वांग परिपूर्ण अहिंसा अयोग एवं मुक्ति की अवस्था में होती है। जहाँ न तो मारने की वृत्ति है और न मारने का कृत्य ही है यह सर्वोच्च आदर्श की स्थिति है।

इस प्रकार हिंसा की बारीकियों को जब आप भली भाँति समझ जाएँगे तो अहिंसा भी आपकी समझ में अपने आप आ जाएगी।

के परिणाम मे और प्रयोग मे कितना अन्तर है ? एक, वाहिरी हिसा न होते हुए भी हिंसक है, और दूसरा, लोक दृष्टि मे हिंसक होते हुए भी अहिंसक है।

जो लोग अहिंसा को अव्यावहारिक कहते है, उन्हे इस सिद्धान्त पर गम्भीरतापूर्वक विचार करना चाहिए। जीवन-व्यापार मे यदि हिंसा का दुसंकल्प त्याग दिया जाय, निष्कषायत्व का भाव पूर्णरूप से अपना लिया जाय, तो हिंसा का परित्याग हो जाता है। जैन-धर्म मुख्यत हिंसा की वृत्ति को छोडने के लिए ही कहता है। वह कहता है कि जितनी-जितनी हिंसा की वृत्ति कम होगी, अर्थात् कषाय की दुर्भावना जिस अनुपात से कम होती जायगी, उसी अनुपात से अविवेक भी कम हो जायगा। इसके फलस्वरूप विवेक जागेगा और जीवन मे पवित्रता की ज्योति उत्तरोत्तर जगमगाती दिखलाई देगी।

आचार्य भद्रबाहु ने उक्त सिद्धान्त का स्पष्टीकरण करते हुए ओघनियुक्ति मे कहा है —

> आया चेव अहिंसा आया हिंसत्ति निच्छओ एसा,
> जो होइ अप्पमत्तो अहिंसओ हिंसओ इयरो ॥७५४॥

अर्थात्—अहिंसा और हिंसा के सम्बन्ध मे यह एक निश्चित सिद्धान्त है कि आत्मा ही अहिंसा है और आत्मा ही हिंसा। जो आत्मा विवेकी है, सजग है, सावधान है, अप्रमत्त है, वह अहिंसक है। इसके विपरीत जो अविवेकी है, जागृत एव सावधान नही है, प्रमाद युक्त है, वह हिंसक है।

तीसरा भग है—भाव-हिंसा भी हो और द्रव्य-हिंसा

भली भाँति समझ में आ जाती है तो अहिंसा का शुद्ध रूप भी हमारे सामने स्वतः उपस्थित हो जाता है।

एक ओर शरीर है वा दूसरी ओर आत्मा। यहाँ एक प्रश्न उपस्थित होता है कि जो कर्म-बंध होते हैं वे शरीर के द्वारा होते हैं या आत्मा के द्वारा ? उत्तर है—जीवन में एक प्रकार की जो चंचलता और हलचल-सी रहती है जिसे शास्त्र की परिभाषा में योग कहते हैं उसी के द्वारा कर्मों का बंध होता है। यह हलचल न तो अकेले शरीर में होती है, और न अकेली आत्मा में बल्कि एक-दूसरे के प्रगाढ़ सम्बन्ध के कारण दोनों में समान रूप से होती है। यदि आप गहराई से विचार करेंगे तो मालूम हो जायगा कि न केवल शरीर के द्वारा बंधन हो सकता है और न केवल आत्मा के द्वारा। यदि केवल शरीर के द्वारा ही बंधन होता तो जब आत्मा नहीं रहती और शरीर मुर्दा हो जाता है तब भी कर्म-बन्धन होना चाहिये। किन्तु ऐसा नहीं होता। हाँ तो समझ लीजिए कि यह शरीर तो जड़ वस्तु है। यह अपने आप में कुछ नहीं है अपितु यह तो मिट्टी का ढेला है जो अपने आप कुछ भी करने वाला नहीं है। जब तक आत्मा की किरण नहीं पड़ती और आत्मा का स्पन्दन नहीं होता तब तक शरीर कोई क्रिया नहीं कर सकता ? यदि उसके द्वारा अपने आप कुछ करना-धरना होता तो आत्मा के निकल जाने पर भी कर्म-बंध अवश्य होता।

प्रश्न उठता है यदि शरीर कर्म को नहीं बाँधता है तो क्या उसे आत्मा बाँधता है ? और यह जो शुभ या अशुभ जीवन-धारा बह रही है वह शरीर में नहीं तो क्या आत्मा

— ४ —

अहिंसा की त्रिपुटी
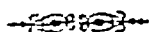
धर्म के जितने भी मार्ग हैं, एक तरह से सभी अहिंसा के ही मार्ग हैं। धर्म के विभिन्न रूप भी अहिंसा के ही पृथक्-पृथक् रूप हैं। आचरण-सम्बन्धी जितने भी विधि-विधान हैं, उन सब में अहिंसा उसी प्रकार व्याप्त है, जैसे समुद्र की प्रत्येक लहर में जल। क्या सत्य, क्या अस्तेय, क्या ब्रह्मचर्य्य और क्या अपरिग्रह, सब के साथ अहिंसा ही चलती है। जीवन की किसी भी ऊँची भूमिका में, ऐसा नहीं है कि अहिंसा छूट जाय। यह कभी भी संभव नहीं होगा कि अहिंसा बिछुड जाय और सत्य चलने लगे, या अपरिग्रह उसे छोडकर आगे चल पडे। अहिंसा-वीणा की मधुर झंकार सर्वत्र सुनाई देती है। इस प्रकार अहिंसा का स्वरूप विराट् है और उसी के सहारे धर्मों के समस्त नियम और उपनियम टिके हुए हैं।

अब यह विचार करना है कि जिस अहिंसा अथवा हिंसा को हम अपने जीवन के अन्दर लेकर चलते हैं, वह कहाँ-कहाँ और किस-किस रूप में रहती है? जब यह बात

किन्तु ऐसा है तो नहीं। भंग पीने से पहले पीने वाले में पागलपन नहीं होता।

अब विचार यह होता है यदि पीने वाले में और उसकी आत्मा में नशा नहीं है मादकता भी नहीं है—तो क्या भंग में है? यदि भंग में ही है तो भंग जब घोट-छानकर गिलास में रखी हो तब उसमें भी दीवानापन आना चाहिए। किन्तु देखते हैं वहाँ कुछ नहीं है। वह वहाँ शान्त रूप में लोटे या गिलास में पड़ी रहती है। परन्तु जब पीने वाले का संग होता है तब जाकर नशा मिलता है उन्माद और पागलपन भी आता है। तात्पर्य यह हुआ कि अकेली भंग और अकेले आत्मा में नशा नहीं है बल्कि जब दोनों का संग होता है तभी मादकता पैदा होती है।

हाँ तो अकेले शरीर पर दोषारोपण मत कीजिए, और न अकेले आत्मा को ही अपराधी समझिए। जब आत्मा निस्संग हो जाती है और विशुद्ध बन जाती है तब उसमें कोई हरकत या स्पन्दन नहीं रह जाता। इसी को योग निरोध कहते हैं। जब तक आत्मा और शरीर का ऐहिक संसर्ग है, तब तक योग है और जब तक योग है तभी तक कर्म बन्ध है।

इस प्रकार जैन-धर्म का दृष्टिकोण स्पष्ट है अर्थात्—हिंसा की धारा किन-किन नालियों द्वारा बह रही है? आत्मा के द्वारा हिंसा होती है किन्तु वह शरीर के माध्यम से ही होती है। शरीर से मन और वचन को धारा भी बहती है। ये तीनों 'योग' कहलाते हैं।

मे वह रही है ? यदि आत्मा ही शुभ और अशुभ कर्मों का सचय कर रहा है, ऐसा मान लिया जाय तो जैन-धर्म की मर्यादा स्पष्ट नही होती। यदि आत्मा स्वय, विना शरीर के कर्म-बध कर सकता है तो मुक्ति की दशा मे भी कर्म-बध होना चाहिए। वस्तुत मोक्ष मे क्या है ? वहाँ एकमात्र सिद्धत्व रूप है, ईश्वरीय रूप है और परम विशुद्ध परमात्म-दशा है। वहा शरीर नही रहता, केवल आत्मा ही रहता है। यदि आत्मा ही कर्म-बध का कारण है तो सिद्धो को भी कर्म-बध होना चाहिए। वहाँ भी शुभ और अशुभ कर्म होने चाहिएँ। किन्तु ऐसा होता नही है। वहाँ आत्मा कर्म-बध से अतीत, विशुद्ध ही रहती है। अतएव स्पष्ट है कि अकेला आत्मा भी कर्मों का बध नही करता।

"अस्तु, यह स्पष्ट है कि कर्म-बन्ध होता है, आत्मा और शरीर के सयोग से। जब तक ये दोनो मिले रहते हैं, तब तक ससारी दशा में कर्म-बन्ध होता रहता है। परन्तु जब ये दोनो अलग-अलग हो जाते हैं, न केवल स्थूल-शरीर ही, अपितु सूक्ष्म-शरीर भी आत्मा से अलग हो जाता है, तो इस अवस्था मे कर्म-बन्ध का सर्वथा अन्त हो जाता है। इस प्रकार आत्मा और शरीर के सयोग पर ही कर्म-बन्ध आधारित है।

कल्पना कीजिए—भग है और वह अधिक से अधिक तेज घोट कर रखी गई है। अब प्रश्न यह है कि उसका जो नशा है, और नशे के प्रभाव से जो पागलपन रहता है, वह भग में है या पीने वाले में है ? यदि पीने वाले मे है तो भग पीने से पहले भी उसमें उन्माद और दीवानापन होना चाहिए था।

किन्तु ऐसा है तो नहीं। भंग पीने से पहले पीने वाले में पागलपन नहीं होता।

अब विचार यह होता है, यदि पीने वाले में और उसकी आत्मा में नशा नहीं है, मादकता भी नहीं है—तो क्या भंग में है? यदि भंग में ही है तो भंग जब घोट-छानकर गिलास में रखी हो तब उसमें भी दीवानापन आना चाहिए। किन्तु देखते हैं वहाँ कुछ नहीं है। वह वहाँ शान्त रूप में लोटे या गिलास में पड़ी रहती है। परन्तु जब पीने वाले का संग होता है तब जाकर नशा मिलता है उन्माद और पागलपन भी आता है। तात्पर्य यह हुआ कि अकेली भंग और अकेले आत्मा में मदा नहीं है, बल्कि जब दोनों का संग होता है तभी मादकता पैदा होती है।

हाँ तो अकेले शरीर पर दोषारोपण मत कीजिए, और न अकेले आत्मा को ही अपराधी समझिए। जब आत्मा निस्संग हो जाती है और विशुद्ध बन जाती है तब उसमें कोई हरकत या स्पन्दन नहीं रह जाता। इसी को योग-निरोध कहते हैं। जब तक आत्मा और शरीर का ऐहिक संसर्ग है, तब तक योग है और जब तक योग है, तभी तक कर्म बन्ध है।

इस प्रकार जैन-धर्म का दृष्टिकोण स्पष्ट है अर्थात्—हिंसा की धारा किन-किन नालियों द्वारा बह रही है? आत्मा के द्वारा हिंसा होती है किन्तु वह शरीर के माध्यम से ही होती है। शरीर में मन और वचन की धारा भी बहती है। ये तीनों योग कहलाते हैं।

अब प्रश्न यह है कि हम हिंसा पर प्रतिबन्ध लगाएँ तो किधर से लगाएँ ? हम स्थूल शरीर को भी पाप करने से रोक देते है, वचन को भी असद् भाषण से रोक देते है और मन को भी अशुभ सकल्पो से हटा लेते हैं। शरीर पर नियत्रण रखने से शरीर के द्वारा होने वाले पाप रुक जाते है, वचन पर अधिकार रखने से वचन द्वारा होने वाले पाप रुक जाते है, और मन पर अकुश लगा देने से मानसिक पाप रुक जाते हैं।

इस प्रकार मन, वचन, और शरीर—ये तीन हिंसा और अहिंसा की आधार भूमिकाएँ हैं, और आगे चलकर इन तीनो के भी तीन-तीन भेद हो जाते हैं। मन से स्वय हिंसा करना, दूसरे से करवाना, और हिंसा करने वाले के कार्य का अनुमोदन-समर्थन करना। इसी प्रकार वचन और शरीर के साथ भी ये तीनो विकल्प चलते हैं। इन विकल्पो का अन्त इतने मे ही नही हो जाता है, अपितु वे और भी आगे चलते हैं। किन्तु मै प्रस्तुत चर्चा को उन शास्त्रीय विकल्पो तथा भगो की लम्बाई मे नही ले जाना चाहता। हमे हिंसा के सम्बन्ध मे जानकारी प्राप्त करने के लिए फिलहाल यही तक सीमित रहना है।

जैन श्रावक (गृहस्थ) दो करण* तथा तीन योग से हिंसा का परित्याग करता है। अर्थात्—वह न तो मन, वाणी और

---

* कृत, कारित, और अनुमोदित—ये तीन करण हैं। इसी प्रकार मन, वचन और शरीर—ये तीन योग हैं।

-शरीर द्वारा स्वयं हिंसा करता है और न मन वाणी और शरीर द्वारा अन्य किसी से हिंसा करवाता ही है।* यहाँ अनु-मोदन की छूट है। अब प्रश्न यह है कि एक आदमी स्वयं काम करता है और उससे पाप-बन्ध होता है। दूसरा स्वयं करता नहीं अपितु दूसरों से करवाता है और उससे भी पाप बन्ध होता है। तीसरा स्वयं करता भी नहीं करवाता भी नहीं सिर्फ करने वाले का अनुमोदन या सराहना करता है और उससे भी पाप-बन्ध होता है। किन्तु मूल प्रश्न तो यह है कि इन तीनों में से किस स्थिति में पाप ज्यादा है ? तीनों विकल्पों से आने वाला पाप समान है या न्यूनाधिक ?

आपके सामने मैंने जो प्रश्न उपस्थित किया है उस पर तनिक गम्भीरता से विचार करने की आवश्यकता है। इससे पहले आपको भली-भाँति मालूम भी है कि जैन-धर्म अनेकान्त वादी धर्म है एकान्तवादी नहीं। वह प्रत्येक सिद्धान्त को विभिन्न दृष्टिकोण से देखता है। ऐसी स्थिति में धर्म पुण्य या पाप का निर्णय देते समय वह एकपक्षीय निर्णय कैसे देगा ? अस्तु, जैन-धर्म इस प्रश्न का निर्णायक उत्तर विचारों की विभिन्नरूपता पर ही छोड़ देता है। अतएव विचारों का जो प्रवाह आता है वह भी विभिन्न रूपों में प्रकट होता है अर्थात्—एक व्यक्ति को किसी रूप में और दूसरे को दूसरे ही रूप में प्रकट होता है। उसकी गति कहीं तीव्र होती है तो कहीं मन्द, जब तक उसकी भूमिका नीची रहती

---

* गृहस्थ को संकल्प-पूर्वक निरपराध प्राणियों की स्थूल हिंसा का परित्याग करना होता है।

अब प्रश्न यह है कि हम हिंसा पर प्रतिवन्ध लगाएँ तो किधर से लगाएँ ? हम स्थूल शरीर को भी पाप करने से रोक देते हैं, वचन को भी असद् भाषण मे रोक देते हैं और मन को भी अशुभ सकल्पो से हटा लेते हैं। शरीर पर नियत्रण रखने से शरीर के द्वारा होने वाले पाप रुक जाते है, वचन पर अधिकार रखने से वचन द्वारा होने वाले पाप रुक जाते है, और मन पर अकुश लगा देने से मानसिक पाप रुक जाते हैं।

इस प्रकार मन, वचन, और शरीर—ये तीन हिंसा और अहिंसा की आधार भूमिकाएँ हैं, और आगे चलकर इन तीनो के भी तीन-तीन भेद हो जाते है। मन से स्वय हिंसा करना, दूसरे से करवाना, और हिंसा करने वाले के कार्य का अनुमोदन-समर्थन करना। इसी प्रकार वचन और शरीर के साथ भी ये तीनो विकल्प चलते हैं। इन विकल्पो का अन्त इतने मे ही नही हो जाता है, अपितु वे और भी आगे चलते हैं। किन्तु मै प्रस्तुत चर्चा को उन शास्त्रीय विकल्पो तथा भगो की लम्बाई मे नही ले जाना चाहता। हमे हिंसा के सम्बन्ध मे जानकारी प्राप्त करने के लिए फिलहाल यही तक सीमित रहना है।

जैन श्रावक (गृहस्थ) दो करण* तथा तीन योग से हिंसा का परित्याग करता है। अर्थात्—वह न तो मन, वाणी और

---

* कृत कारित, और अनुमोदित—ये तीन करण हैं। इसी प्रकार मन, वचन और शरीर—ये तीन योग हैं।

कहाँ तक ? आखिर जीवन तो जीवन है और वह भी मानव का जीवन। अस्तु, जीवन को जीवन के वास्तविक रूप में ही व्यतीत करना है जड़ रूप में निष्क्रिय नहीं बनाना है। जगत् में जीवन तो जीवन के ही रूप में रहेगा जड़ के रूप में नहीं रह सकता। उसमें स्पन्दन का होना अनिवार्य है। यदि हठात् शरीर और वचन पर ताला डाल भी दिया जाय तब भी मन का क्या होगा ? वह तो अपने चंचल स्वभाव के कारण उछल-कूद करता ही रहेगा। वह हजारों प्रकार के बनाव और बिगाड़ करता रहता है। मन राजा है। भला उस पर सहसा ताला किस प्रकार लगाया जा सकता है ? अस्तु, जीवन है तो ये सब हरकतें भी रहेंगी ही। किन्तु साधक में इतना सामर्थ्य आना चाहिए कि उसके जीवन की गाड़ी जब कभी गलत रास्ते पर जाने लगे तब वह उसे रोक दे और यथाशीघ्र सही रास्ते पर ले आए।

हाँ तो एक साधक स्वयं काम करता है। यदि उसमें विवेक है विचार है और चिन्तन है तो वह यथावसर चलता भी है और इधर-उधर के पाप-प्रवाह को कम भी करता है। यदि चलते समय कोई कीड़ा मार्ग में आ गया बालक आ गया या बूढ़ा आ गया तो उन्हें अवश्य बचा देता है। क्योंकि उसे चलना है पर विवेक के साथ।

हमारे यहाँ भारतीय संस्कृति की परम्परा में चलने के लिए भी नियम है। यदि सामने से बालक आ रहा है और रास्ता तंग है तो वयस्क पुरुष या स्त्री को किनारे पर खड़ा हो जाना चाहिए और उस बालक को पूरी सुविधा देनी

है और राग-द्वेष का आधिक्य होता है, तब तक विकल्पात्मक विचारो के प्रवाह में भी तीव्रता होती है। जैसे पृथ्वी का ढलाव पाकर पानी का प्रवाह तेज हो जाता है, उसी प्रकार जीवन की नीची भूमिका में सकल्प और विकल्पों का प्रवाह भी तीव्रता धारण कर लेता है। जैसे ढलाव मे बढने वाले पानी का प्रवाह अनियन्त्रित हो जाता है, उसी प्रकार जीवन की भूमिका जब नीची होती है तो विचारो का प्रवाह भी अनियन्त्रित रहता है। इसके विरुद्ध जब साधक की भूमिका ऊँची होती है और राग-द्वेष मन्द होते हैं, तब साधक प्रत्येक कार्य मन्दभाव या अनासक्त भाव से करता है और उसमे यथासभव तटस्थ बुद्धि भी रखता है। विवेक-विचार से काम लेता है और उसका हर कदम नियत्रण के साथ बढता है। इस तरह वह चलता भी है और रुकता भी है।

जीवन की गाडी के सम्बन्ध मे एक बार पहले भी कह चुका हूँ। गाडी मे दोनो प्रकार के गुण होने चाहिएँ—आवश्यकता होने पर वह चल सके और आवश्यकता होने पर यथा अवसर रोकी भी जा सके। यदि वह मोटर है तो उसमें चलने का, और समय पडने पर ब्रेक लगाते ही रुकने का गुण भी होना चाहिए। हाँ, तो जीवन की गाडी को भी जहाँ साधक ठीक समझता है, वहाँ चलाता है और यथा अवसर रोक भी लेता है। वह अपने मन, वचन और शरीर से काम लेता है और जब चाहता है, तब उनकी गति को रोक भी सकता है। वह हरकत तो करेगा ही, जीवन को मास का पिण्ड बनाकर नही रखेगा। यदि रखेगा भी तो

कहाँ तक ? आखिर जीवन तो जीवन है और वह भी मानव का जीवन। अस्तु, जीवन को जीवन के वास्तविक रूप में ही व्यतीत करना है जड़ रूप में निष्क्रिय नहीं बनाना है। जगत् में जीवन तो जीवन के ही रूप में रहेगा जड़ के रूप में नहीं रह सकता। उसमें स्पन्दन का होना अनिवार्य है। यदि हठात् शरीर और वचन पर ताला डाल भी दिया जाय तब भी मन का क्या होगा ? वह तो अपने चंचल स्वभाव के कारण उछल-कूद करता ही रहेगा। वह हजारों प्रकार के बनाव और बिगाड़ करता रहता है। मन राजा है। भला उस पर सहसा ताला किस प्रकार लगाया जा सकता है ? अस्तु जीवन है तो ये सब हरकतें भी रहेंगी ही। किन्तु साधक में इतना सामर्थ्य आना चाहिए कि उसके जीवन की गाड़ी जब कभी गलत रास्ते पर जाने लगे तब वह उसे रोक दे और यथाशीघ्र सही रास्ते पर ले आए।

हाँ तो एक साधक स्वयं काम करता है। यदि उसमें विवेक है विचार है और चिन्तन है तो वह यथावसर चलता भी है और इधर-उधर के पाप-प्रवाह को कम भी करता है। यदि चलते समय कोई कीड़ा मार्ग में आ गया बालक आ गया या बूढ़ा आ गया तो उन्हें अवश्य बचा देता है। क्योंकि उसे चलना है पर विवेक के साथ।

हमारे यहाँ भारतीय संस्कृति की परम्परा में चलने के लिए भी नियम हैं। यदि सामने से बालक आ रहा है और रास्ता तंग है तो वयस्क पुरुष या स्त्री को किनारे पर खड़ा हो जाना चाहिए और उस बालक को पूरी सुविधा देनी

चाहिए। उसका सम्मान करना चाहिए। वालक दुर्वल है और उसे इधर-उधर भटकाना उचित नही, क्योकि वह गडवड मे पड जायगा। इसलिए उसे सीधे नाक की राह जाने दो। यदि कोई वहिन आ रही है तो भारतीय सस्कृति का तकाजा है कि पुरुप को वचकर एक ओर खडा हो जाना चाहिए और उस वहिन को सीधी राह से चलने देना चाहिए। यदि कोई वृद्ध आ रहा है तो नौजवान को अलग किनारे खडा हो जाना चाहिए और वृद्ध को इधर-उधर नही होने देना चाहिए। उसकी वृद्धावस्था का ख्याल रखकर उसे सुविधा के साथ चलने देना चाहिए। यदि कोई राजा आ रहा है तो प्रजा का कर्त्तव्य है कि वह राजा को रास्ता दे और किनारे खडी हो जाय। पहले राजा थे, अब इस जमाने मे नेता या सरक्षक होते हैं। न मालूम वे कहाँ और किस महत्त्वपूर्ण कार्य के लिए जा रहे है। उनके रास्ते मे रोडा क्यो अटकाया जाय ? और यदि सामने से साधु सत आ रहे हो, तो राजा को भी रास्ता बचाकर सामान्य प्रजाजन की भाँति किनारे खडा हो जाना चाहिए और साधु को सीधा चलने देना चाहिए।

अब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि साधु को भी कही रुकना चाहिए या नही ? सभ्यता और सस्कृति की आत्मा अपने आप ही बोल उठती है कि साधु चल रहा है और सामने से कोई मजदूर वजन लादे आ रहा है, तो साधु को भी रास्ता छोडकर किनारे खडा हो जाना चाहिए। जो मजदूर भार लेकर चल रहा है और एक-एक कदम बोझ से लदा चला

आ रहा है, बोझ से हांफता और पसीने से लथपथ हुआ धंस रहा है तो उसे हटने के लिए कभी नहीं कहना चाहिए। चाहे कोई राजा हो या साधु-संत हो उस मजदूर के लिए सबको हटना चाहिये।

यह सब क्या है? यही कि चलने में साथ जरूरत पड़ने पर 'ब्रेक' लगाना है। इसी प्रकार आवश्यकता होने पर अपने जीवन को रोक भी लेना चाहिए। यह नहीं कि गाड़ी छूट गई तो बस छूट ही गई। वह कहीं भी टकराये किन्तु हम तनिक भी इधर-उधर न होंगे! नहीं साधक को बच कर चलना चाहिए। आशय यह है कि जीवन की जो भी गतियाँ हैं उनमे खाना पीना पहनना आदि सभी कुछ सम्मिलित है। उन सब में प्रवृत्ति भी करनी है और निवृत्ति भी। प्रवृत्ति करते समय वातावरण समय व्यक्ति और स्थान आदि का यथोचित ध्यान रखना आवश्यक है। जीवन की गति को विवेक पूर्वक रोके भी रखना है और आगे भी बढ़ाना है।

इतनी भूमिका के बाद इस प्रश्न का उत्तर सरल हो जाता है कि करने मे ज्यादा पाप है या कराने में अथवा अनुमोदन मे ज्यादा पाप है? पहले ही कहा जा चुका है कि जैन-धर्म अनेकान्तवादी धर्म है। इसी दृष्टिकोण से यहाँ भी वास्तविकता का पता लगाया जा सकता है।

जो साधक स्वयं यतना-पूर्वक काम कर सकता है किन्तु वह स्वयं न करके किसी ऐसे व्यक्ति से जिसकी भूमिका उस काम के योग्य नहीं है जो उस काम को विवेक के साथ नहीं

चाहिए। उसका सम्मान करना चाहिए। बालक दुर्बल है और उसे इधर-उधर भटकाना उचित नही, क्योकि वह गडबड में पड जायगा। इसलिए उसे सीधे नाक की राह जाने दो। यदि कोई बहिन आ रही है तो भारतीय संस्कृति का तकाजा है कि पुरुष को बचकर एक ओर खडा हो जाना चाहिए और उस बहिन को सीधी राह से चलने देना चाहिए। यदि कोई वृद्ध आ रहा है तो नौजवान को अलग किनारे खडा हो जाना चाहिए और वृद्ध को इधर-उधर नही होने देना चाहिए। उसकी वृद्धावस्था का ख्याल रखकर उसे सुविधा के साथ चलने देना चाहिए। यदि कोई राजा आ रहा है तो प्रजा का कर्त्तव्य है कि वह राजा को रास्ता दे और किनारे खडी हो जाय। पहले राजा थे, अब इस जमाने मे नेता या सरक्षक होते हैं। न मालूम वे कहाँ और किस महत्त्वपूर्ण कार्य के लिए जा रहे है। उनके रास्ते मे रोडा क्यो अटकाया जाय ? और यदि सामने से साधु सत आ रहे हो, तो राजा को भी रास्ता बचाकर सामान्य प्रजाजन की भाँति किनारे खडा हो जाना चाहिए और साधु को सीधा चलने देना चाहिए।

अब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि साधु को भी कही रुकना चाहिए या नही ? सभ्यता और सस्कृति की आत्मा अपने आप ही बोल उठती है कि साधु चल रहा है और सामने से कोई मजदूर वजन लादे आ रहा है, तो साधु को भी रास्ता छोडकर किनारे खडा हो जाना चाहिए। जो मजदूर भार लेकर चल रहा है और एक-एक कदम बोझ से लदा चला

आ रहा है बोझ से हाँफता और पसीने से लथपथ हुआ चल रहा है तो उसे हटने के लिए कभी नहीं कहना चाहिए। चाहे कोई राजा हो या साधु-संत हो उस मजदूर के लिए सबको हटना चाहिये।

यह सब क्या है ? यही कि चलने में साथ जरूरत पड़ने पर ब्रेक लगाना है। इसी प्रकार आवश्यकता होने पर अपने जीवन को रोक भी लेना चाहिए। यह नहीं कि गाड़ी छूट गई तो बस छूट ही गई। वह कहीं भी टकराये किन्तु हम तनिक भी इधर-उधर न होंगे ! नहीं साधक को बच कर चलना चाहिए। आशय यह है कि जीवन की जो भी गतियाँ हैं उनमें खाना पीना पहनना आदि सभी कुछ सम्मिलित है। इन सब में प्रवृत्ति भी करनी है और निवृत्ति भी। प्रवृत्ति करते समय वातावरण समय व्यक्ति और स्थान आदि का यथोचित ध्यान रखना आवश्यक है। जीवन की गति को विवेक पूर्वक रोके भी रखना है और आगे भी बढ़ाना है।

इतनी भूमिका के बाद इस प्रश्न का उत्तर सरल हो जाता है कि करने में ज्यादा पाप है या कराने में अथवा अनुमोदन में ज्यादा पाप है ? पहले ही कहा जा चुका है कि जैन-धर्म अनेकान्तवादी धर्म है। इसी दृष्टिकोण से यहाँ भी वास्तविकता का पता लगाया जा सकता है।

जो साधक स्वयं यतना-पूर्वक काम कर सकता है किन्तु वह स्वयं न करके किसी ऐसे व्यक्ति से जिसकी भूमिका उस काम के योग्य नहीं है जो उस काम को विवेक के साथ नहीं

कर सकता है, यदि आग्रहपूर्वक करवाता है तो ऐसी स्थिति मे करने की अपेक्षा करवाने में ज्यादा पाप होता है। हमारे सत प्राय एक कहानी कहा करते हैं —

किसी के घर नव-वधू आई। धनिक वाप की पुत्री होने के कारण वह मायके मे घरेलू काम-काज नाममात्र को ही करती थी। अत घर-गृहस्थी के काम मे उसको निपुणता प्राप्त न होना स्वाभाविक था।

घरेलू काम-काज में निपुण न होते हुए भी कोई भी नव-वधू यह नही चाहती कि उसकी मौजूदगी मे सास या ननद भोजन बनावें। अतएव अपने उत्तरदायित्व को पहिचान कर वधू ने भोजन बनाने की रुचि प्रकट की और रसोई-घर मे जा पहुँची। परन्तु सास को यह मालूम था कि उस की पुत्र-वधू भोजन बनाना नही जानती, अत उसने बहू से कहा —

—तू रहने दे बहू, मै ही खाना बना लूँगी।

बहू—मेरे रहते हुए यह कैसे हो सकता है कि आप खाना बनाएँ ?

सास—अरी मुझे मालूम है कि तू भोजन बनाना नही जानती, इसलिए रहने भी दे।

बहू—यह कैसे मालूम हुआ कि मै भोजन बनाना नही जानती ? इस दोष को सदैव के लिए दूर करने के लिए मै अभी भोजन बनाकर दिखाए देती हूँ।

यह कहकर बहू भोजन बनाने मे जुट गई, और आटा गूँदना शुरू कर दिया, किन्तु विचारो की अस्थिरता के कारण

आटे में पानी अधिक पड़ गया। जिसका कुपरिणाम यह हुआ कि पानी के आधिक्य ने आटे का सखीलापन समाप्त कर दिया। इस दृश्य को सास गम्भीरता-पूर्वक देख रही थी। भला इस अवसर पर वह कैसे चुप रहती? अस्तु बुढ़िया बोली।

—बहू रानी मैंने तो पहले ही कहा था कि भोजन मैं ही बना लूंगी! क्योंकि तुझे भोजन बनाने का अभ्यास नहीं है। देखले तेरे हाथ से आटा पतला हो गया न? घर में और आटा भी नहीं है जिससे आटे के पतलेपन को दूर किया जा सके।

सास के कथनानुसार अपनी अनुभव-हीनता प्रमाणित हो जाने पर, बहू सहसा सहम-सी गई। परन्तु किसी भी उपाय द्वारा पतले आटे का उपयोग करना ही था अतः धीरज धारण कर विनम्र भाव से बोली।

—तो माता जी किस उपाय के द्वारा इस पतले आटे को ठीक किया जा सकेगा?

सास—ऐसे पतले आटे के तो पूए ही बन सकते हैं? सो मैं बनाए देती हूँ।

बहू—इसके पूए तो मैं ही बना लूँगी। आप मेरे पास ही बैठी रहें और आवश्यकतानुसार संकेत देती रहें।

बहू के सादर निवेदन को स्वीकार कर बुढ़िया वहीं बैठी रही और पूए बनाने के लिए आटे को कुछ और पतला करने के लिए, बहू को थोड़ा-सा पानी डालने को कहा। संकेत मिलते ही बहू ने पानी डालना शुरू किया और किसी

सनक मे इस वार भी पानी अधिक पड गया। इस वार आटे का रूप ही वदल गया, अर्थात्—श्वेत रंग का कोई पतला और तरल पदार्थ दिखाई देने लगा।

आटे की इस दुर्दशा ने चाहे वहू को चिन्तित और खिन्न-चित्त न वनाया हो, किन्तु बुढिया के मन को गहरी ठेस पहुँची, और उसी गम्भीर भाव से वह वोली।

—अरी लक्ष्मी! मैने तो पहले ही कहा था कि तू अपनी चतुराई मत कर, किन्तु तू कव मानने वाली थी। अब फेंकने के सिवाय इसका और कुछ न वनेगा।

बहू—फेंकने का काम तो मैं विना किसी के वताए ही कर लूँगी। भला, इस काम मे कौन-से शास्त्रीय ज्ञान तथा गुरू के उपदेश की जरूरत है? यह कहते हुए आटे के वर्तन को उठाकर उसे सडक पर फेंकने चली और जव ऊपर की मजिल की खिडकी के पास पहुँच गई, तव नीचे से वुढिया ने पुकार कर निर्देश दिया—

—अरी, तू अपनी जिद्द मे इसे ले तो गई है, किन्तु भले आदमी को देखकर ही फेंकना।

आज्ञाकारिणी पुत्र-बधू इस अन्तिम अवसर पर सास के उपदेश का भला कैसे उल्लघन करती? वह किसी भले आदमी के आने और खिडकी के नीचे से गुजरने की प्रतीक्षा करती रही। इतने मे ही कोई भला आदमी आता हुआ दिखलाई दिया, और ज्यो ही वह खिडकी के नीचे आया, त्यो ही बहू ने ऊपर से उसके ऊपर आटे का पानी डाल दिया।

सचमुच यदि कोई भला आदमी होता तो शायद उसकी ओर से इतनी उत्तेजना भी पैदा न होती। किन्तु दुर्भाग्य वश वह आदमी सज्जन कहलाने वाले व्यक्तियों में से न था। अपने को आटे के पानी से तरबतर पाकर वह उत्तेजित हो उठा और अपने स्वभाव के अनुसार बेसिर-पैर की अनर्गल बातें बकने लगा। उसकी उत्तेजनापूर्ण बकवास को सुनकर राह चलने वाले लोग इकट्ठे हो गए, और उस व्यक्ति को समझा-बुझाकर विवाद का निपटारा कर दिया।

आटे के भाग्य का अन्तिम फैसला करके जब नव-वधू ऊपर से नीचे आ गई तो सास ने पूछा —

अरी पगली! यह तूने क्या किया? क्या मेरे बतलाने का यही सतोषजनक फल होना चाहिए था?

वधू बोली—माता जी व्यर्थ में क्यों बिगड़ती हो? जैसा आपने बतलाया वैसा ही तो मैंने किया। क्या आपने यह नहीं कहा कि भले आदमी को देखकर ही पानी डालना? वधू के इस मूर्खतापूर्ण कथन को सुनकर सास ने अपना माथा ठोककर गहरी साँस लेते हुए कहा—हाय रे भाग्य! जो ऐसी सुलक्षणा पुत्र-वधू मिली।

हाँ तो उपयु क्त कथन का यही तात्पर्य है कि—कोई बहिन हो या कोई भाई हो! सबकी जीवन-यात्रा का एक ही मार्ग है। ऐसा भूलकर भी नहीं है कि महिलाओं के लिए कोई अलग पगडंडी बनी हो और पुरुषों के लिए कोई दूसरी। सभी के लिए केवल एक पगडंडी है और वह है— 'विवेक' की। यदि हमारा विचार सुस्थिर है और विवेक

अभीष्ट लक्ष्य-विन्दु मे केन्द्रित है, तो किसी कार्य को स्वय करना अथवा दूसरो से करवाना, दोनों ही प्रकार के मार्ग निश्चित रूप से ठीक होगे। विवेक के द्वारा ही पापो के प्रवाह से वचा जा सकता है। किन्तु जहाँ अविवेक का वाहुल्य है, अज्ञान है, फिर भी मनुष्य आग्रहपूर्वक काम करता या करवाता है और यथा प्रसग ब्रेक नही लगाता है तो अधिक पापार्जन करता है।

जव शरीर पर नही, तो वचन पर ब्रेक कैसे रह सकता है ? अस्तु अविवेकी मनुष्य इस प्रकार काम करता है जिससे ज्यादा हिंसा होती है और फिर उसकी प्रतिक्रिया सव ओर अशुद्ध वातावरण वना देती है। अच्छा, तो मतलव यह कि जहाँ अविवेक है, वहाँ करने में भी ज्यादा पाप है और कराने मे भी ज्यादा पाप है। इसके विपरीत जहाँ विवेक है, वहाँ स्वय करने मे भी और दूसरो से कराने मे भी पाप कम होता है।

एक वहिन जो विवेकवती है, यदि वह स्वय काम करती है, तो समय पडने पर जीवो को वचा देगी, चीजो का अपव्यय नही करेगी और चौके की मर्यादा को अहिंसा की दृष्टि से निभा सकेगी। सेठानी और हमारी वी० ए० तथा एम० ए० पास वहिनें स्वय काम न करके यदि एक अनजान नौकरानी को काम सौंप दे, जिसे कुछ पता नही कि विवेक क्या है ? वह रोटियाँ सेंककर आपके सामने डाल देती है, पर उसमे चौके की अहिंसा-सम्वन्धी मर्यादा की वुद्धि नही है। अहिंसा की सस्कृति के सम्बन्ध मे कोई स्पष्ट विचार-

धारा उसे नहीं मिली। इस स्थिति में यदि वह भोजन बनाने के काम पर बिठादी गई है तो समझिए कि कराने में ही पाप ज्यादा होगा। यदि कोई बहिन स्वयं विवेक के साथ कार्य करेगी कदम-कदम पर अहिंसा का विवेक लेकर चलेगी और अन्तर में दया एवं करुणा की लहर उद्बुद्ध होगी तो उसे ख्याल होगा कि खाने वाले क्या खाते हैं और वह उनके स्वास्थ्य के अनुकूल है या प्रतिकूल! किन्तु उसने आलस्यवश स्वयं कार्य न करके विवेकशून्य नौकरानी के गले मढ़ दिया तो वह कब देखने लगी कि पानी छना है या नहीं आटा देखा गया है या नहीं कीड़े-मकोड़े पड़े हैं या नहीं? इस तरह वह चौके को संहार-गृह का रूप दे देती है। किसी तरह रोटियाँ तैयार हो जाती हैं और आपके सामने रख दी जाती हैं। यहाँ कराने में भी ज्यादा पाप होता है।

इस प्रकार सत्य का महान् सिद्धान्त आपके सामने आ गया है। इसके विरुद्ध और कोई बात नहीं कही जा सकती और यह सिद्धान्त जैसे गृहस्थों पर लागू होता है उसी प्रकार साधुओं पर भी। कल्पना कीजिए—किन्हीं गुरुजी के पास एक शिष्य है। गुरुजी को गोचरी-संबन्धी नियम-उपनियम विधि-विधान सबका परिज्ञान है और शिष्य को भिक्षा-सम्बन्धी दोषों का ज्ञान नहीं है। नियमों और विधानों को भी वह अभी तक नहीं सीख-समझ पाया है। वह गोचरी का अर्थ केवल माल इकट्ठा करना ही जानता है। ऐसी स्थिति में यह समझना कठिन नहीं है कि गुरुजी यदि स्वयं गोचरी करने जाते तो विवेक का अधिक ध्यान रख सकते

थे। पर वे स्वय गोचरी करने नही गये और विवेकहीन शिष्य को भेज दिया। उसे पता नही कि किसे, कितनी, और किस चीज की आवश्यकता है ? जिस घर से भिक्षा ले रहा है वहाँ बूढो और बच्चो के लिए बच रहता है या नही ? उसे प्राणियो की हिंसा का भी कोई विशेष ध्यान नही है। यह शिष्य गोचरी मे दोषो का भडार ही लेकर आएगा। इस प्रकार स्वय करने की अपेक्षा दूसरो से करवाने मे ज्यादा हिंसा हो जाती है।

भारतीय सस्कृति, और उसमे भी विशेषत जैन-धर्म की यह शिक्षा है कि हर काम विवेक से करना चाहिए। विवेक और चिन्तन हर काम मे चालू रहना चाहिए। इस प्रकार किसी कार्य को स्वय करने और दूसरो से करवाने मे पाप की न्यूनाधिकता विवेक और अविवेक पर निर्भर करती है। विवेक के साथ 'स्वय' करने मे कम पाप है, जब कि अविवेक-पूर्वक दूसरे अयोग्य व्यक्ति से कराने मे अधिक पाप है। दूसरी ओर अविवेक से साथ स्वय करने मे अधिक पाप है, जब कि उसी कार्य को विवेक के साथ दूसरे योग्य व्यक्ति से कराने मे कम पाप है। यह जैन-धर्म की अनेकान्त दृष्टि है।

तीसरा करण अनुमोदन है। एक आदमी स्वय काम नही करता, दूसरो से करवाता भी नही, केवल काम करने वालो की सराहना करता है। कही लडाई हुई, इतने जोर से कि सिर फट गये। एक तमाशबीन बाजार के एक सिरे से दूसरे सिरे तक लडाई और सिरफुटौव्वल का समर्थन करता जाता है। वह कहता है—'वाह ! आज विना पैसे कैसा बढिया तमाशा

देखने को मिला ! बड़ा मजा आया। बहुत अच्छा हुआ कि उसका सिर फूटा और उसकी हड्डी का कचूमर निकल गया। आप स्वयं सोचिये—ऐसा कहकर लड़ाई का अनुमोदन करने वाला कितना कर्म-बन्ध कर रहा है ? वह कितने घोर अज्ञान में फँस रहा है ? उसने स्वयं लड़ाई की नहीं दूसरों से करवाई भी नहीं फिर भी सम्भव है वह लड़ने वालों से भी अधिक कर्म बाँध ले। लड़ने वाले आवेश में लड़े हैं। उनकी हिंसा विरोधी की और अपराधी की हिंसा हो सकती है, और सप्रयोजन भी हो सकती है। किन्तु अनुमोदन करने वाला व्यर्थ ही पाप की गठरी सिर पर लाद रहा है। अपराधी की हिंसा तो श्रावक के लिए क्षम्य हो सकती है परन्तु इस प्रकार के अनुमोदन की व्यर्थ हिंसा श्रावक के लिए कथमपि क्षम्य नहीं है। यहाँ करने और कराने की अपेक्षा अनुमोदन में अधिक हिंसा है।

जीवन में जब हम चलते हैं तो एकान्त पक्ष लेकर नहीं चल सकते। जैनधर्म कहता है कि कभी करने में कभी करवाने में और कभी अनुमोदन में ज्यादा पाप हो जाता है।

एक भाई की बात मेरे ध्यान में है। उसने अपने एक नौकर को फल लाने के लिए भेजा। नौकर ग्रामीण था बालक था अज्ञान था। वह सड़े हुए फल ले आया। वह ले तो आया किन्तु उस पर हजार-हजार गालियाँ पड़ीं। उस भाई ने स्वयं बतलाया कि मुझे उस समय इतना आवेश आया कि चार-चार चाँटे भी जड़ दिये।

मैंने उस भाई से कहा—तुमने ऐसे बालक को भेजा ही

है ? भगवान् ऋषभदेव से। वहीं से हम जीवन की कला सीखते हैं। भगवान् ऋषभदेव के समय उनके बड़े पुत्र भरत को चक्रवर्ती बनने का प्रसंग आया। वे लड़ाइयाँ लड़ते रहे। भारत की समस्त भूमि पर उनका स्वामित्व स्थापित हो गया। रह गए उनके भाई, जिन्होंने उनका अधिपत्य स्वीकार नहीं किया था। भरत ने सोचा—जब तक भाई भी मेरे सेनाचक्र के नीचे न आ जाएँ तब तक चक्रवर्ती का साम्राज्य पूरा न होगा।

यह सोचकर भरत ने अन्य भाइयों के पास खासकर बाहुबली के पास भी दूत भेजा। बाहुबली प्रचण्ड बल के धनी और अभिमानी थे। उन्होंने भरत की अधीनता स्वीकार करने से साफ इन्कार कर दिया। परिणाम यह हुआ कि भरत और बाहुबली की विशाल सेनाएँ मैदान में आ डटीं। जब दोनों ओर की सेनाएँ जूझने को तैयार थी सिर्फ शंख फूँकने भर की देर थी कि बाहुबली के चित्त में करुणा की एक मीठी लहर पैदा हुई।

वैसे तो इस प्रसंग पर इन्द्र के आने की बात आपने सुनी होगी। बहुत-सी लड़ाइयों में इन्द्र को बुलाया जाता है। किन्तु इतिहास के मूल में यह बात नहीं है। कोई कारण नहीं कि लड़ाई से होने वाली हिंसा की कल्पना करके इन्द्र का अन्तःकरण तो करुणा से परिपूर्ण हो जाय और बाहुबली जैसे अपने जीवन की भीतरी तह में विरक्ति-भाव अनासक्ति-भाव और करुणा-भाव धारण करने वाले के चित्त में इन्द्र के बराबर भी करुणा न हो। आचार्य जिनदास महत्तर ने

क्यो ? जिसे ज्ञान नही था, खरीदने के विषय में जिसे कुछ भी विवेक नही था। अब कहते हो, गुस्सा आ गया, किन्तु उस समय अपनी गलती नही मालूम की कि मैं किसे भेज रहा हूँ ? तुम्हारी अपनी गलती से ही गुस्सा, आवेश और मारने-पीटने की मनोवृत्ति जगी, और फल फेंकने पडे। दोप तुम्हारा था, किसी और का नही। तुम्हारे ही कारण इतना ववण्डर मचा। यदि विवेकपूर्वक तुम स्वय काम करते तो इतनी गलत चीजें क्यो होती ? तुम्हे क्यो घृणा और आवेश होता ? और मार-पीट भी क्यो करनी पडती ?

जीवन में इस प्रकार की जो साधारण घटनाएँ होती हैं, उन्ही से हम जीवन का निर्णय-सूत्र तैयार करते हैं और समझ लेते हैं कि विवेकपूर्वक काम करने से पाप कम होता है। अनजान से काम कराया तो उसने न जाने कितने जीवो की हिंसा की। इसके अतिरिक्त अपने मन में और नौकर के मन मे आवेश, घृणा आदि के कारण जो मानसिक-हिंसा और भाव-हिंसा हुई, सो अलग।

जीवन के ये दृष्टिकोण कुछ नये नही हैं, बहुत पुराने युग से यो ही चलते आ रहे है। जैन-धर्म के कुछ इतिहास सम्बन्धी पुराने पन्ने मैं आपके सामने ला रहा हूँ, जिनसे पता चलेगा कि जैन-सस्कृति ने जीवन मे कभी कुछ ऐसे प्रश्न छेडे हैं, जहाँ मनुष्य को कराने की अपेक्षा करने की ओर खीचा है और सकेत किया है कि कही करने से कराने मे ज्यादा पाप होता है।

जैन इतिहास का पहला अध्याय कहाँ से प्रारम्भ होता

है ? भगवान् ऋषभदेव से । वहीं से हम जीवन की कला सीखते हैं । भगवान् ऋषभदेव के समय उनके बड़े पुत्र भरत को चक्रवर्ती बनने का प्रसंग आया । वे लड़ाइयाँ लड़ते रहे । भारत की समस्त भूमि पर उनका स्वामित्व स्थापित हो गया । रह गए उनके भाई, जिन्होंने उनका अधिपत्य स्वीकार नहीं किया था । भरत ने सोचा—जब तक भाई भी मेरे सेनाचक्र के नीचे न आ जाएँ तब तक चक्रवर्ती का साम्राज्य पूरा न होगा ।

यह सोचकर भरत ने अन्य भाइयों के पास खासकर बाहुबली के पास भी दूत भेजा । बाहुबली प्रचण्ड बल के धनी और अभिमानी थे । उन्होंने भरत की अधीनता स्वीकार करने से साफ इन्कार कर दिया । परिणाम यह हुआ कि भरत और बाहुबली की विशाल सेनाएँ मैदान में आ डटीं । जब दोनों ओर की सेनाएँ जूझने को तैयार थीं सिर्फ शंख फूँकने भर की देर थी कि बाहुबली के चित्त में करुणा की एक मोनी लहर पैदा हुई ।

वसे तो इस प्रसग पर इन्द्र के आने की बात आपने सुनी होगी । बहुत-सी लड़ाइयों में इन्द्र को बुलाया जाता है । किन्तु इतिहास के मूल में यह बात नहीं है । कोई कारण नहीं कि लड़ाई से होने वाली हिंसा की कल्पना करके इन्द्र का अन्तःकरण तो करुणा से परिपूर्ण हो जाय और बाहुबली जैसे अपने जीवन की भीतरी तह में विरक्ति-भाव अनासक्ति-भाव और करुणा-भाव धारण करने वाले के चित्त में इन्द्र के बराबर भी करुणा न हो । आचार्य जिनदास महत्तर ने

क्यो ? जिसे ज्ञान नही था, खरीदने के विषय में जिसे कुछ भी विवेक नही था। अब कहते हो, गुस्सा आ गया, किन्तु उस समय अपनी गलती नही मालूम की कि मैं किसे भेज रहा हूँ ? तुम्हारी अपनी गलती से ही गुस्सा, आवेश और मारने-पीटने की मनोवृत्ति जगी, और फल फेंकने पडे। दोष तुम्हारा था, किसी और का नही। तुम्हारे ही कारण इतना बवण्डर मचा। यदि विवेकपूर्वक तुम स्वय काम करते तो इतनी गलत चीजें क्यो होती ? तुम्हें क्यो घृणा और आवेश होता ? और मार-पीट भी क्यो करनी पडती ?

जीवन में इस प्रकार की जो साधारण घटनाएँ होती हैं, उन्ही से हम जीवन का निर्णय-सूत्र तैयार करते हैं और समझ लेते है कि विवेकपूर्वक काम करने से पाप कम होता है। अनजान से काम कराया तो उसने न जाने कितने जीवो की हिंसा की। इसके अतिरिक्त अपने मन में और नौकर के मन मे आवेश, घृणा आदि के कारण जो मानसिक-हिंसा और भाव-हिंसा हुई, सो अलग।

जीवन के ये दृष्टिकोण कुछ नये नही हैं बहुत पुराने युग से यो ही चलते आ रहे है। जैन-धर्म के कुछ इतिहास सम्बन्धी पुराने पन्ने मैं आपके सामने ला रहा हूँ, जिनसे पता चलेगा कि जैन-सस्कृति ने जीवन मे कभी कुछ ऐसे प्रश्न छेडे हैं, जहाँ मनुष्य को कराने की अपेक्षा करने की ओर खीचा है और सकेत किया है कि कही करने से कराने में ज्यादा पाप होता है।

जैन इतिहास का पहला अध्याय कहाँ से प्रारम्भ होता

है ? भगवान् ऋषभदेव से । वहीं से हम जीवन की कला सीखते हैं । भगवान् ऋषभदेव के समय उनके बड़े पुत्र भरत को चक्रवर्ती बनने का प्रसंग आया । वे लड़ाइयाँ लड़ते रहे । भारत की समस्त भूमि पर उनका स्वामित्व स्थापित हो गया । रह गए उनके भाई, जिन्होंने उनका आधिपत्य स्वीकार नहीं किया था । भरत ने सोचा—जब तक भाई भी मेरे सेनाचक्र के नीचे न आ जाएँ तब तक चक्रवर्ती का साम्राज्य पूरा न होगा ।

यह सोचकर भरत ने अन्य भाइयों के पास खासकर बाहुबली के पास भी दूत भेजा । बाहुबली प्रचण्ड बल के धनी और अभिमानी थे । उन्होंने भरत की अधीनता स्वीकार करने से साफ इन्कार कर दिया । परिणाम यह हुआ कि भरत और बाहुबली की विशाल सेनाएँ मैदान में आ डटीं । जब दोनों ओर की सेनाएँ जूझने को तैयार थी सिर्फ शंख फूँकने भर की देर थी कि बाहुबली के चित्त में करुणा की एक मीठी लहर पैदा हुई ।

वैसे तो इस प्रसंग पर इन्द्र के आने की बात आपने सुनी होगी । बहुत-सी लड़ाइयों में इन्द्र को बुलाया जाता है । किन्तु इतिहास के मूल में यह बात नहीं है । कोई कारण नहीं कि लड़ाई से होने वाली हिंसा की कल्पना करके इन्द्र का अन्तःकरण तो करुणा से परिपूर्ण हो जाय और बाहुबली जैसे अपने जीवन की भीतरी तह में विरक्ति-भाव अनासक्ति-भाव और करुणा-भाव धारण करने वाले के चित्त में इन्द्र के बराबर भी करुणा न हो । आचार्य जिनदास महत्तर ने

क्यो ? जिसे ज्ञान नही था, खरीदने के विषय में जिसे कुछ भी विवेक नही था । अब कहते हो, गुस्सा आ गया, किन्तु उस समय अपनी गलती नही मालूम की कि मैं किसे भेज रहा हूँ ? तुम्हारी अपनी गलती से ही गुस्सा, आवेश और मारने-पीटने की मनोवृत्ति जगी, और फल फेंकने पडे । दोष तुम्हारा था, किसी और का नही । तुम्हारे ही कारण इतना बवण्डर मचा । यदि विवेकपूर्वक तुम स्वय काम करते तो इतनी गलत चीज क्यो होती ? तुम्हे क्यो घृणा और आवेश होता ? और मार-पीट भी क्यो करनी पडती ?

जीवन में इस प्रकार की जो साधारण घटनाएँ होती है, उन्ही से हम जीवन का निर्णय-सूत्र तैयार करते हैं और समझ लेते हैं कि विवेकपूर्वक काम करने से पाप कम होता है । अनजान से काम कराया तो उसने न जाने कितने जीवो की हिंसा की । इसके अतिरिक्त अपने मन मे और नौकर के मन मे आवेश, घृणा आदि के कारण जो मानसिक-हिंसा और भाव-हिंसा हुई, सो अलग ।

जीवन के ये दृष्टिकोण कुछ नये नही हैं बहुत पुराने युग से यो ही चलते आ रहे हैं । जैन-धर्म के कुछ इतिहास सम्बन्धी पुराने पन्ने मैं आपके सामने ला रहा हूँ, जिनमे पता चलेगा कि जैन-सस्कृति ने जीवन मे कभी कुछ ऐसे प्रश्न छेडे हैं, जहाँ मनुष्य को कराने की अपेक्षा करने की ओर खीचा है और सकेत किया है कि कही करने मे कराने मे ज्यादा पाप होता है ।

जैन इतिहास का पहला अध्याय कहाँ से प्रारम्भ होता

है ? भगवान् ऋषभदेव से । वहीं से हम जीवन की कला सीखते हैं । भगवान् ऋषभदेव के समय उनके बड़े पुत्र भरत को चक्रवर्ती बनने का प्रसंग आया । वे लड़ाइयाँ लड़ते रहे । भारत की समस्त भूमि पर उनका स्वामित्व स्थापित हो गया । रह गए उनके भाई, जिन्होंने उनका आधिपत्य स्वीकार नहीं किया था । भरत ने सोचा—जब तक भाई भी मेरे सेनापक के नीचे न आ जाएँ तब तक चक्रवर्ती का साम्राज्य पूरा न होगा ।

यह सोचकर भरत ने अन्य भाइयों के पास जाकर बाहुबली के पास भी दूत भेजा । बाहुबली प्रचण्ड बल के धनी और अभिमानी थे । उन्होंने भरत की अधीनता स्वीकार करने से साफ इन्कार कर दिया । परिणाम यह हुआ कि भरत और बाहुबली की विशाल सेनाएँ मैदान में आ डटीं । जब दोनों ओर की सेनाएँ जूझने को तैयार थीं सिर्फ शंख फूंकने भर की देर थी कि बाहुबली के चित्त में करुणा की एक मोठी लहर पैदा हुई ।

वैसे तो इस प्रसंग पर इन्द्र के आने की बात आपने सुनी होगी । बहुत-सी लड़ाइयों में इन्द्र को बुलाया जाता है । किन्तु इतिहास के मूल में यह बात नहीं है । कोई कारण नहीं कि लड़ाई से होने वाली हिंसा की कल्पना करके इन्द्र का अन्तःकरण तो करुणा से परिपूर्ण हो जाय और बाहुबली जैसे अपने जीवन की भीतरी तह में विरक्ति-भाव अनासक्ति-भाव और करुणा-भाव धारण करने वाले के चित्त में इन्द्र के बराबर भी करुणा न हो । आचार्य जिनदास महत्तर ने

आवश्यक चूर्णि मे इन्द्रो के आने का उल्लेख नही किया है। स्वय बाहुबली के हृदय मे ही करुणा के स्रोत का उमडना लिखा है। दिगम्बर परम्परा भी ऐसा ही मानती है।

किन्तु वास्तविकता यह है कि बाहुबली ने देखा—भरत को चक्रवर्त्ती बनना है और मै उसके पथ का रोडा हूँ। तब मेरा स्वाभिमान मुझे आज्ञा देता है कि भरत की आज्ञा स्वीकार न करूँ, क्योकि वह अनुचित आज्ञा है। भाई को, भाई से भाई के रूप मे सेवा लेने का अधिकार है। भरत बडे है, मैं छोटा हूँ। इस हैसियत से मै हजार बार सेवा करने को तैयार हूँ। किन्तु मै भाई बनकर ही आज्ञा उठाऊँगा, दास या गुलाम बनकर नही।

बाहुबली की वृत्ति मे यही मूल चिन्तन था। उन्होने सोचा—भरत है, जो चक्रवर्त्ती बनने को तैयार हैं, और मैं हूँ, जो स्वाभिमान को तिलाँजलि नही दे सकता। हम दोनो अपनी-अपनी बात पर अटल रहने के लिए ही तलवारे लेकर मैदान मे आये हैं। अब तो प्रश्न भरत का और मेरा है। बेचारी यह गरीब प्रजा क्यो कट-कटकर मरे ? हम दोनो के झगडे मे हजारो-लाखो मनुष्य दोनो तरफ के कट मरेंगे, कितना भीषण नर-सहार होगा, न मालूम कितनी सुहागिनो का सौभाग्य सिंदूर पुँछ जायगा, कितनी हजार माताएँ अपने कलेजो के टुकडो के लिए विलाप करेंगी, कौन जाने कितने पिता अपने पुत्रो के लिए और कितने पुत्र अपने पिताओ के लिए हजार-हजार आँसू बहाएँगे ?

बाहुबली ने भरत के पास सन्देश भेजा—'आओ भाई ! इस

लड़ाई का फैसला हम और तुम दोनों आपस में कर लें। यह उचित नहीं कि प्रजा लड़े और हम लोग अपने-अपने डेरों में बैठे दर्शकों की तरह लड़ाई देखते रहें। अच्छा हो सिर्फ हम दोनों ही आपस में लड़ें और इस व्यर्थ के नर-संहार को समाप्त करें।

इसका क्या अर्थ हुआ? यही कि कराएँ नहीं स्वयं करें। कराने में जो विराट हिंसा थी उसे स्वयं करने में सीमित कर दिया। हाँ तो दोनों भाई लड़ाई के मैदान में उतर आये। आँखों का युद्ध हुआ मुष्टि का युद्ध हुआ। इस सीमित युद्ध में भी अहिंसा की उल्लेखनीय सीमा यह है कि मरना-मारना किसी को नहीं है। केवल जय और पराजय का निर्णय करना है। फिर यह निर्णय तो खून की एक भी बूँद बहाए बिना उक्त तरीके से भी हो सकता है। संसार के इतिहास में यह सर्वप्रथम अहिंसक युद्ध था।

यहाँ जैन-धर्म का एक सुन्दर दृष्टिकोण परिलक्षित होता है और जब मैं इस पर विचार करता हूँ तो बाहुबली को हजार-हजार धन्यवाद देने पड़ते हैं। उनके मन में करुणा की वह उज्ज्वल धारा थी कि उन्होंने हजारों-लाखों आदमियों को गाजर-मूली की तरह कटने से बचा लिया। उन्होंने स्वयं लड़ने की अपेक्षा दूसरों को लड़वाने में अपने जीवन को अधिक मैला देखा। जैन-धर्म का वह युग-पुरुष जब युद्ध करवाने की अपेक्षा स्वयं युद्ध करने को उद्यत हुआ तो उसके उस महान् ऐतिहासिक निर्णय का मर्म-मर्म चमकने लगा।

आगे फिर जैन इतिहास के पन्ने उलटिए। भगवान्

मुनिसुव्रत स्वामी का युग रामायण काल है। रामायण जैन-सस्कृति की दृष्टि से पद्मपुराण के रूप मे है। आचार्य हेमचन्द्र ने भी रामायण की कथा लिखी है और आचार्य विमल ने भी। भगवान् महावीर के पाँच-सौ वर्ष बाद जो विमल रामायण लिखी गई है, वह प्राकृत भाषा मे है। उसे आप पढेगे तो मालूम होगा कि उसमे युद्ध के फैसले का एक नया अध्याय है।

एक ओर बाली है और दूसरी ओर रावण। बाली से अपना अधिकार मनवाने के लिए, उसे अपने सेवक के रूप में रखने के लिए रावण एक बडी सेना लेकर किष्किन्धा पर चढ आता है। दूसरी तरफ से बाली की विशाल सेना भी डट जाती है, दोनो ओर के सेनापति इस इन्तजार मे थे कि कब युद्ध का शख बजे, तलवारें चमके और रणभूमि रक्त-स्नान करे। उसी समय बाली युद्ध के मैदान मे आ पहुँचा। सबसे पहले उसके मन में यह तर्क उत्पन्न हुआ कि 'आखिर इन दोनो जातियो के लड-मर जाने से क्या होगा? लाखो इन्सान मौत के घाट उतर जाएँगे, पर नतीजा क्या निकलेगा? जय-पराजय का प्रश्न तो मेरा और रावण का है। यहाँ तो व्यक्तिगत दावा है और व्यक्तिगत महत्त्वाकाक्षा है। मै और रावण विजेता के रूप मे रहना चाहते हैं। इसमे इन गरीबो को क्या मिल जाने वाला है? क्यो इन्हे सिर कटवाने के लिए मैदान मे खडा कर दिया गया है?'

आखिर, बाली ने रावण के पास सदेश भेजा—"तू बडा है और तेरी शक्ति की दुनिया पूजा भी करती है। फिर वह शक्ति वास्तव में है कहाँ? तेरे अन्दर है या प्रजा में? और इधर मेरे

मन में भी महत्त्वाकांक्षा है। यदि मैं तुम्हें सम्राट् नहीं मानता तो मेरी प्रजा इसके लिए क्यों उत्तरदायी हो? अतः आओ तुम और हम दोनों ही क्यों न लड़ लें? प्रजा को अकारण क्यों लड़ाएँ?

जैन रामायण कहती है कि आखिर बाली की बात स्वीकार कर ली गई। दोनों ओर की सेनाओं को तटस्थ भाव से खड़ा कर दिया गया। रावण और बाली में ही युद्ध हुआ। इस युद्ध में रावण को करारी हार मिली।

जैन-साहित्य की यह कथाएँ अर्थहीन नहीं हैं। इनका अर्थ भी साधारण नहीं है। इन कथाओं में युद्ध के अहिंसात्मक दृष्टिकोण का कुशलता के साथ चित्रण किया गया है। एक बुराई जब अनिवार्य हो जाय तो उसकी व्यापकता को किस प्रकार कम किया जाए, हिंसा की उन्मुक्त प्रवृत्ति को किस तरह सीमित करना चाहिए यही इन कथाओं का मर्म है। हम देखते हैं कि मनुष्य की हिंसा प्रवृत्ति यहाँ करवाने की अपेक्षा स्वयं कर लेने के रूप में किस प्रकार सीमित कर दी गई है? इस प्रकार लड़वाना महान् आरम्भ की भूमिका है जबकि लड़ना अल्पारम्भ की भूमिका है।

जो हिटलर विश्व-युद्ध की भयंकर ज्वाला में भस्म हो गया कहा जाता है—उसने युद्ध में अपने हाथ से एक भी गोली नहीं चलाई और एक भी सैनिक का अपने हाथ से खून नहीं बहाया। वह फौजों को ही लड़ाता रहा। तब क्या उसे पाप नहीं लगा या कम लगा? क्या पाप की गठरी केवल लड़ने वाले सैनिकों के ही सिर लदेगी? यह भी कह सकता

था–"मैं तो अहिंसक हूँ। मैंने लडाई नही लडी, मैने एक चाकू भी नही चलाया, खून की एक बूँद भी नही बहाई।" गांव के गांव नष्ट हो गये, शहर के शहर तबाह हो गये। फिर भी यदि हिटलर या स्टालिन यह कहें कि "हम तो लडवाने वाले थे, लडने वाले नही। पाप लडने वालो को लगता है, लडवाने वालो को नही"। क्या उनकी यह दलील आपके दिल पर असर करती है ? क्या कोई भी समझदार इस तर्क को स्वीकार कर सकेगा ? नही। वे खुद लडे होते तो वहाँ शक्ति सीमित होती। जब दूसरो को लडवाया, तभी लाखो-करोडो आदमी इकट्ठे किये गए, महीनो और वर्षों तक लडाई भी जारी रही। इस प्रकार स्वय न लडकर दूसरो को लडवाने के द्वारा युद्ध करने में बहुत विराट हिंसा सामने खडी हो जाती है।

इन सब बातो पर जब हम गम्भीरता से विचार करते हैं तो हमारे सामने स्पष्ट हो जाता है कि जैन-धर्म ने कही पर गृह-कार्य आदि दूसरो से करवाने की अपेक्षा स्वय कर लेने में कम पाप माना है। कही करने की अपेक्षा करवाने मे कम, और कही करने-करवाने की अपेक्षा अनुमोदन मे कम पाप स्वीकार किया है। यह ऐसे दृष्टिकोण हैं, जिनकी सचाई चिन्तन की गहरी डुबकी लगाने पर ही स्पष्टो होत है, अन्यथा नही।

एक जज है। कत्ल का मुकदमा उसके सामने है। वह विचारो की गहराई मे डुबकियाँ लगाता है और निरन्तर सोचता है। अपने कर्त्तव्य मे किसी प्रकार की अवज्ञा भी नहीं करता है।

पुलिस अभियुक्त को पकड़कर लाती है। वह चाहे वास्तविक अपराधी को लाई है अथवा छान-बीन किये बिना ही किसी निरपराध को मौत के घाट उतारने के लिए पकड़ लाई है। किन्तु जज विचार करता है— अपराधी भले ही छूट जाए, किन्तु किसी निरपराध को दण्ड नहीं मिलना चाहिए। जज का सिंहासन न्याय के अनुसार केवल दण्ड देने के लिए ही नहीं है अपितु निरपराध को दण्ड से बचाने के लिए भी है। एक अच्छे वकील का भी यही आदर्श होना चाहिए। हाँ तो वकीलों की सहायता से खूब अच्छी तरह सोच-विचार कर जज ने छान-बीन की। अभियुक्त अपराधी सिद्ध हुआ और उसे कानून के अनुसार दण्ड भी मिला।

यहाँ विचार करना है कि अपराधी को दण्ड तो मिला किन्तु क्या उसके प्रति जज का कोई व्यक्तिगत द्वेष था? नहीं! वह समाज का कानून अपराधी के सामने रखता है कि "तुमने अपना जीवन विकृत बना लिया है अतः समाज नहीं चाहता कि तुम उसमें रहो। अब तुम्हें समाज से विदा हो जाना चाहिए। इस प्रकार अपराधी के प्रति जज के हृदय में घृणा या द्वेष न होने पर भी उसे मौत की सजा सुनानी पड़ती है। अपराधी जल्लाद के सिपुर्द कर दिया जाता है।

जल्लाद उसे लेकर चलता है। वह सोचता है—"इसने गुनाह किया है फलतः समाज की ओर से सजा देने का उत्तरदायित्व मेरे ऊपर आया है। इसके पाप का फल इसके सामने आ रहा है। मैं तो केवल आज्ञा-पालन के लिए हूँ। मैं फाँसी देने वाला कौन? फाँसी तो इसके दुराचरण ही दे रहे हैं।

यहाँ एक हिंसा कर रहा है, दूसरा करवा रहा है और हजारो दर्शक फाँसी पर झूलते अपराधी को देखने के लिए जमा है। उनमे से कुछ कहते है--"अच्छा हुआ जालिम पकडा गया। अब देर क्यो हो रही है ? जल्दी ही तख्ता क्यो नही हटा दिया जाता ?" और इस खुशी मे वे उछलते-कूदते हैं।

अव देखना यह है कि न्यायाधीश, जल्लाद और दर्शको मे से कौन अधिक पाप बाँध रहा है ? जब मनोवृत्ति से ही पाप का गहरा सम्बन्ध है तो स्पष्ट है कि यद्यपि जल्लाद फाँसी दे रहा है और न्यायाधीश दिला रहा है। फिर भी उन दोनो की अपेक्षा दर्शक अपनी क्रूर मनोवृत्ति के कारण अधिक पाप का बन्धन करते हैं। न्यायाधीश और जल्लाद, यदि अन्दर मे पूर्ण तटस्थ रह सकें, एकमात्र कर्त्तव्य-पालन की ही भूमिका पर खडे रहे, व्यक्तिगत घृणा का स्पर्श भी मन मे न होने दें, तो सभव है उनको पाप का स्पर्शमात्र भी न हो। परन्तु विवेकहीन दर्शक व्यक्तिगत घृणा की दल-दल मे फँसे हुए हैं, अत निश्चय ही वे पाप की तीव्रता से मलिन हो रहे है।

इस प्रकार जैन-धर्म की विचारधारा इकहरी नही है। वह अनेकान्त दृष्टि है। किन्तु कुछ लोगो ने परिस्थिति-विशेष का उचित विचार न कर, मनोभूमिका को ठीक तरह से न परख और विवेक-अविवेक का वास्तविक विवेक भुलाकर, एकान्त समझ लिया है कि करने या करवाने मे ही अधिक पाप है। किन्तु जो जैन-धर्म की अनेकान्त दृष्टि को समझ लेता है, वह कभी एकान्त का आग्रही नही बनता।

कृत, कारित और अनुमोदित पाप की न्यूनाधिकता को

समझने के लिए अनेकान्त-दृष्टि का प्रयोग करना आवश्यक है। साथ ही यह स्मरण रखना भी आवश्यक है कि पाप की अधिकता या हीनता का प्रधान केन्द्र-बिन्दु यथाक्रम विवेक का न होना और होना ही है।

— ५ —

अहिंसा के दो रूप

(अनुग्रह और निग्रह)

अपने जीवन मे किसी को कष्ट न पहुँचाना, अपने व्यवहार के द्वारा किसी प्राणी को पीडा न देना, अपितु उसे सुख-शान्ति पहुँचाना ही अहिंसा है। किसी जीव पर अनुकम्पा करना, दया करना—अहिसा है। कुछ लोगो को छोडकर इस बात से कोई इन्कार करने वाला नही है।

इस प्रकार जब यह निश्चित है कि अनुग्रह करना अहिंसा है तो अब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि निगह करना क्या है ? निग्रह मे हिंसा ही है, अथवा अहिंसा भी हो सकती है ? यहाँ इसी गभीर प्रश्न पर विचार करना है।

जब कभी समाज के सामने यह गभीर प्रश्न उपस्थित हुआ है, तभी वह सोच मे पड गया है, और कभी-कभी इधर-उधर भटक भी गया। इस प्रश्न का जैसा चाहिए था वैसा सीधा स्पष्ट उत्तर नही दिया गया। और जिन्होने कभी साहस-पूर्वक उत्तर देने का प्रयास भी किया तो उन्हे ठीक-ठीक समझा नही गया। फलत लोग अभी तक भ्रम मे पडे हुए हैं।

अब हमें देखना यह है कि इस विषय में जैन-धर्म क्या कहता है ? जैन-धर्म अनुग्रह में तो अहिंसा को स्वीकार करता ही है पर निग्रह के विषय में उसका क्या अभिमत है ? दण्ड में अहिंसा है या नहीं ।

यदि दण्ड में अहिंसा नहीं है क्योंकि जिसे दण्ड दिया जाता है उसे स्वभावतः कष्ट होता है और जब कष्ट होता है तो निग्रह या दण्ड अहिंसा नहीं हिंसा बन जाता है और जब वह हिंसा बन गया तो फिर जैन-धर्म में आचार्य का कोई महत्व नहीं होना चाहिए । परन्तु हम शासन व्यवहार में देखते हैं वहाँ आचार्य का महत्वपूर्ण स्थान है ।

आचार्य एक साधु है और जो साधुता एक सामान्य साधु में होती है वही आचार्य में भी होती है । ऐसा नहीं कि साधु तो पाँच महाव्रती हो और आचार्य कोई छठा-सातवाँ महाव्रत भी पालता हो । इस प्रकार सामान्य साधु और आचार्य दोनों ही साधुता तथा महाव्रतों की दृष्टि से तो समान हैं । हाँ व्यक्तिगत जीवन की आचार विषयक न्यूनाधिकता हो सकती है और वह तो सामान्य साधुओं में भी हो सकती है और वह होती ही है । परन्तु उससे साधु और आचार्य का का भेद नहीं हो सकता । फिर आचार्य का महत्व किस रूप में है ?

यदि जैन धर्म के अनुसार अनुग्रह ही अहिंसा है और निग्रह अहिंसा नहीं है बल्कि हिंसा ही है तो आचार्य के लिए कोई स्थान नहीं होना चाहिये । जैन-धर्म में हिंसा को कोई स्थान नहीं है और जब हिंसा के लिए स्थान नहीं है

तो हिंसा-स्वरूप दण्ड के लिए भी कोई स्थान नही है, और जब दण्ड के लिए स्थान नही है तो फिर आचार्य के लिए भी स्थान नही होना चाहिए। क्योकि आचार्य अपने औचित्य के अनुसार दोपी को दण्ड देता है।

आचार्य सघ का नेतृत्व करता है। वह देखता रहता है कि कौन क्या कर रहा है, और किस विधि से कर रहा है ? कौन साधक किस पगडडी पर चल रहा है ? सब ठीक-ठीक चल रहे हैं या कोई पथ विचलित हो गया है ? यह निरीक्षण कार्य आचार्य का ही उत्तरदायित्व है। जब सब ठीक-ठीक चलते हैं तो सबको उनका अनुग्रह मिलता रहता है, छोटे-से छोटे साधुओ को भी। बहुधा महान् आचार्यों को देखा है कि छोटो के प्रति उनका अनुग्रह अपेक्षाकृत अधिक रहता है। जिस प्रकार पिता, पुत्र को प्रेम की दृष्टि से देखता है, उसी प्रकार आचार्य भी अपने छोटे से छोटे शिष्य पर अपार प्रेम बरसाते हैं। क्षुल्लको के समान ही वृद्धो के लिए भी सेवा का पूरा-पूरा ध्यान रखते हैं। वे निरन्तर इस बात का पूरा ध्यान रखते हैं कि सघ मे किसी को किसी प्रकार का कष्ट न होने पाए। यदि किसी पर कष्ट आ भी पडता है तो उसकी शान्तिमय निवृति के लिए सद्भावना प्रेरित करते हैं। शिक्षार्थी मुनियो का अध्ययन ठीक चल रहा है या नही, और स्थविरो की सेवा की सुव्यवस्था है या नही। छोटे बालक जो प्राय सघ मे आते है उनका समुचित विकास तथा प्रगति हो रही है या नही। छोटो के प्रति समाज में छोटे-बडे की ऐसी उपेक्षा भावना तो नही है कि—अरे ! छोटे

साधुओं में क्या रखा है इत्यादि। अपने उत्तरदायित्व के नाते आचार्य छोटी-बड़ी सभी बातों का ध्यान रखते हैं और सभी के प्रति यथोचित अनुग्रह रखते हैं।

परन्तु आचार्य का अनुग्रह तभी तक प्राप्त होता है जब तक साधक मर्यादा में चलते हैं और अनुशासन का पूर्णतः पालन करते हैं। इसी कारण आचार्य को गोप की उपमा दी गई है। भगवान् महावीर को भी महागोप कहते हैं, अर्थात्—सबसे बड़े ग्वाले। ग्वाला अपनी गायों भैंसों तथा अन्य पशुओं को वन भूमि की ओर लेकर चलता है। जब तक पशु ठीक-ठीक चलता है तब तक वह अपने दण्ड का प्रयोग नहीं करता अर्थात् डण्डा नहीं मारता। यदि भावावेश में बिना कारण ही डण्डा मार देता है तो समझना चाहिये कि वह पागल हो गया है। जब ग्वाला इस प्रकार का पागलपन प्रस्तुत करे तो उसे पशुओं को चराने का अधिकार नहीं देना चाहिए। इसके विपरीत जब कोई पशु दौड़कर आस-पास के खेत में मुँह डाल देता है तो उसे विवेक के साथ डण्डे का प्रयोग करना चाहिए और पशु को खेत से बाहर कर देना चाहिए। वह पशुओं को इधर-उधर नहीं भटकने देगा और मर्यादा से बाहर पशुओं की हरकत देखकर उन पर डण्डे का उचित प्रयोग भी करेगा।

हाँ तो ग्वाले का रूपक भगवान् महावीर के लिए भी प्रयुक्त किया गया है। क्योंकि भगवान् महागोप थे। आचार्यों को भी संघ का गोप कहा गया है। अर्थात् साधु और श्रावक जब तक अनुशासन की मर्यादा में चलते हैं तब तक आचार्य

उन्हे दण्ड नही देते, बल्कि अपार अनुग्रह की रस-वर्षा करते है। परन्तु जब आचार्य यह देखते हैं कि कोई मर्यादा के बाहर गया है और उसी गति मे चला जा रहा है तो उस समय वे उसे डांटते है, और यदि कोई गलती करता है तो उसे दण्ड भी देते है। जब आचार्य दण्ड देते हैं तो आखिर दण्ड तो अपना तद्‌रूप प्रभाव करेगा ही।

आचार-संहिता के अनुसार साधु का यह कर्त्तव्य बतलाया गया है कि कदाचित् साधु मर्यादा से बाहर चला जाय या गलती कर बैठे तो उसे अपने को तत्काल संभाल लेना चाहिये और स्वय ही आचार्य को अपने दोषयुक्त कार्य की सूचना दे देनी चाहिए कि मुझसे अमुक गलती हो गई है। चाहे मनुष्य कितना ही सावधान क्यो न रहे, किन्तु जब तक वह साधक है और प्रारम्भिक साधना में लगा हुआ है, तब तक उससे कही न कही, छोटी-मोटी भूल हो जानी स्वाभाविक है।

इस सम्बन्ध मे भगवान् महावीर ने कहा है कि प्रत्येक क्षण जीवन में जागते रहो। क्या कारण है कि जागते हुए भी सो जाओ? और यदि बाहर मे सोए हुए हो, तब भी अन्दर मे पूर्णत जागृत रहो।

'असुत्ता मुणी'
'मुणिणो सया जागरति'
—आचारांग

जब साधु जागृत अवस्था मे है तब तो वह जागता है ही, किन्तु जब निद्रावस्था मे हो तब भी उसे जागता ही

समझो। वह जब अकेला है तब भी जागता है। जब वह सब के बीच में है तब भी जागता है। नगर में है तब भी जागता है और यदि वह वन में वास कर रहा है तब भी जागता रहता है। साधु के सम्बन्ध में जो पाठ आता है उसमें कहा गया है —

"दिया वा राओ वा एगओ वा परिसागओ वा।
सुत्ते वा जागरमाणे वा॥"

—दशवैकालिक सूत्र चतुर्थ अध्ययन।

इस प्रकार साधु को प्रत्येक परिस्थिति में एक ही निर्दिष्ट मार्ग पर चलना है। अकेले में भी और हजारों के बीच में भी सोते हुए भी और जागते हुए भी वन में भी और नगर में भी। साधना जीवन की समरसता है। वह अपने लिए है अपने विकास के लिए है। अतः वह हर हालत में एक रूप रहनी चाहिए। सच्चा साधक दर्शकों की उपस्थिति या अनुपस्थिति को सामने रखकर अपने जीवन-पथ का मानचित्र तैयार नहीं करता।

आपने राजस्थान की वीर नारियों के सम्बन्ध में सुना होगा और उस मीरा के सम्बन्ध में तो अवश्य ही जिसने सोने के महलों में जन्म लिया और सोने के महलों में ही जिसका विवाह भी सम्पन्न हुआ। हाँ तो एक दिन जिसे संसार की भौतिक ताकत ने कहा कि उसे महलों में ही बन्द कर दो और वैभव की मोहक नींद में सुला दो। फिर भी वह महलों में बन्द नहीं हो सकी वैभव की नींद नहीं सो सकी। भगवत् प्रेम का महान् आदर्श उसके हृदय के कण-कण में

उन्हे दण्ड नही देते, वल्कि अपार अनुग्रह की रस-वर्षा करते है। परन्तु जव आचार्य यह देखते है कि कोई मर्यादा के वाहर गया है और उसी गति से चला जा रहा है तो उस समय वे उसे डाँटते है, और यदि कोई गलती करता है तो उसे दण्ड भी देते है। जव आचार्य दण्ड देते हैं तो आखिर दण्ड तो अपना तद्रूप प्रभाव करेगा ही।

आचार-सहिता के अनुसार साधु का यह कर्त्तव्य वतलाया गया है कि कदाचित् साधु मर्यादा से वाहर चला जाय या गलती कर वैठे तो उसे अपने को तत्काल सभाल लेना चाहिये और स्वय ही आचार्य को अपने दोषयुक्त कार्य की सूचना दे देनी चाहिए कि मुझसे अमुक गलती हो गई है। चाहे मनुष्य कितना ही सावधान क्यों न रहे, किन्तु जव तक वह साधक है और प्रारम्भिक साधना में लगा हुआ है, तव तक उससे कही न कही, छोटी-मोटी भूल हो जानी स्वाभाविक है।

इस सम्वन्ध मे भगवान् महावीर ने कहा है कि प्रत्येक क्षण जीवन में जागते रहो। क्या कारण है कि जागते हुए भी सो जाओ ? और यदि वाहर में सोए हुए हो, तव भी अन्दर मे पूर्णत जागृत रहो।

'असुत्ता मुणी'
'मुणिणो सया जागरति'

—आचाराग

जव साधु जागृत अवस्था मे है तब तो वह जागता है ही, किन्तु जब निद्रावस्था मे हो तब भी उसे जागता ही

समझो। वह जब अकेला है तब भी जागता है। जब वह सब के बीच में है तब भी जागता है। नगर में है तब भी जागता है और यदि वह वन में वास कर रहा है तब भी जागता रहता है। साधु के सम्बन्ध में जो पाठ आता है उसमें कहा गया है —

> दिया वा राओ वा एगओ वा परिसागओ वा।
> सुत्ते वा जागरमाणे वा।।'
>
> —दशवैकालिक सूत्र चतुर्थ अध्ययन।

इस प्रकार साधु को प्रत्येक परिस्थिति मे एक ही निर्दिष्ट मार्ग पर चलना है। अकेले में भी और हजारों के बीच में भी सोते हुए भी और जागते हुए भी वन में भी और नगर में भी। साधना जीवन की समरसता है। वह अपने लिए है अपने विकास के लिए है। अतः वह हर हालत में एक रूप रहनी चाहिए। सच्चा साधक दर्शकों की उपस्थिति या अनुपस्थिति को सामने रखकर अपनी जीवन-पथ का मानचित्र तैयार नहीं करता।

आपने राजस्थान की वीर नारियों के सम्बन्ध म सुना होगा और उस मीरा के सम्बन्ध में तो अवश्य ही जिसने सोने के महलों में जन्म लिया और सोने के महलों में ही जिसका विवाह भी सम्पन्न हुआ। हाँ तो एक दिन जिसे संसार की भौतिक ताकत ने कहा कि उसे महलों में ही बन्द कर दो और वैभव की मोहक नींद में सुला दो। फिर भी वह महलों में बन्द नहीं हो सकी वैभव की नींद नहीं सो सकी। भगवत् प्रेम का महान् आदर्श उसके हृदय के कण-कण में

उमडता रहा। उसने सोने के सम्बन्ध मे कितना सुन्दर भाव प्रकट किया है —

हेरी मैं तो दद दिवानी, मेरा दर्द न जाने कोय।
सूली ऊपर सेज हमारी, किस विध सोना होय॥

हां, तो जो साधक है वह सयम की शूली पर वैठा है। साधु या गृहस्थ कोई भी हो, उसके जो व्रत या नियम है, शूली की नौंक के समान हैं। वहां पर दूसरी कोई फ़ूलो की सुख-सेज नही मिलेगी। फ़ूलो की सुख-सेज पर शयन करने वाले तो सम्राट् हैं, अत यदि वे खर्राटे लेना चाहे तो ले सकते हैं। परन्तु जो साधक साधना-रूपी शूली की सेज पर वैठा है, वह सुख-नीद के खर्राटे नही ले सकता। उसका तो एक-एक क्षण जागेगा। उसके लिए हर प्रतिज्ञा शूली की सेज है। साधु ने अहिंसा और सत्य आदि की जो प्रतिज्ञाएँ ली है, उनमे से प्रत्येक प्रतिज्ञा शूली की सेज है।

एक भाई कहते हैं कि शूली पर जव सुदर्शन चढे, तो फ़ूल वरसे और शूली सिंहासन हो गई थी। वात ठीक हैं, किन्तु शूली पर चढे विना फल नही वरसते। जव हम जीवन के क्षेत्र मे चलते हैं तव यदि उस साधना-रूपी शूली की सेज पर नही जायेंगे तो फल नही वरसने वाले हैं। फ़ूल तो तभी वरसेंगे जव साधक अपने आपको सयम और साधना की कसौटी पर सच्चा सिद्ध कर देगा।

इस दृष्टिकोण से हर साधक को हर समय जाग्रत रहना है। क्योंकि छद्मस्थ आखिर छद्मस्थ है, वह सर्वज्ञ और वीतराग नही हो गया है। वह अपूर्ण है। यदि वह अपूर्ण एव

साधारण साधक अपने आपको पूर्ण एवं विशिष्ट समझने लगता है तो यह उसकी भयंकर भूल है। इस प्रकार छद्मस्थ होने के कारण कदाचित् वह लड़खड़ा जाता है। वास्तव में मोहनीय कर्म बड़ा ही बलवान है। इसके प्रभाव से कभी क्रोध की उछाल आ जाती है तो कभी मान की लहर भी आ जाती है और कभी कोई अन्य तरंग भी उठ खड़ी होती है।

आपने पुरातन संतों के श्रीमुख से सुना होगा कि जब लवण-समुद्र में तूफानी लहरें आती हैं तो हजारों देवता उन लहरों को दबाने का प्रयत्न करते हैं। वे लहरें दबती हैं या नहीं ? यह दूसरी बात है किन्तु हमारे हृदय की लहरें तो ज्वार भाटे की भाँति उछाल मार रही हैं और एक बड़ा तूफान पैदा कर रही हैं। जब इतना भयङ्कर तूफान आता है तो क्या होता है ? तब हम उस त्याग और संयम की दिव्य शक्ति से उस समुद्र को निरन्तर दबाते हैं। कम से कम मन के महासागर में तो यह चीज चलती ही रहती है। फिर भी कभी मन काबू से बाहर हो जाय तो उसका क्या उपाय है ? यही कि आत्म-शुद्धि करने के लिए तैयार रहना चाहिए। ऐसा साधक गलती होने पर फौरन आचार्य के पास पहुँचे तब तो ठीक है अन्यथा स्वयं आचार्य दण्ड की व्यवस्था करते हैं और इस तरह अनुग्रह करते-करते कभी निग्रह का प्रसंग भी उपस्थित हो जाता है। अर्थात् यदि आचार्य में अनुग्रह करने की शक्ति है तो निग्रह करने की भी शक्ति है। जब वे अनुग्रह करते हैं तो पूरा अनुग्रह और जब दण्ड देते हैं तो वह भी पूरा और मर्यादा के अनुसार। उन्हें

संघ ने यह अधिकार दिया है और उनका यह उत्तरदायित्व भी है। यदि कोई आचार्य इस उत्तरदायित्व की किसी भी कारण से उपेक्षा करता है तो वह आचार्य पद पर नहीं रह सकता। ऐसी स्थिति में उन्हें अपना वह पद स्वयं त्यागना होगा या संघ उनको पद-त्याग के लिए बाध्य करेगा।

इस प्रकार उचित प्रसंग पर दोषी को दण्ड देना आचार्य का अनिवार्य कर्त्तव्य है, परन्तु जब दण्ड दिया जाता है तो दण्ड पाने वाले को कष्ट होता है। जब कष्ट होता है तो वहाँ हिंसा होगी या अहिंसा? यदि वह दण्ड हिंसा का कारण है और केवल तकलीफ पहुँचाना ही हिंसा है तो उस स्थिति में दण्ड देने का अधिकार आचार्य का नहीं रह जाता है। क्योंकि साधु-जीवन में हिंसा का कार्य नहीं किया जा सकता। किन्तु जब हम उस निग्रह एवं दण्ड को अहिंसा मानते हैं तो आचार्य के लिए दोषी को दण्ड देने का अधिकार सर्वथा न्याय-संगत हो जाता है। आचार्य की ओर से दिया जाने वाला दण्ड हिंसा की बुद्धि से और द्वेष की भावना से नहीं दिया जाता है। जब आचार्य निग्रह करते हैं तो शास्त्रानुसार कड़े से कड़ा दण्ड देते हैं, किन्तु उनके मन में अहिंसा रहती है। दया और कल्याण की भावना लहराती है क्योंकि उस साधक के प्रति उनकी आत्म-शुद्धि की भावना है।

बच्चा जब गन्दा हो जाता है तो माता उसे स्नान कराती है और उसके वस्त्र साफ करती है, तब वह चिल्लाता है, हल्ला मचाता है। स्नान से उसे तकलीफ होती है, किन्तु अबोधपन के कारण वह नहीं समझता कि मुझे क्यों परेशान

किया जा रहा है? परन्तु जो कष्ट भी दिया जा रहा है उसके सम्बन्ध में माता के हृदय से पूछिए कि वह बालक की सफाई और स्वच्छता कष्ट देने के लिए कर रही है अर्थात्—हिंसा के उद्देश्य से कर रही है या मन में उठी वात्सल्य की हिलोर से प्रेरित होकर कर रही है?

हमारे यहाँ धर्म-शास्त्रों में वर्णन आया है कि आचार्य को माता और पिता का निर्मल एवं स्नेह-सिक्त हृदय रख कर साधक को दण्ड देना चाहिए शत्रु का क्रूर हृदय रखकर नहीं। दण्ड-पात्र यदि समझदार है तो वह भी यही समझता है कि जो दण्ड उसे दिया जा रहा है—वह पिता के हृदय से दिया जा रहा है और उसमें कल्याण की भावना समाविष्ट है शत्रु की भावना तो दण्ड से कोसों दूर है। जो कल तक अनुग्रह कर रहे थे वही आज अकारण इतने कठोर क्यों बन सकते हैं? अस्तु वह समझता है कि आचार्य उसे सुधारने के लिए ही इतने कठोर बने हैं किन्तु उनकी इस कठोरता में भी करुणा की विशुद्ध भावना विद्यमान है।

चने के पौधे को जब तक ऊपर-ऊपर से काटा नहीं जाता तब तक वह ठीक तरह बढ़ नहीं पाता और जब उसे ऊपर से काट-छाँट दिया जाता है तो झट उसका विकास शुरू हो जाता है। इसी प्रकार जब तक साधक को गलती पर प्रायश्चित नहीं दिया जाता तब तक उसका विकास रुका रहता है। किन्तु प्रायश्चित्त ले लेने पर विकास में वृद्धि

* देखिये—उत्तराध्ययन सूत्र १ १७-२८ ६

संघ ने यह अधिकार दिया है और उनका यह उत्तरदायित्व भी है। यदि कोई आचार्य उस उत्तरदायित्व की किसी भी कारण से उपेक्षा करता है तो वह आचार्य पद पर नहीं रह सकता। ऐसी स्थिति में उन्हें अपना पद पद स्वयं त्यागना पड़ता या संघ उनका पद-त्याग के लिए बाध्य करेगा।

इस प्रकार उचित प्रसंग पर दोषी को दण्ड देना आचार्य का अनिवार्य कर्तव्य है, परन्तु जब दण्ड दिया जाता है तो दण्ड पाने वाले को कष्ट होता है। जब कष्ट होता है तो वहाँ हिंसा होगी या अहिंसा? यदि वह दण्ड हिंसा का रूप है और केवल तकलीफ पहुँचना ही हिंसा है तो इस स्थिति में दण्ड देने का अधिकार आचार्य को नहीं रह जाता है। क्योंकि साधु-जीवन में हिंसा का कार्य नहीं किया जा सकता। किन्तु जब हम उस निग्रह एवं दण्ड को अहिंसा मानते हैं तो आचार्य के लिए दोषी को दण्ड देने का अधिकार सर्वथा न्याय-संगत हो जाता है। आचार्य की ओर से दिया जाने वाला दण्ड हिंसा की बुद्धि से और द्वेष की भावना से नहीं दिया जाता है। जब आचार्य निग्रह करते हैं तो शास्त्रानुसार कड़े से कड़ा दण्ड देते हैं, किन्तु उनके मन में अहिंसा रहती है। दया और कल्याण की भावना लहराती है, क्योंकि उस साधक के प्रति उनकी आत्म-शुद्धि की भावना है।

बच्चा जब गन्दा हो जाता है तो माता उसे स्नान कराती है और उसके वस्त्र साफ करती है, तब वह चिल्लाता है, हल्ला मचाता है। स्नान से उसे तकलीफ होती है, किन्तु अबोधपन के कारण वह नहीं समझता कि मुझे क्यों परेशान

किया जा रहा है ? परन्तु जो कुछ भी किया जा रहा है उसके सम्बन्ध में माता के हृदय से पूछिए कि वह बालक की सफाई और स्वच्छता कष्ट देने के लिए कर रही है अर्थात्—हिंसा के उद्देश्य स कर रही है या मन में उठी वात्सल्य की हिलोर से प्रेरित होकर कर रही है ?

हमारे यहाँ धर्म-शास्त्रों में वर्णन आया है कि आचार्य को माता और पिता का निर्मल एवं स्नेह-सिक्त हृदय रख कर साधक को दण्ड देना चाहिए शत्रु का क्रूर हृदय रखकर नहीं। दण्ड-पात्र यदि समझदार है तो वह भी यही समझता है कि जो दण्ड उसे दिया जा रहा है—वह पिता के हृदय से दिया जा रहा है और उसमें कल्याण की भावना समाविष्ट है, शत्रु की भावना तो दण्ड से कोसों दूर है। जो कल तक अनुग्रह कर रहे थे वही आज अकारण इतने कठोर क्यों बन सकते है ? अस्तु वह समझता है कि आचार्य उसे सुधारने के लिए ही इतने कठोर बने हैं किन्तु उनकी इस कठोरता में भी करुणा की विशुद्ध भावना विद्यमान है।

चने के पौधे को जब तक ऊपर-ऊपर से काटा नहीं जाता तब तक वह ठीक तरह बढ़ नहीं पाता और जब उसे ऊपर से काट-छाँट दिया जाता है तो झट उसका विकास शुरू हो जाता है। इसी प्रकार जब तक साधक को गलती पर प्रायश्चित नहीं दिया जाता तब तक उसका विकास रुका रहता है। किन्तु प्रायश्चित से लेने पर विकास में वृद्धि

* देखिये—उत्तराध्ययन सूत्र १ २७-२८।

होती है और उसका मार्ग अवरुद्ध नही होता। निस्सन्देह ऐसे साधक ही अपने जीवन मे फलते-फूलते हैं और महान् बनते हैं।

वर्तमान मे क्या हो रहा है ? कौन क्या करते हैं ? किस दृष्टि से दण्ड दिए और लिए जाते हैं ? इसकी इस अवसर पर चर्चा न करके हम तो केवल सिद्धान्तमात्र का सक्षिप्त विवेचन कर गए हैं।

आपके समक्ष निग्रह के औचित्य की चर्चा चल रही है और कहा जा रहा है कि निग्रह भी अहिंसा का एक रूप है। वस्तुत• यह एक अपेक्षा है, जिसके बल पर जैन-धर्म कहता है कि निग्रह भी अहिंसा है। अपेक्षा तो हर जगह और हर समय रहती है। निरपेक्ष वचन एकान्तमय होता है और वह जैन-धर्म को कभी मान्य नही है, कही भी स्वीकार नही है। जब हम इस विषय का चिन्तन की दृष्टि से सूक्ष्म विश्लेषण करते हैं, और गहराई से विचार करते हैं तो ज्ञात होता है कि यद्यपि 'अनुग्रह' और 'निग्रह', यह दो शब्द ऊपर से अलग अलग अर्थ के वाचक मालूम पडते हैं। परन्तु गहराई मे जाने पर अन्तत दोनो का उद्देश्य और प्रयोजन एक ही हो जाता है। अभी आचार्य के अनुग्रह और निग्रह के सम्बन्ध मे जो कुछ कहा गया है, उससे यही निष्कर्ष निकलता है कि वहाँ आचाय के द्वारा साधक के हितार्थ किया हुआ निग्रह भी अनुग्रह का ही एक रूप है। इसके विपरीत कभी-कभी अनुग्रह भी हिसा का रूप धारण कर लेता है। इस सम्बन्ध मे एक उदाहरण देखिए।

मान लीजिए, एक बच्चा बीमार है। डाक्टर ने उसे मिठाई खाने के लिए मना कर दिया है। पर उसकी माता स्नेहवश कहती है—बेटा मिठाई खा ले। इस दशा में माता का यह अनुग्रह क्या होगा ? तात्पर्य यह है कि हर एक जगह एक-सी बात लागू नहीं होती है। अनुग्रह तथा निग्रह दोनों ही समयानुकूल अपेक्षाकृत है। अतएव कभी अनुग्रह का रूप निग्रह में प्रकट हो सकता है और कभी निग्रह का रूप अनुग्रह में हो सकता है। इसके लिए भावना जगत् को देखना नितान्त आवश्यक है।

यहीं पर एक प्रश्न और उपस्थित होता है। यदि यह माना जाय कि निग्रह दण्ड है और दण्ड देना हिंसा है। ऐसी स्थिति म यदि एक बारह व्रतधारी श्रावक है और वह अपने व्रत विधान का पूरी तरह पालन कर रहा है। किन्तु साथ ही वह एक सम्राट भी है राजा है या अधिकारी नेता है। एक दिन उसके सामने एक जटिल समस्या आ जाती है—मरणान्तक आक्रमण का प्रश्न खड़ा हो जाता है। उसके देश पर कोई अत्याचारी विदेशी राजा आक्रमण कर देता है। अब कहिए वह श्रावक राजा क्या उपाय करे ? जो आक्रमण करने वाला शत्रु राजा है वह दुरभिसन्धि से बढ़कर आने वाला है। आक्रामक के रूप में वह देश को लूटता है और प्रजाजन को पीड़ित करता है। देश की लूट के साथ वहाँ की संस्कृति और सभ्यता को भी नष्ट करता है माताओं और बहिनों की आबरू भी बिगाड़ता है। इधर वह श्रावक राजा देश का नायक बना है और प्रजा की रक्षा का महान् उत्तर

होती है और उसका मार्ग अवरुद्ध नहीं होता। निस्सन्देह ऐसे साधक ही अपने जीवन में फलते-फूलते हैं और महान बनते हैं।

जैनधर्म में क्या हो रहा है? और क्या करते हैं? किस दृष्टि से दण्ड दिए और लिए जाते हैं? इसकी इस अवसर पर चर्चा न करके हम तो केवल सिद्धान्तमात्र का संक्षिप्त विवेचन कर गए हैं।

आपके सामने निग्रह के औचित्य की चर्चा चल रही है और कहा जा रहा है कि निग्रह भी अहिंसा का एक रूप है। वस्तुतः यह एक अपेक्षा है, जिसके बल पर जैन-धर्म कहता है कि निग्रह भी अहिंसा है। अपेक्षा तो हर जगह और हर समय रहती है। निरपेक्ष वचन एकान्तमय होता है और वह जैन-धर्म को कभी मान्य नहीं है कहीं भी स्वीकार नहीं है। जब हम इस विषय का चिन्तन की दृष्टि से सूक्ष्म विश्लेषण करते हैं और गहराई से विचार करते हैं तो ज्ञात होता है कि यद्यपि 'अनुग्रह और निग्रह', यह दो शब्द ऊपर से अलग अलग अर्थ के वाचक मालूम पड़ते हैं। परन्तु गहराई में जाने पर अन्ततः दोनों का उद्देश्य और प्रयोजन एक ही हो जाता है। अभी आचार्य के अनुग्रह और निग्रह के सम्बन्ध में जो कुछ कहा गया है, उससे यही निष्कर्ष निकलता है कि वहाँ आचार्य के द्वारा साधक के हितार्थ किया हुआ निग्रह भी अनुग्रह का ही एक रूप है। इसके विपरीत कभी-कभी अनुग्रह भी हिंसा का रूप धारण कर लेता है। इस सम्बन्ध में एक उदाहरण देखिए।

मान लीजिए, एक बच्चा बीमार है। डाक्टर ने उसे मिठाई खाने के लिए मना कर दिया है। पर उसकी माता स्नेहवश कहती है—बेटा मिठाई खा ले। इस दशा में माता का यह अनुग्रह क्या होगा? तात्पर्य यह है कि हर एक जगह एक-सी बात लागू नहीं होती है। अनुग्रह तथा निग्रह दोनों ही समयानुकूल अपेक्षाकृत हैं। अतएव कभी अनुग्रह का रूप निग्रह में प्रकट हो सकता है और कभी निग्रह का रूप अनुग्रह में हो सकता है। इसके लिए भावना-जगत् को देखना नितान्त आवश्यक है।

यहीं पर एक प्रश्न और उपस्थित होता है। यदि यह माना जाय कि निग्रह दण्ड है और दण्ड सदा हिंसा है। ऐसी स्थिति में यदि एक बारह व्रतधारी श्रावक है और वह अपने व्रत विधान का पूरी तरह पालन कर रहा है। किन्तु साथ ही वह एक सम्राट भी है राजा है या अधिकारी नेता है। एक दिन उसके सामने एक जटिल समस्या आ जाती है—यकायक आक्रमण का प्रश्न खड़ा हो जाता है। उसके देश पर कोई अत्याचारी विदेशी राजा आक्रमण कर देता है। अब कहिए वह श्रावक राजा क्या उपाय करे? जो आक्रमण करने वाला अन्य राजा है वह दुष्टनीति से चढ़कर आने वाला है। आक्रमक के रूप में वह देश को लूटता है और प्रजाजन को पीड़ित करता है। देश की लूट के साथ वहाँ की संस्कृति और सभ्यता को भी नष्ट करता है माताओं और बहिनों की आबरू भी बिगाड़ता है। इधर वह श्रावक राजा देश का शासक बना है और प्रजा की रक्षा का महान् उत्तर-

दायित्व भी लिए हुए है। तब ऐसी स्थिति मे उसका क्या कर्त्तव्य होना चाहिए ? राष्ट्र की सुरक्षा और शान्ति के लिए वह क्या उपाय करेगा ? वह निग्रह का मार्ग अपनाकर देश की समुचित रक्षा करेगा, अथवा स्वदेश की लाखो निरीह जनता को अत्याचारी आक्रामक के चरणो मे अर्पण कर अन्याय के सामने मस्तक टेक देगा।

जैन-धर्म इस सम्बन्ध में स्पष्ट रूप से कहता है कि इस प्रकार के प्रसगो पर हिंसा मुख्य नही है, अपितु अन्याय का प्रतीकार करना मुख्य है और जनता की समुचित रक्षा ही मुख्य है। वह श्रावक राजा अपनी ओर से किसी पर व्यर्थ आक्रमण करने नही जायगा। जो पड़ौसी देश व्यवस्थापूर्वक शान्ति से रह रहे हैं, वहाँ पर अपनी साम्राज्यशाही विजय का झडा गाड़ने के लिए नही पहुँचेगा। किन्तु जब कोई शत्रु बनकर उसके देश में खून बहाने आएगा, तब वह अपने कर्त्तव्य की की पूर्ति के लिए लड़ने की पूरी तैयारी करेगा और अवश्य लड़ेगा। स्थूल प्राणातिपात (हिंसा) का यथास्थिति त्याग करते समय, श्रावक ऐसे रक्षात्मक सघर्ष के लिए पहले से ही छूट रखता है।

जैनाचार्यो ने हिंसा के सम्बन्ध में काफी सूक्ष्म चिन्तन किया है। उन्होंने हिंसा की व्याख्या करते हुए उसके चार भेद किए हैं—(१) सकल्पी, (२) आरम्भी, (३) उद्योगी, और (४) विरोधी ।

जान-बूझकर मारने का इरादा करके किसी प्राणी को मारना—'सकल्पी हिंसा' है।

चौके-चूल्हे आदि के काम-धंधों में जो हिंसा हो जाती है—वह 'आरम्भी हिंसा' कहलाती है।

खेती-बाड़ी व्यापार उद्यम आदि करते हुए जो हिंसा होती है—वह 'उद्योगी हिंसा' कहलाती है। और

शत्रु का आक्रमण होने पर देश को विनाश से बचाने के लिए तथा अन्याय अत्याचार का प्रतीकार करने के लिए सुरक्षा एवं शान्ति की दृष्टि से जो युद्ध किया जाता है और उसमें जो हिंसा होती है—वह 'विरोधी हिंसा' कहलाती है।

इन चार प्रकार की हिंसाओं में से श्रावक कौन-सी हिंसा का त्याग करता है और कौन-सी हिंसा की उसे छूट रहती है? इसी महत्त्वपूर्ण प्रश्न पर हमें विचार करना चाहिए।

श्रावक इनमें से सिर्फ 'संकल्पी-हिंसा' का परित्याग करता है। मारने की भावना से जो निरपराध की हिंसा की जाती है उसी का वह त्याग कर पाता है।

प्रवृत्ति परायण श्रावक 'आरम्भी-हिंसा' का सर्वथा त्याग नहीं कर सकता क्योंकि उसे उदर-पूर्ति आदि के लिए यथा-अवसर आरम्भ समारम्भ करना पड़ता है और उसमें हिंसा का होना स्वाभाविक है।

यही बात उद्योगी-हिंसा के सम्बन्ध में भी है। आखिर कार जीविकोपार्जन के लिए काम-धन्धे करने ही होते हैं और जब उन्हें किया जायगा तो हिंसा का होना स्वाभाविक है। इस कारण श्रावक उसका परित्याग भी सर्वतोभावेन नहीं कर सकता।

अब रही 'विरोधी-हिंसा' सो श्रावक उसका भी परित्याग

नही करेगा। क्योंकि उसे निर्दय शत्रुओ से अपनी, अपने परिवार की, अपने देश की, जिसकी समुचित रक्षा का महान् उत्तरदायित्व उसके ऊपर है, यथावसर रक्षा करनी ही होती है।

उपर्युक्त विवेचन से यही निष्कर्ष निकलता है कि स्थूल हिंसा का त्याग करते समय श्रावक संकल्पी हिंसा का त्याग करेगा। अर्थात् वह विना प्रयोजन खून से हाथ नही भरेगा। मारने के लिए ही किसी को नही मारेगा, धर्म के नाम पर किसी निर्दोष की हिंसा नही करेगा, और इसी प्रकार की अन्य हिंसा भी नही करेगा। इस कथन की पुष्टि के लिए हम एक पाश्चात्य दार्शनिक का अभिमत प्रस्तुत करते हैं।

रस्किन ने, जो पश्चिम का एक बड़ा दार्शनिक था, उपदेशक एव वकील आदि हरेक धन्धे की आलोचना की है। उसकी एक पुस्तक का 'सर्वोदय' नाम से महात्मा गाँधी ने अनुवाद किया है। उसमे रस्किन कहता है—"सिपाही का आदर्श यह है कि वह स्वय किसी को मारने नही जाता, किन्तु देश की रक्षा के लिए जब वह खडा होता है तब उससे किसी का कत्ल हो जाता है और कभी खुद भी कत्ल हो जाता है।"

अभिप्राय यह है कि कत्ल करना उसकी मुख्य दृष्टि नही है, बल्कि उसका प्रधान लक्ष्य तो रक्षा करना है और रक्षा करते-करते सम्भव है वह दूसरे को मार दे या खुद भी मर जाय।

कुछ लोग कहते हैं कि जैन-धर्म की अहिंसा पगु है,

उसने देश को गुलाम बनाया है और देश को बिगाड़ दिया है। इस प्रकार सारी बुराइयों का उत्तरदायित्व जैन-धर्म पर डाला जाता है। परन्तु जैन धर्म में प्रतिपादित 'अहिंसा' के वर्गीकरण का तथा उसकी विभिन्न श्रेणियों और भूमिकाओं का यदि गहराई के साथ अध्ययन किया जाए तो उन्हें ऐसा कहने का मौका नहीं मिलेगा। दुर्भाग्य से दूसरों ने तो क्या स्वयं जैनों ने भी जैन-धर्म की अहिंसा का समझने में भयंकर भूल की है और उसे समझने का पूरी तरह प्रयत्न नहीं किया है। क्योंकि उन्होंने जैन-धर्म को समझा नहीं है तभी तो यह सब गड़बड़ हुई है और निरंतर प्रति हो रही है।

मर्यादा पुरुषोत्तम रामचन्द्रजी की पत्नी सीता को रावण चुरा ले गया। रावण उस पर अत्याचार करना चाहता था उसके सतीत्व को भंग करने के लिए प्रस्तुत हो रहा था। तब राम ने लंका पर आक्रमण करने के लिए सेना तैयार की। भारतीय रणनीति के अनुसार युद्ध आरम्भ करने से पहले अंगद आदि के द्वारा समझौते का सन्देश भी भेजा। रावण समझौता करने को बिल्कुल तैयार नहीं हुआ। सीता को लौटाना उसने कथमपि स्वीकार नहीं किया।

ऐसी परिस्थिति में राम धर्म-धर्म से पूछे कि—मैं क्या करूँ ? एक तरफ सीता की रक्षा का प्रश्न है ! अत्याचारी के आक्रमण पर प्रत्याक्रमण का प्रश्न है ! अन्याय अत्याचार और बलात्कार के प्रतीकार का प्रश्न है ! और दूसरी तरफ युद्ध का प्रश्न है !! आप भली भाँति समझते हैं कि युद्ध तो युद्ध ही है और जब युद्ध होगा तो हजारों माताएं पुत्रहीना हो

जायँगी, हजारो पत्नियाँ अपने पति गँवा बैठेंगी, और हजारो पुत्र पिताओ से हाथ धो बैठेगे। हजारो घरो के दीपक बुझ जायँगे, देश के कोने-कोने मे हाहाकार मच जायगा। इस प्रकार कुछ के लिए तो सारी जिन्दगी के लिए रोना शुरू हो जाएगा। हाँ, तो ऐसी स्थिति मे राम को क्या करना चाहिए ? यही प्रश्न जैन-धर्म को हल करना है। इसी दुविधा का समाधान जैन-धर्म को तलाश करना है।

हमारे कुछ साथी कहते हैं कि ऐसे अवसर पर मौन रहना ठीक है। किन्तु राम कहते है—मैं दुविधा मे हूँ और निर्णय करना चाहता हूँ कि क्या करूँ ? जिससे वे पूछते है, व्यवस्था माँगते हैं, वही मौन धारण कर लेता है। तब मैं आपसे पूँछता हूँ कि मौन धारण कर लेने से क्या किसी समाज की उलझी हुई समस्याओ का हल निकाला जा सकता है ? फिर ऐसे विकट और नाजुक प्रसग पर, जो धर्म मौन धारण कर लेता हो, वह क्या जीवन-व्यापी धर्म कहला सकता है ? क्या वह मौन उसकी दुर्बलता का द्योतक नही होगा ? क्या उस मौन से उसकी कार्य-क्षमता में बट्टा नही लगता ? क्या यह उस धर्म का लँगडापन सिद्ध नही करेगा ? ऐसे अवसर पर व्यक्ति को अपना कर्त्तव्य पहिचानने के लिए क्या किसी दूसरे धर्म की शरण में जाना चाहिए ? यदि जैन-धर्म वास्तव मे जीवन-व्यापी धर्म है, यदि वह दुर्बल नही है, लँगडा-लूला भी नही है, अपितु पूर्णतया क्षमताशाली है, तो उसकी शरण मे आने पर किसी दूसरे धर्म से भीख माँगने की आवश्यकता नही रहती। कर्त्तव्य की पुकार पर

वह मौन नहीं रहेगा उचित कर्त्तव्य की सूचना अवश्य देगा। जहाँ तक मैंने जैन-धर्म को समझा है वह सूचना अवश्य देता है।

हाँ तो जैन धर्म क्या सूचना देता है और किस ढंग से देता है? एक तरफ घोर हिंसा है! और दूसरी तरफ एकमात्र सीता की रक्षा का प्रश्न है!! इस अवसर पर रामचन्द्र सोचते हैं—मुझे क्या करना चाहिए? जो लोग यह समझते हैं कि जहाँ ज्यादा जीव मरते हैं, वहाँ ज्यादा हिंसा होती है। उनके इस विचार से तो रामचन्द्र को चुप होकर निष्क्रिय रूप से किसी कोने में बैठ जाना चाहिए! क्योंकि युद्ध में बहुत से जीवों की हिंसा होती है और वे जीव भी एकेन्द्रिय नहीं पंचेन्द्रिय हैं! और फिर उनमें भी अधिकांशतः मनुष्य! किन्तु जैन-धर्म ऐसा नहीं कहता। जैन-धर्म तो यह कहता है कि यदि तुम सीता को बचाने के लिए जा रहे हो तो वहाँ केवल एक सीता का ही साधारण प्रश्न नहीं है बल्कि हजारों सीताओं की रक्षा का गम्भीर सवाल है! जिसे प्राण-पण से हल करना राम का कर्त्तव्य है। यदि मात्र एक गुण्डा किसी एक सती पर अत्याचार करता है तो वह वास्तव में एक ही महिला की रक्षा का प्रश्न नहीं है अपितु उसके पीछे हजारों-लाखों गुण्डों के सामूहिक अत्याचार का गम्भीर प्रश्न है। यदि मात्र एक गुण्डे के अत्याचार को सिर झुकाकर सहन कर लिया जायगा तो कल सैकड़ों और परसों हजारों गुण्डे सिर उठाएँगे और इस प्रकार संसार में किसी सती का सतीत्व तथा मान-मर्यादा सुरक्षित नहीं रह सकेगी। दुनिया

मे अत्याचार, अनाचार और बलात्कार का ऐसा दौर शुरू हो जाएगा कि जिसकी कोई सीमा ही नही होगी। फिर बेचारे धर्म को स्थान कहाँ रह जायगा ?

अतएव राम के सामने केवल एक सीता का प्रश्न नहीं था, बल्कि हजारो सन्नारियो की रक्षा का प्रश्न था। राम को अपने भोग-विलास के लिये एक सुन्दर युवती की आवश्यकता थी, और उसके लिए वे हजारो के गले कटवाने पर प्रस्तुत हो रहे थे। ऐसी कल्पना स्वप्न मे भी नही करनी चाहिए। इस स्थिति के लिए तो जैन-धर्म किसी भी तरह की स्वीकृति नही दे सकता। उक्त दशा मे वह यही कहेगा—वासना-पूर्ति के लिये एक नारी की जीवित मूर्ति चाहिए, तो हजारो मिल सकती हैं। फिर क्यो व्यर्थ ही आग्रहवश संहार का पथ अपनाया जाए ?

राम के लिए तो यह प्रश्न उपस्थित ही नही होता। जैन रामायण मे एक वर्णन आता है कि रावण ने राम के पास सन्देश भेजा था कि एक सीता को रहने दो। मैं उस एक के बदले मे कई हजार सुन्दर कुमारिकाएँ तुम्हारे लिए भेज दूँगा। तुम आनन्द के साथ जीवन व्यतीत करना। मैं आनन्द की सब सामग्री भी तुम्हे दे दूँगा। राज्य चाहिए तो राज्य भी दे दूँगा, मात्र सीता को छोड दो। किन्तु उस समय राम के सामने भोग-विलास का प्रश्न नही था। वे इस दृष्टि से सीता को पाने का प्रयत्न नही कर रहे थे। वे तो अपने पुनीत कर्त्तव्य का पालन कर रहे थे। वे तो अत्याचार का प्रतीकार करने के लिए कटिबद्ध हुए थे। एक

पत्नी और एक नारी के अपमान की रक्षा के लिए उन्होंने प्रण किया था कि प्राण देकर भी उसकी रक्षा करता है। यदि राम इस कर्त्तव्य का पालन करने के लिए सन्नद्ध हैं तो यह गृहस्थ-जीवन की मर्यादा का पालन है और उस मर्यादा का पालन करते समय जैन-धर्म हिंसा या अहिंसा की दुहाई देकर किसी का हाथ नहीं पकड़ता है न मौन ही साधता है।

राम ने रावण के साथ युद्ध किया परन्तु युद्ध करना उनका उद्देश्य नहीं था। सीता को प्राप्त करना ही उनका मुख्य उद्देश्य था। उस अवसर पर वे अपने कर्त्तव्य की प्रेरणा की उपेक्षा नहीं कर सकते थे। ऐसी स्थिति में युद्ध का उत्तरदायित्व राम पर पड़ता है या रावण पर? रावण स्वयं अत्याचार करने को तयार होता है और उसके सामने माताओं तथा बहिनों के पवित्र सतीत्व का कोई मूल्य नहीं है। उधर राम कहते हैं— मुझे कुछ नहीं चाहिए। न तो पृथ्वी न सुन्दर ललनाएँ और न तेरी सोने की लंका का एक रत्ती-भर सोना ही चाहिये। मुझे तो मेरी सीता लौटा दे। जब राम की यह बात पूरी नहीं हुई तो अन्त में युद्ध होता है। इससे स्पष्ट है कि राम ने सती और सतीत्व की रक्षा के लिये ही अत्याचार से युद्ध किया था। तो जैन-धर्म कर्त्तव्य की दृष्टि से—रामचन्द्र को युद्ध से नहीं रोकता है। अहिंसावादी जैन-धर्म अत्याचारी को न्यायोचित दण्ड देने का अधिकार, गृहस्थ को देता है।

इस कथन का मूल अभिप्राय यह है कि गृहस्थ श्रावक की भूमिकाएं कितनी भी ऊँची क्यों न हो किन्तु

जैन-धर्म का आदेश स्पष्ट है कि जो अन्यायी हो, अत्याचारी हो, विरोधी हो, केवल मानसिक विरोधी नही, वास्तविक विरोधी हो, समाज का द्रोही हो—उसे यथोचित दण्ड देने का अधिकार श्रावक हर समय रखता है। परन्तु उस अवसर पर श्रावक को राग-द्वेष की हीन भावना से कार्य नही करना है, अपितु कर्त्तव्य की उच्च भावना को सामने रखना है। यदि वह ऐसा सोचता है कि शत्रु का भी कल्याण हो, सघ और समाज का भी भला हो, तो वहाँ भी उस अश में अहिंसा की सुगन्ध आती है। शत्रु के प्रति हित-बुद्धि रखते हुए उसे होश मे लाने के लिये दण्ड दिया जा सकता है, यह कोई अटपटी और असगत बात नही है। यह तो अहिंसक साधक की सुन्दर जीवन कला है।

मुझे उत्तर-प्रदेश और पजाव प्रान्तो मे अधिक घूमना पडा है। वहाँ राष्टीय स्वय-सेवक सघ वालो की चर्चाएँ ज्यादा होती हैं। कृष्ण को युद्ध का देवता माना जाता है। "महाभारत युद्ध के मूल प्रेरक एव नेता कृष्ण हैं। उनकी प्रेरणा पर ही महाभारत का युद्ध हुआ, जिसमें नर-सहार की कोई सीमा न रही। उनकी शख ध्वनि मे प्रलय का अट्टहास गूंजता था। अत हमे जीवन के लिये कृष्ण के आचार को ही कर्त्तव्य विन्दु मानना है।" कुछ लोगो को ऐसा कहते हुए सुना है। अनेक वार इस प्रसग को लेकर जैन-धर्म और उसकी अहिंसा पर बहुत ही भद्दी छीटाकसी भी की जाती है।

सयोगवश जव मेरा उनसे वास्ता पडा तो मैंने कहा—

आपने कृष्ण के मार्ग को ठीक-ठीक नहीं समझा है और उनके जीवन से कुछ नहीं सीखा है। कृष्ण का मार्ग तो जैन-धर्म का ही एक आंशिक रूप है। जब आप कृष्ण के जीवन पर चलते हैं तो वस्तुतः जैन-धर्म पर ही चलते हैं और जब जैन-धर्म पर चलते हैं तो कृष्ण के मार्ग पर चलते हैं। महाभारत का युद्ध होने से पहले जब पाँचों पाण्डव वनवास की अवधि समाप्त कर कृष्ण के पास द्वारिका में आ जाते हैं तो दुर्योधन आदि को समझाने के लिये पहले पुरोहित भेजा जाता है। किन्तु जब उसे सफलता नहीं होती है तो उसके बाद कृष्ण स्वयं शान्तिदूत का कार्य करने को तैयार होते हैं। कृष्ण क्या साधारण व्यक्ति हैं? वे उस युग के प्रवर्तक थे। तत्कालीन कर्म-क्षेत्र में सबसे बड़े कर्मयोगी थे और सबसे बड़े सम्राट् थे। वे स्वयं दूत बनकर दुर्योधन की सभा में जाते हैं।

यदि कभी आपके ऊपर ऐसा काम पड़ जाय तो आप यही कहेंगे—हमें क्या पड़ी है? ऐसे छोटे काम के लिये भला क्या नाहक अपनी नाक छोटी करवाएँ? इस प्रकार दूसरों के लिए दूत-कर्म का दायित्व आ जाने पर साधारण आदमी की नाक पर भी सिकुड़न आ जाती है।

परन्तु कृष्ण ने अपनी मान मर्यादा की कोई परवाह नहीं की, अपनी प्रतिष्ठा का कुछ भी विचार नहीं किया और दूत बनकर दुर्योधन के पास निस्संकोच चले गये। दुर्योधन की सभा में पहुँचकर उन्होंने जो भाषण दिया वह संसार के भाषणों में अपना विशेष महत्त्व रखता है। महाभारत

के अध्ययन मे जब मैंने यह भाषण पढा तो मै गद्गद हो गया। उन्होने कहा– "मै रक्त की नदी नही बहाना चाहता। रक्त की नदी बहाते हुए जो वीभत्स रूप दिखाई देता है, उसे मैं अपनी आंखो से देखना नही चाहता। मैं नही चाहता कि नौजवानो की शक्ति व्यर्थ ही खत्म हो जाय, बडे-बूढो की इज्जत खत्म हो जाय और हजारो-लाखो माताओ, बहिनो को जीवन भर रोना पडे। दुर्योधन, तुम अन्याय कर रहे हो! अत्याचार पर उतारू हो रहे हो!! यह मार्ग ठीक नही हैं। वस्तुत राज्य पर तो पाण्डवो का ही अधिकार है। यदि तुम उनका पूरा राज्य उन्हे नही लौटाना चाहते हो, तो मात्र पांच गांव ही उन्हे दे दो। मैं पाण्डवो को समझा दूंगा और उन्हे इतने मे ही सन्तुष्ट कर लूंगा।"

जो कृष्ण दुर्योधन के सामने युद्ध को टालने के लिए इस प्रकार झोली फैलाकर खडे होते है, वे हिंसा के देवता हैं या अहिंसा के? उन्होने युद्धजन्य हिंसा को टालने का कितना अथक प्रयत्न किया? और जो आगे आने वाली भयकर हिंसा है, उसके विरोधस्वरूप उनके कोमल हृदय मे कितनी ऊँची अहिंसा छिपी है? पांच गांव का समझौता, कितना वलिदान पूर्वक किया जाता है—इसे तनिक गहराई में उतर कर देखिए।

तात्पर्य यह है कि कृष्ण हिंसा के राक्षस नही थे, वल्कि अहिंसा के साक्षात् देवता थे। किन्तु जब उनकी नही चली और दुर्योधन की दुर्बुद्धि से कोई समझौता नही हो सका तो विवश होकर लडाई लडनी ही पडी। वह लडाई राज्य-सुख के

लिए नहीं गढ़ी गई। अन्याय और अत्याचार को रोकने का जब कोई दूसरा मार्ग नहीं रह गया तब युद्ध का मार्ग अपनाया गया। इस स्थिति में हम कृष्ण को अहिंसा की दृष्टि से देवता के रूप में और दुर्योधन को हिंसा की दृष्टि से राक्षस के रूप में देखते हैं।

जब इन सब बातों पर गम्भीरता-पूर्वक विचार करेंगे तो प्रतीत होगा कि केवल अनुग्रह ही अहिंसा नहीं है और अहिंसा का दायरा भी इतना छोटा नहीं कि कष्ट न पहुँचाना और सांत्वना देना ही अहिंसा हो बल्कि अत्याचार को रोकने का प्रश्न उपस्थित होने पर एक अंश में निग्रह भी अहिंसा का रूप धारण कर लेता है। जैन-धर्म अनेकान्तवादी है जब हम उसे इसी दृष्टि से देखेंगे तभी उसका सही रूप दिखाई देगा और हमारी समस्त भ्रान्तिपूर्ण भावनाओं का समुचित समाधान हो जायगा।

———

—: ६ :—

अहिंसा का मान-दण्ड

आज हिंसा-अहिंसा के सम्बन्ध में हमे एक नवीन और महत्त्वपूर्ण प्रश्न पर विचार करना है। आप भली-भाति जानते हैं कि जगत में असख्य प्रकार के प्राणी हैं और यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो ज्ञात होगा कि प्राणियो के ये असख्य प्रकार भी अपने आप मे अनेक प्रकार के हैं। तात्पर्य यह है कि जब हम विश्व की अनन्त-असीम जीव-राशि पर विचार करना आरम्भ करते है तो एक नही, अपितु अनेक आधार ऐसे मिलते हैं, जिनसे समग्र जीव-राशि का वर्गीकरण होना है।

उदाहरणार्थ—कोई जीव एकेन्द्रिय है, कोई द्वीन्द्रिय है, कोई त्रीन्द्रिय है, कोई चतुरिन्द्रिय और कोई पचेन्द्रिय है। इनके अतिरिक्त कोई स्थूल शरीर वाला हाथी है, ऊँट है, या महाकाय मत्स्य है, तो कोई अतीव सूक्ष्म शरीर वाला है। आपने सुना होगा कि सुई की नोंक के बराबर निगोद-काय के छोटे से खण्ड मे अनन्त-अनन्त जीवो का निवास होता है।

यहाँ एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय आदि के रूप में जो वर्गीकरण किया गया है, वह उन जीवो के शरीर की बनावट के आधार

पर है और साथ ही उनकी चेतना के विकास की तरतमता के आधार पर भी। एकेन्द्रिय से द्वीन्द्रिय और द्वीन्द्रिय से त्रीन्द्रिय आदि जीवों के शरीर की बनावट में अन्तर होता है। परन्तु शरीर की बनावट का ही भेद उनमें हो इसके अतिरिक्त अन्य कोई भेद न हो ऐसी बात नहीं है। उनमें क्रमशः इन्द्रियों की संख्या बढ़ती चली गई है और इसी वृद्धि के कारण उनकी चेतना का विकास भी अधिक से अधिकतर होता चला गया है।

यह तो उन जीवों की बात हुई—जिन्हें हिंस्य कहते हैं अर्थात् जिनकी हिंसा होती है। परन्तु हिंसा करते समय सब हिंसक भी एक रूप के नहीं होते। किसी के अन्तःकरण में हिंसा की भावना बहुत उग्र होती है क्रोध की ज्वाला बड़ी ही तीव्र होती है द्वेष की वृत्ति अत्यन्त बलवती होती है, और किसी के हृदय में हिंसा की वृत्ति मध्यम होती है या मन्द होती है या जैसा कि केवल द्रव्य-हिंसा की विवेचना करते समय कहा जा चुका है हिंसा की वृत्ति होती ही नहीं है।

इस प्रकार हिंस्य और हिंसक की अनेकानेक भूमिकाएँ हैं और इन दोनों के योग से ही हिंसा की निष्पत्ति होती है। ऐसी स्थिति में स्वभावतः यह प्रश्न उपस्थित होता है कि सब हिंसाएँ एक ही श्रेणी की होती है या उनमें भी कुछ अन्तर है? यदि जीवन में होने वाली समस्त हिंसाएं एक ही श्रेणी की होती हैं तब तो शाक-सब्जी का और मांस का खाना एक ही श्रेणी में होना चाहिए था? परन्तु ऐसा नहीं है। यदि

ऐसा नही है और हिंसा मे वस्तुत किसी प्रकार का तारतम्य है, अर्थात् कोई हिंसा वडी है और कोई छोटी है—तो इस वर्ग-भेद का आधार क्या है ? कौन-से गज से हिंसा का बडापन और छोटापन नापना चाहिये ? क्या मरने वाले जीवो की सख्या की अल्पता पर ही हिंसा की अल्पता, और अधिकता पर ही हिंसा की अधिकता निर्भर है ? अथवा जीवो के शरीर की स्थूलता और सूक्ष्मता पर हिंसा की विपुलता और न्यूनता अवलम्बित है ? अथवा हिंसक की हिंसामयी मनोवृत्ति की तीव्रता और मन्दता पर हिंसा की अधिकता और न्यूनता आश्रित है ? फिर आखिर वह कौन-सा मापक है, जिससे हम हिंसा को सही तरीके से नाप सकें ?

कुछ लोग कहते हैं—"पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु और वनस्पति के जीव भी तो जीव ही हैं। उनमे भी प्राण हैं और उनको भी जीने का हक है। यदि करुणा की भाषा मे कहा जाए तो वे वेचारे भी जिन्दगी रखते हैं, किन्तु मूक है। शायद इसीलिए आपकी आँखो मे उनका मूल्य नही है ? और द्वीन्द्रिय से लगाकर पचेन्द्रिय तक जितने भी वडे-वडे प्राणी है, उन्ही की जिन्दगी का आप मोल समझते है। इसका अर्थ तो यह हुआ कि जो मूक शिशु के समान बेचारे गरीव हैं, जो अपने आप में कुछ सामर्थ्य नही रखते है और जो अपनी रक्षा करने के लिए स्वय योग्य नही हैं, ऐसे एकेन्द्रिय प्राणियो की हिंसा कम मानी जायगी। और जो पचेन्द्रिय हैं, समर्थ हैं, वोल सकते हैं, उनकी हिंसा वडी मानी जायगी ? यह सिद्धान्त ठीक नही है। ससार मे सब जीव वरावर है, क्या एकेन्द्रिय

और क्या पंचेन्द्रिय। हिंसा का एकमात्र आधार जीव है जीवों में छोटे और बड़ेपन का वर्ग भेद नहीं है।

प्राय हमारे बहुत-से साथी ऐसा कहते हैं कि—"यह जो आपका विचार करने का ढंग है कि एकेन्द्रिय और पंचेन्द्रिय जीव की हिंसा में तारतम्य है और आप उसकी हिंसा का कम और अधिक मानते हैं तो यह शास्त्र-सम्मत नहीं है। एकेन्द्रिय की हिंसा भी हिंसा है। जब दोनों प्रकार की हिंसाएं वास्तव में हिंसा की दृष्टि से बराबर हैं तो कमती-बढ़ती कैसे हो गई? सभी हिंसाएं एक जैसी होनी चाहिएं।

कदाचित् इन्हीं विचारों के फलस्वरूप राजस्थान में एक नए पंथ का जन्म हुआ है। यों तो उस पंथ के जन्म लेने के और भी अनेक कारण सुने जाते हैं परन्तु यहाँ उन कारणों की व्याख्या में नहीं जाता है। मनुष्य को विचारों का द्वन्द्व ही प्राय धोखा देता है। हाँ तो मूल में कोई भी कारण रहा हो किन्तु हिंसा और अहिंसा की व्याख्याओं ने भी कुछ कम धोखा नहीं दिया है और उन्हीं व्याख्याओं के कारण भ्रान्तियाँ पहले भी थीं आज भी मौजूद हैं, और शायद भविष्य में भी रहेंगी। कुछ भी हो यह प्रश्न गंभीरता से विचारने योग्य है।

हाँ तो अब हमें मूल बात पर आ जाना चाहिए। अब तक के विवेचन से एक नई चीज प्रकाश में आई कि—जब सभी जीव समान हैं तो उनकी हिंसा भी समान होगी चाहिए। उनमें से किसी की हिंसा कम और किसी की

ज्यादा कैसे हो सकती है ? इस तर्क से यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि यदि सब जीवो की हिंसा समान है तो फिर कोई कम हिंसक और कोई अधिक हिंसक क्यो कहलाता है, यदि कहलाता है, तो आखिर उसका क्या कारण है ?

इस नये प्रश्न का एक नया हल निकाला गया है। वह यह है कि जहाँ जीव ज्यादा मरेंगे वहाँ ज्यादा हिंसा होगी, और जहाँ कम जीव मरेंगे वहाँ कम हिंसा होगी। जब इस मान्यता को आश्रय दिया गया तो जीवो की गिनती शुरु हो गई। जब जीवो की गिनती शुरु हो गई तो विभिन्न प्रकार के नए-नए तर्क भी पैदा होने लगे। यथा—एक आदमी भूखा-प्यासा आपके दरवाजे पर आया है, वह प्यास से छटपटा रहा है और मरने वाला है। यदि आप उसे एक गिलास पानी दे देते हैं तो उसके प्राण बच सकते हैं। किन्तु वहाँ हिंसा की तरतमता का प्रश्न उठ खडा होता है। एक तरफ पानी के पिलाने से केवल एक जीव बचता है, किन्तु दूसरी तरफ अनेक जीव मरते है ? क्योकि पानी की एक बूँद में असख्यात जीव हैं। पानी के पी लेने पर वे सब मर जाते हैं। इस प्रकार केवल एक जीव बचाया जा सका, और उसके पीछे असख्यात जीव मारे गये। फिर यहाँ धर्म कैसे हुआ ? और पुण्य कैसे सम्भव होगा ? यह तो वही बात हुई कि एक समर्थ की तो रक्षा करली गई, किन्तु उसके पीछे असख्य असमर्थों को मार दिया गया। इस प्रकार जीवो को गिन-गिनकर हिंसा की तरतमता कूती जाती है।

क्या सचमुच जैन-धर्म का यही दृष्टिकोण है कि जीवो

का गिन-गिनकर हिंसा का हिसाब लगाया जाय ? जीवों को गिन-गिनकर हिंसा और अहिंसा का मापक तैयार करना जैन-धर्म को इष्ट नहीं है। जब आगमों की पुरानी परम्परा का अध्ययन करेंगे तो आपको विदित होगा कि जैन-धर्म जीवों की गिनती नहीं करता। वह तो केवल भावों को ही गिनता है। वह सख्या के बाहरी स्थूल गज से हिंसा को नहीं नापता। वह तो भावनाओं के सूक्ष्म गज से ही हिंसा की न्यूनता और अधिकता को नापता है।

भाव-हिंसा और द्रव्य-हिंसा के प्रकरण में तंदुल-मत्स्य का शास्त्रीय उदाहरण दिया जा चुका है। बेचारा तंदुल-मत्स्य एक भी मछली को नहीं मार सकता किन्तु फिर भी वह घोर से घोर हिंसा का भागी बन जाता है। यदि अधिक जीवों की हिंसा ही बड़ी हिंसा का कारण होती तो शास्त्र हमारे सामने तंदुल-मत्स्य का उदाहरण प्रस्तुत न करते। परन्तु वास्तव में ऐसा है नहीं। यह सिद्धान्त जैन-धर्म का नहीं है। यह तो हस्तीतापसों* की मनगढ़न्त मान्यता है।

प्राचीन काल में अनेकविध तपस्वी होते थे। उनमें से हस्तीतापस घोर तपस्या तथा कठिन व्रतों का पालन करते थे। जब पारणे का दिन आता तो वे विचार करते थे कि यदि हम वन-फल खाएँगे तो असंख्य और अनन्त जीव मरेंगे। यदि अनाज आदि खाएँगे तो उसमें भी जीव होते हैं फलतः सेर-दो सेर अन्न खाने पर अनेक जीव मारे

* हस्तीतापसों के लिए देखिए, सूत्रकृताङ्ग सूत्र और उसकी टीका —२ ६ ५२

जायेंगे। इससे हिंसा ज्यादा होगी। तो फिर क्यो न किसी एक ही स्थूलकाय जीव को मार लिया जाय, जिसे हम भी खाएँ, दूसरो को भी खिलाएँ, और साथ ही हिंसा की मात्रा भी कम हो। यह सोचकर वे जङ्गल मे एक हाथी को मार लेते थे और कई दिन तक उसे सुविधा-पूर्वक खाते रहते थे। निस्सन्देह उनका यही विचार था कि हम ऐसा करते है तो हिंसा कम होती है।

परन्तु भगवान् महावीर ने कहा है कि ऐसा समझना बिल्कुल गलत है। तुम्हे तो जीवो के गिनने की आदत ही गई है कि वनस्पति मे जीवो की सख्या अधिक है तो हिंसा भी अधिक होगी, किन्तु एक हाथी को मार लिया तो सख्या के अनुसार हिंसा कम हो गई। परन्तु ऐसा कदापि न समझो। जब वनस्पति-स्वरूप एकेन्द्रिय की हिंसा होती है तब भावो मे अधिक तीव्रता नही होती। उस समय मन मे उग्र घृणा और द्वेष के भाव पैदा नही होते। क्रूरता और निर्दयता की आग नही जलती। परन्तु जब पचेन्द्रिय जीव मारा जाता है तो अन्त करण की स्थिति दूसरे ही प्रकार की हो जाती है। वह हलचल करने वाला विशाल प्राणी है। जब उसे मारते हैं तो घेरते हैं, और जब घेरते है तो वह अपनी रक्षा करने का प्रयत्न करता है। इस प्रकार जब भीतर के भावो में तीव्रता होगी, क्रूरता एव निर्दयता की अधिकता होगी और तदनुसार भाव की प्रबलता होगी, तभी उसकी हिंसा की जायगी। एकेन्द्रिय जीव की हिंसा के परिणामो मे ऐसी तीव्रता नही होती।

भगवान् ने यही बतलाने का प्रयत्न किया है कि एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय जीव की हिंसा में भाव एक जैसे नहीं होते है। अतएव उनकी हिंसा भी एक जैसी नहीं हो सकती। ज्यों-ज्यों भावों की तीव्रता बढती जाती है त्यों-त्यों हिंसा की तीव्रता में भी वृद्धि होती जाती है। एकेन्द्रिय की अपेक्षा द्वीन्द्रिय जीव की हिंसा में परिणाम अधिक उग्र होंगे इसलिए हिंसा का परिमाण भी ज्यादा होगा। इस क्रम के अनुसार द्वीन्द्रिय से त्रीन्द्रिय में ज्यादा त्रीन्द्रिय से चतुरिन्द्रिय में ज्यादा और चतुरिन्द्रिय से पंचेन्द्रिय मे ज्यादा हिंसा मानी जाती है। पंचेन्द्रियों में भी औरों की अपेक्षा मनुष्य को मारने में सबसे ज्यादा हिंसा होती है।

हिंसा करने वाले के भाव किस गति से तीव्र तीव्रतर तथा तीव्रतम होते है, यह समझ लेना भी आवश्यक है। आप इस बात पर अवश्य ध्यान दे कि ज्यो-ज्यों विकसित प्राणी मिलते हैं जिनकी चेतना का जितना अधिक विकास होता है उन्हें उतना ही अधिक दुःख होता है। इस प्रकार एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक उत्तरोत्तर दुःख ज्यादा होता है। दुःख एक प्रकार की संवेदना है। संवेदना का संबंध चेतना के साथ है। जिसकी चेतना का जितना अधिक विकास होगा उसे दुःख की संवेदना उतनी ही अधिक होगी। जबकि एकेन्द्रिय की अपेक्षा द्वीन्द्रिय की चेतना अधिक विकसित है तो यह भी स्पष्ट है कि उसे दुःख की संवेदना—अनुभूति भी अधिक तीव्र होगी और जब दुःख की संवेदना तीव्र होगी तो अपनी रक्षा का उपक्रम करते समय आर्त ध्यान और

रौद्रभाव भी बढेगा। इधर मारने वाले में भी उतनी ही अधिक क्रूरता और रुद्रता का भाव जागेगा। जो जीव अपने बचाव के लिए जितना ही तीव्र प्रयत्न करेगा, मारने वाले को भी उतना ही तीव्र प्रयत्न मारने के लिए करना पडेगा। इस प्रकार पचेन्द्रिय जीव की हिंसा तीव्र भाव के बिना, अत्यधिक क्रूर परिणाम के बिना नही हो सकती। यही कारण है कि उसकी हिंसा एक बडी हिंसा कहलाती है और अधिक पाप का कारण होती है। यही कारण है कि भगवती और औपपातिक सूत्र आदि मे नरक गमन के कारणो का उल्लेख करते हुए पचेन्द्रिय वध तो कहा है, किन्तु एकेन्द्रिय वध नही।

तो मैं जैन-धर्म की ओर से उद्घोषणा करता हूँ कि सब जीवो को एक ही मापक से और इस दृष्टिकोण से नही नापना है कि सब प्राणी बराबर हैं, फलत सब को मारने में एक जैसी ही हिंसा होती है। कभी यह भी मत समझो कि एक जीव को मारने से कम हिंसा होती है और अनेक जीवो को मारने से अधिक हिंसा होती है। जैन-धर्म में ऐसा कोई एकान्त नही है। यह तो हस्तितापसो का मनगढन्त मत है, जिसका स्वय भगवान् महावीर ने निषेध किया है। परन्तु दुर्भाग्य है, आज वही निषेध भगवान् के गले मढा जा रहा है। किन्तु निष्पक्ष विश्लेषण के द्वारा जब वास्तविकता सामने आती है तो सारा भेद खुलकर ही रहता है।

मान लीजिए, इस प्रकार की मान्यता रखने वाला और उसे दूसरो को समझाने वाला साधु किसी गृहस्थ के घर आहार लेने जाता है। गृहस्थ के घर मे एक तरफ उबली

हुई ककड़ी का शाक है और दूसरी तरफ उबला हुई मछली है। दोनों ही चीजें आहार-सम्बन्धी अनुद्दिष्ट आदि नियमों के प्रतिकूल नहीं हैं। अब बतलाइए, वहाँ वह साधु क्या निर्णय करेगा? जो सब जीवों को बराबर मानकर चलता है उसके लिए उबली हुई ककड़ी और मछली में कोई अन्तर नहीं होना चाहिए। उसके मतानुसार तो जैसी पीड़ा एकेन्द्रिय को हुई थी वैसी ही पीड़ा पंचेन्द्रिय को भी होनी चाहिए। परन्तु ऐसी बात जब प्रत्यक्ष रूप से सामने आती है और वास्तविकता की कसौटी पर कसी जाती है तभी असलियत का पता लगता है।

जब सब जीव एक समान हैं और सबका शरीर भी समान है तो जिस प्रकार पानी का एक गिलास पी सकते हैं क्या वैसे ही मनुष्य का रक्त भी पिया जा सकता है? जब दोनों ही समान रूप से प्रासुक उपलब्ध हो रहे फिर भेद करने का क्या कारण है?

जो मुनि ऐसा मानता है कि कम जीवों के मरने से कम हिंसा होती है और अनेक जीवों के मरने से अधिक हिंसा होती है उसके सामने एक दिन ऐसा आदमी आता है जो माँस खाने वाला है और जिसके यहाँ एक बकरा रोजाना हलाल हो जाता है। उसने उस मुनि से निवेदन किया—मैं अहिंसा-व्रत धारण करना चाहता हूँ। किन्तु पूर्ण रूप से हिंसा को त्याग देना मेरे लिए संभव नहीं है क्योंकि मेरे यहाँ रोजाना एक बकरा मार कर खाया जाता है और गाजर मूली आदि कन्दमूल भी खाये जाते हैं। इन दोनों में से मैं

मान्यता समाप्त हो जाती है कि—जहाँ अधिक जीव मरते हैं वहाँ अधिक हिंसा होती है। चारों तरफ बगलें झाँकने के बाद अन्त में वे बकरा मारने का ही त्याग कराएँगे। दुनिया भर में चक्कर काटने के बाद आखिर उन्हें सही सिद्धांत पर ही आना पड़ेगा।

जैन-धर्म में एकेन्द्रियादि से लेकर पंचेन्द्रिय जीव तक की द्रव्य-हिंसा और भाव हिंसा मानी गई है और साथ ही उसमें क्रमशः तरतमता भी होती है। तरतमता का मूल कारण हिंसा का तरतमता परिणाम है। जहाँ क्रोध आदि कषाय की तीव्रता जितनी ही कम होती है वहाँ हिंसा भी उतनी ही कम होती है। इसी कसौटी पर हिंसा की तीव्रता और मंदता को परखना जैन-धर्म का इष्ट है। जब इस कसौटी पर हिंसा और अहिंसा को कसेंगे तो यह स्पष्ट हो जायगा कि एकेन्द्रिय की अपेक्षा पंचेन्द्रिय को मारने में हिंसक के मन में रौद्र ध्यान अधिक तीव्र होता है और मारने वाले में भी चेतना अधिक विकसित होने के कारण दुःख की अनुभूति अधिक ही होती है फलतः उसके आर्त ध्यान और रौद्र ध्यान भी अधिक

जिन जीवों को एक त्वचारूप स्पर्शन इन्द्रिय होती है, वे पृथ्वी जल अग्नि वायु और वनस्पति एकेन्द्रिय कहलाते हैं। स्पर्शन और रसन = जिह्वा वाले शंख आदि द्वीन्द्रिय हैं। स्पर्शन, रसन और घ्राण = नाक वाले चींटी आदि त्रीन्द्रिय हैं। स्पर्शन रसन घ्राण और चक्षु = आँख वाले मक्खी मच्छर आदि चतुरिन्द्रिय हैं। और स्पर्शन रसन घ्राण चक्षु एवं श्रोत्र = कान वाले मनुष्य पशु पक्षी आदि पंचेन्द्रिय प्राणी हैं।

तीव्र ही होते है । इस प्रकार जब वहाँ भाव-हिंसा तीव्र है, तो द्रव्य-हिंसा भी स्वभावत बडी ही होगी ।

यदि ऐसा न माना जाय तो भगवान् नेमिनाथ का पशुमोचन सम्बन्धी जटिल प्रश्न कैसे हल होगा ? वे तो वैराग्य के सागर थे, विवाह नही करना चाहते थे, किन्तु उन्हें विवाह के लिए किसी न किसी तरह मना लिया गया और बरात की तैयारी होने लगी । तब उन्हे स्नान कराया गया । कहते हैं, १०८ घडो के पानी मे स्नान कराया गया । विभिन्न प्रकार के फूलो की अनगिनती मालाएँ पहनाई गई । यह सब कुछ होता रहा, किन्तु फिर भी उन्होने यह नही कहा कि "मेरे विवाह के लिए इतनी अधिक हिंसा हो रही है ! एक बूँद मे असख्यात जीव हैं और एक फूल की एक पाँखुडी मे असख्य अनन्त जीव है । अत मैं विवाह नही करना चाहता ।" इस प्रकार वहाँ पर उन्होने कोई विरोध प्रकट नही किया ।

हाँ, तो बरात द्वारिका से चलकर राजा उग्रसेन के यहाँ पहुँची और जब रथारूढ होकर नेमिनाथ तोरण पर आए तो एक बाडे मे कुछ पशु-पक्षियो को घिरा देखा । यहाँ उन पशु-पक्षियो की करुण पुकार उनके कानो मे पडी । जब इसका कारण पूछा, तो भेद मालूम हुआ—

> अह सारही तओ भणइ, एए भद्दा उ पाणिणो ।
> तुज्झ विवाहकज्जमि, भोयावेउ बहुजण ।।
>
> —उत्तराध्ययन सूत्र २२, १७

अर्थात्, सारथी ने कहा—महाराज ! ये भद्र प्राणी

मापके विवाह प्रसंग पर भोजनार्थ मारने के लिए एकत्र किए गये हैं।

सारथी की बात सुनते ही भगवान् के अन्तःकरण में दया का सागर उमड़ पड़ता है।[*] वे करुणार्द्र होकर कहते हैं—एक तरफ तो मानव-मंगल हो रहा है मांगलिक बाजे बज रहे हैं और दूसरी तरफ इन मूक पशुओं की गर्दनों पर छुरियां चलाने की तैयारी हो रही है।

बस यह विचार उत्पन्न होते ही उन्होंने सारथी से कहा इन पशुओं को बाड़े से बाहर निकाल दो। जब सारथी ने पशुओं को निकाल दिया तो भगवान् प्रसन्न होकर सारथी को अपने बहुमूल्य आभूषण इनाम में दे देते हैं और साथ ही विवाह न करने का दृढ़ संकल्प कर साधना के महापथ पर चल पड़ते हैं।

यादव जाति मानो जाग उठी। कदाचित् इससे पूर्व उसकी अहिंसा के विषय में कोई विशेष स्पष्ट धारणा नहीं थी। इस उदाहरण से उसे एक नया सबक मिल गया उसे ध्यान आया कि विवाह के समय हम जो बड़ी-बड़ी हिंसाएं करते हैं और मूक पशुओं की गर्दनों पर छुरी चलाते हैं यह कितना बड़ा अनर्थ है! कितनी बड़ी अमानुषिकता है।

भगवान् नेमिनाथ ने विवाह का परित्याग करके जो ऊँचा आदर्श समाज के सामने उपस्थित किया उसका वर्णन भगवान् महावीर ने भी किया है! अब आप विचार कीजिए कि वह आदर्श क्या है? भगवान् नेमिनाथ ने त्याग करके

---

[*] देखिए, उत्तराध्ययन सूत्र २२, १ १६।

समय, जलकाय के असंख्य एकेन्द्रिय जीवो की हिंसा जानते हुए भी विवाह का त्याग नही किया। किन्तु बाडे में बन्द किए हुए कुछ गिनती वाले पचेन्द्रिय प्राणियो को देख कर और दया से द्रवित होकर उन्होने विवाह करना अस्वीकार कर दिया। इससे क्या निष्कर्ष निकलता है ? यदि भगवान् एकेन्द्रिय और पचेन्द्रिय जीवो की हिंसा को समान समझते होते, तो स्नान करते समय ही उसका विरोध करते और उसी समय विवाह करना अस्वीकार कर देते, क्योकि वहाँ असख्य जल-जीवो की हिंसा हो रही थी। यदि उस समय विवाह का त्याग नही किया तो फिर जल के जीवो की अपेक्षा बहुत थोडे पचेन्द्रिय पशु-पक्षियो की हिंसा से द्रवित होकर भी विवाह का त्याग न करते। परन्तु सख्या में थोडे इन पचेन्द्रिय जीवो को मारने के लिए नियत देखकर उनके हृदय मे करुणा का स्रोत बह उठा। इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि एकेन्द्रिय और पचेन्द्रिय जीव की हिंसा समान नही है।

एक गृहस्थ वनस्पति पर चाकू चलाता है, और दूसरा किसी मनुष्य या पशु की गर्दन पर छुरी चलाता है। अब अत करण को ही साक्षी बनाकर पूछो कि क्या दोनो समान पाप के भागी हैं ? क्या दोनो की हिंसा समान कोटि की है ? जो लोग एकेन्द्रिय और पचेन्द्रिय जीव की हिंसा को समान ही मानते हैं, क्या वे गृहस्थ एकेन्द्रिय के समान पचेन्द्रिय का भी बध करते हैं ? यदि वे स्वय ऐसा नही करते तो दुनिया को चक्कर में डालने के लिये क्यो एकान्त रूप से सर्व-विध हिंसा की समानता का प्रतिपादन करते हैं ?

अहिंसा और हिंसा का प्रधान केन्द्र तो व्यक्ति की भावना ही है। अतएव उसे ही आत्मा की कसौटी पर कस कर देखना होगा। जो इस प्रकार देखेंगे तो मैं समझता हूँ कि हस्तीतापसों के युग में विचरण करने नहीं जायेंगे। जीव-गणना के द्वारा हिंसा एवं अहिंसा की भावना यह जैन-धर्म की अपनी कसौटी नहीं है प्रत्युत भगवान् महावीर ने तो इसका प्रबल विरोध किया है। परन्तु दुर्भाग्य से यह भ्रान्ति हमारे अन्दर समाविष्ट हो गई है अतः आज के विचार शील जैनों को उक्त भ्रान्ति के सम्बन्ध में अपना मन संसार में स्पष्ट कर देना आवश्यक है। यह एक महत्वपूर्ण चर्चा है और दया-दान संबंधी समस्त नए-पुराने वाद-विवाद इसी में निहित है।

जो इस सत्यमार्ग पर चलेंगे उनकी आत्मा का कल्याण अवश्य होगा।

— ७ —

हिंसा की जड़ : प्रमाद

धर्म के दो रूप होते हैं—बाह्य, अर्थात् बहिरंग रूप, और अभ्यन्तर, अर्थात्—अन्तरंग रूप। बहिरंग रूप का अर्थ है—क्रियाकाण्ड, बाहर के आचार-विचार, रहन-सहन, और जीवन में जो कुछ भी बाह्य रूप से करते हैं, वे सब काम। अन्तरंग रूप का अर्थ है—वह भावना या विचार, जिनसे बाह्य आचार-विचार प्रेरित होता है। कोई भी साधक अपने आप में किस प्रकार की पवित्र भावनाएँ रखता है, किन उच्च विचारों से प्रेरित और प्रभावित होता है, उसमे जीवन की पवित्रता कितनी है, उसके अन्तरतर मे धर्म का कितना उल्लास है, वहाँ दया और करुणा की लहरे कितनी उठ रही है? यह सब भीतर का रूप ही धर्म का अन्तरग रूप कहलाता है।

जब यह अन्तरग दृष्टिकोण विशुद्ध एव वास्तविकतावादी बन जाता है, अर्थात् दूसरो के ससर्ग या सम्पर्क से उत्पन्न होने वाली विकृति या विभाव से परे होकर आत्मा की सर्वथा शुद्ध एव स्वाभाविक परिणति की पवित्र भूमिका मे पहुँच जाता है, तब वह धर्म कहलाता है।

"बाह्य धर्म" को व्यावहारिक धर्म भी कहते हैं। इसके सम्बन्ध में जैन-धर्म की यह धारणा है कि वह प्रायः बदलता रहता है, स्थायी नहीं रहता। प्रत्येक तीर्थंकर अपने-अपने युग में द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के अनुसार जीवन के बाह्य नियमों में परिवर्तन करते रहते हैं। प्रथम तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव के युग में जैन साधुओं का रहन-सहन कुछ और रूप में था और बाईस तीर्थंकरों के समय में क्रमिक परिवर्तन के फलस्वरूप दूसरे रूपों में प्रकट हुआ। फिर भगवान् महावीर आये। उन्होंने देश, काल तथा साधकों की बदली हुई वास्तविक स्थिति को सामने रखकर अपने पूर्ववर्ती भगवान् पार्श्वनाथ आदि द्वारा प्रचलित नियमों में अनेक परिवर्तन किये, जिनमें से कुछ हमें आज भी शास्त्रों में पढ़ने को मिलते हैं। जैसे—भगवान् ने वस्त्रों के सम्बन्ध में यह प्रतिबन्ध लगाया कि साधुओं को सफेद रंग के ही वस्त्र पहनने चाहिएँ और वे भी अल्प मूल्य वाले ही हों, बहुमूल्य नहीं। जबकि उनसे पहले यह सैद्धान्तिक प्रतिबन्ध नहीं था। भगवान् पार्श्वनाथ के युग में जैन-साधु किसी भी रंग के एवं बहुमूल्य वस्त्र पहन सकते थे। भगवान् महावीर ने इस दिशा में न केवल वेश-भूषा के विषय में, बल्कि आहार और विहार के सम्बन्ध में भी अनेक प्रगतिशील एवं उपयोगी परिवर्तन किये, जैसे—राजपिण्ड न लेना और एक ही स्थान पर निर्धारित अवधि से अधिक न रहना आदि।

भगवान् महावीर के युग में साधुओं के लिए पहले, दूसरे, तीसरे और चौथे प्रहर का कार्य-क्रम अलग-अलग बतलाया

गया है। जैसे —

पढमं पोरिसिं सज्झायं, बीयं झाणं झियायइ।
तइयाए भिक्खायरियं पुणो चउत्थीइ सज्झायं॥
—उत्तराध्ययन, २६, १८

साधु की दिन-चर्या चार पहरों में बांट दी गई थी। पहले प्रहर में स्वाध्याय करना, अर्थात्—पहला प्रहर मूल-स्वाध्याय में व्यतीत करना। दूसरा पहर उसके अर्थ का चिन्तन करने में, ध्यान में, तत्त्व-विचार में एवं जीवन के गम्भीर रहस्यों को स्पष्ट रूप में सुलझाने में गुजारना। इसी कारण पहला प्रहर 'सूत्र-पोरिसी' और दूसरा प्रहर 'अर्थ-पोरिसी' कहलाता था। यह दोनों पारिभाषिक शब्द हैं जिन्हें दुर्भाग्य से आज बिल्कुल ही भुला दिया है और निष्कासित-सा कर दिया है। अतः इस शब्दावली का एक दिन जो बहुमूल्य महत्त्व था, वह हमारे ध्यान से निकल गया है।

तीसरे प्रहर में साधु को भिक्षा के लिए जाने का विधान था। इस विधान के अनुसार यह सैद्धान्तिक भाव था कि जब साधु गृहस्थ के घर जाए, तो ऐसी स्थिति में जाए कि घर के सब लोग भोजन करके निवृत्त हो चुके हों। स्त्री, बच्चे और बड़े सभी खा-पी चुके हों, बचा हुआ भोजन अलग रख दिया गया हो जिसकी आवश्यकता न रह गई हो। ऐसे समय पर साधु भिक्षा के लिए जाए और उस बचे हुए भोजन में से अपनी आवश्यकता की पूर्ति के लिए थोड़ा-सा ले आए।

जिस समय गृहस्थी के यहाँ भोजन बन रहा हो या घर के लोग खा-पी रहे हों, उस समय साधु भिक्षा के लिए नहीं

जाया करते थे। क्योंकि उस समय जाकर यदि साधु भिक्षा न लाता है तो सम्भव है कि घर वालों के लिए भोजन कम पड़ जाए और फिर दुबारा बनाने की अनावश्यक परेशानी उठानी पड़े।

भगवान् महावीर के पश्चात् कुछ काल तक यह विधान चला। उसके बाद आचार्य शय्यंभव के युग में नया परिवर्तन हुआ। तीसरे प्रहर की भिक्षा का नियम मिटने लगा। मार्गों का गमनागमन भी बढ़ गया। प्रत्येक गृहस्थ के यहाँ तीसरे प्रहर तक भोजन की स्थिति प्राय नहीं रही थी। अत उस समय साधु के जाने पर भिक्षा न मिलने और मिले तो बासी होने की ही असुविधा होना स्वाभाविक था। गृहस्थ भी कहने लगे—भोजन के समय पर तो आते नहीं और समय बीत जाने पर आकर व्यर्थ ही हमें लज्जित करते हैं। यह भी कोई गोचरी है? जब इस प्रकार की परिस्थिति उत्पन्न हो गई तो आवश्यकता ने आचार्यों को नया विधान बनाने की प्रगतिशील प्रेरणा दी —

अकाल च विवज्जित्ता काले काल समायरे।

—दशवैकालिक सूत्र ५ २ ४।

अर्थात्—साधना को गांव की प्रथा के अनुसार भोजन के ठीक समय पर ही भिक्षा के लिए निकलना चाहिए और गृहस्थों की स्थिति का ध्यान रखना चाहिए। असमय में भिक्षा के लिए जाने से गृहस्थ को अप्रीति होगी, उनके चित्त में क्षोभ और तिरस्कार जागृत होगा और स्वयं को भोजन न मिलने पर साधु के मन में भी गांव वालों के प्रति तिरस्कार

का भाव उत्पन्न होगा। इस प्रकार दोनो ओर के संकल्पो मे गडबडी हो जायगी। इसी विचार-धारा से यह नया विधान प्रसारित किया गया कि जिस गांव मे भोजन का जो निश्चित-सा समय हो, वही भिक्षा का समय नियत कर लिया जाय।

यह एक युगान्तरकारी परिवर्तन था। उक्त उदाहरणो की परछाई मे हम देखते हैं कि धर्म के बाह्य रूपो मे तीर्थंकरो के युग से लेकर आचार्यो के युग तक लगातार परिवर्तन होते रहे है।

परन्तु धर्म का अन्तरंग रूप ऐसा नही होता। उसमे कभी कुछ भी बदलने वाला नही है। वह अनन्त-अनन्त काल तक ज्यो का त्यो स्थायी रहने वाला है। वह जैसा वर्तमान मे है, वैसा ही भूतकाल मे भी था और भविष्य मे भी ऐसा ही रहेगा। चाहे कितने ही तीर्थंकर आएं और परिवर्तनकारी प्रेरणा प्रसारित भी क्यो न करे, किन्तु अन्तरंग मे अणुमात्र भी परिवर्तन होने वाला नही है।

प्रतिवर्ष पतझड की ऋतु मे वृक्षो के फूल, फल तथा पत्ते सब चले जाते है, किन्तु पतझड के बाद वह फिर नवीन कोपलो से सुहावना दिखाई देने लगता है। फिर उसमे फल-फूल लगते है, वह हरा-भरा और मनोरम हो जाता है। कुछ समय बाद फिर पतझड की ऋतु आती है और वह वृक्ष फिर ठूंठ-सा दिखाई देने लगता है। इससे स्पष्ट है कि वृक्ष बाहर से अपना रूप अवश्य बदलता रहता है, परन्तु अपने मूल रूप को नही बदलता। यदि वृक्ष का मूल रूप ही बदल जाए तो फिर फलो, फूलो और पत्तो के लिए वहां गुंजाइश

कहाँ रहे ?

उपर्युक्त कथन से यह सिद्धान्त निकला कि प्रत्येक सत्य का एक स्थायी रूप होता है और शेष बदलता हुआ रूप। यदि सत्य सर्वदा स्थायी रहने वाला कुछ भी रूप न हो तो परिवर्तन होने वाला—बदलने वाला रूप किसके सहारे टिकेगा ? क्या वह आधार-शून्य न हो जाएगा ?

इस प्रकार व्यावहारिक रूप में धर्म बदलता रहता है—उसे देश काल और परिस्थिति के अनुरूप तीर्थंकर भी बदल देते हैं और आगे होने वाले आचार्य भी द्रव्य क्षेत्र काल तथा भाव के अनुसार यथासमय बदल डालते हैं। किन्तु अन्तरंग धर्म कभी नहीं बदलता। वह सदैव एक-सा रहता है।

अहिंसा-धर्म अन्तरंग धर्म है। वह निश्चय धर्म है। अहिंसा अपने आप में बदलने वाली सांसारिक वस्तु नहीं है। वह तो एक त्रिकाल स्थायी सत्य एवं शाश्वत धर्म है। वह तो अनादि काल से चला आ रहा है आज भी चल रहा है और अपनी सुनिश्चित गति से आगे भी चलता रहेगा।

जैन-धर्म में आत्मा कभी नहीं बदलती*। शरीर अवश्य बदलता है किन्तु आत्मा उसी रूप में स्थिर रहती है। वह किसी भी परिस्थिति मे बदल नहीं सकती। हमने अनन्त अनन्त काल संसार में रहकर बिताए, तब भी आत्मा नहीं बदली। यहाँ तक कि जब मोक्ष मे जाना होता है तब भी

---

* आत्मा का परिवर्तन आत्म-रूप में ही होता है पर-रूप में नहीं। यहाँ आत्मा के न बदलने का अर्थ है—आत्मा का आत्मस्वरूप से कभी नाश नहीं होता। वह सदा अक्षय एवं अभेद्य रहती है।

आत्मा नही बदलती है। आत्मा तो सदा आत्मा ही रहेगी, वह कदापि अनात्मा नही हो सकती। हाँ, इस पंचभौतिक शरीर को किसी दिन ग्रहण किया जाता है, तो किसी दिन छोड भी दिया जाता है। इस प्रकार यह परम्परा सदैव जारी रहती है।

अहिंसा जैन-धर्म की आत्मा है। उसके मूल रूप मे किसी भी समय और किसी भी परिस्थितिवश किसी भी प्रकार का परिवर्त्तन सम्भव नही हो सकता। अत जैन-धर्म को समझने के लिए पहले अहिंसा को भली-भाँति समझना चाहिए और अहिंसा को भली-भाँति समझने के लिए जैन-धर्म को सही दृष्टिकोण मे देखना चाहिए। यह दोनो, मानो एक रूप हो गए है। इन्हे एक-दूसरे से अलग नही किया जा सकता।

जब जैन-धर्म का प्रसग आता है तो अहिंसा तुरन्त याद आ जाती है। इसी प्रकार जब अहिंसा का प्रसग छिडता है तो तुरन्त जैन-धर्म की याद आ जाती है। अस्तु हम जैन-धर्म के साथ ही अहिंसा का भी स्मरण किया करते है। इस प्रयोजन मे अकेले हम ही नही, अपितु हमारे अजैन साथी भी जब किसी प्रसगवश अहिंसा को याद करते है, तो साथ-साथ जैन-धर्म को भी याद कर लेते है।

परन्तु अहिंसा-तत्त्व वास्तव मे इतना सूक्ष्म है कि उसको ठीक-ठीक समझने मे भूल और भ्रातियाँ भी हो सकती हैं, क्योंकि सामान्य बुद्धि के लोग तो उसके स्थूल रूप को ही पकड लेते है। उसका सूक्ष्म रूप उनकी बुद्धि की पकड मे नही आता। अतएव अहिंसा के सम्बन्ध में तीर्थंकरो ने या

आचार्यों ने क्या स्पष्टीकरण किया है ? अहिंसा के कितने विभाग किये गए हैं ? इत्यादि विषयों पर गहराई से विचार करने से ही अहिंसा का ठीक विचार हो सकेगा ।

अहिंसा के भेदों को समझने के लिए पहले हिंसा के भेदों को समझना पड़ेगा । आखिर अहिंसा का निषेधरूप अर्थ है—हिंसा का न होना । अतः अब यह मालूम करें कि हिंसा कितने प्रकार की है ? यदि आप जैन धर्म से जानना चाहते हैं तब तो आपको अहिंसा के अनन्त-अनन्त भेद ज्ञात होंगे । संख्यात नहीं असंख्यात भी नहीं बल्कि अनन्त-अनन्त ! और वस्तुतः यह परिमाण ठीक भी है । कोई आदमी समुद्र के किनारे खड़ा है और उस समय ज्वार आने के कारण समुद्र में जो लहरें उठती हैं और गिरती हैं क्या उनकी गिनती की जानी सम्भव है ? यह चक्र तो दिन-रात निरन्तर चलता ही रहता है और इस प्रकार सारा समुद्र प्रतिपल लहरों से नाचता रहता है ।

आप अपने मन को भी समुद्ररूप में कल्पित कर सकते हैं । इस मन के समुद्र में भी प्रतिपल विचारों का ज्वार भाटा उठता रहता है और उसकी लहर हिलोरें मारा करती है । इस मन में भी दिन रात प्रतिपल प्रति समय भावना रूपी लहरें उठती हैं और बैठ जाती हैं और फिर नए वेग से उठती हैं । उस समय ऐसा मालूम होता है कि हमारा मन मानो नाच रहा है । एक क्षण के लिए भी शान्त नहीं होता है । इसी बात को ध्यान में रखकर धर्म-जगत् के महान् एवं समझ विचारक श्री बनारसीदास ने कहा है —

एक जीव को एक दिन, दया होइ जेतीक,
सो कहि न सकै केवली, यद्यपि जानै ठीक ।

और मन की ही क्या बात है ? जहाँ मन नही है, वहा भी अध्यवसाय तो होते ही है और उनके द्वारा अमनस्क प्राणी के जीवन भी हर समय नाचते ही रहते है । एकेन्द्रिय जीव को मन नही होता, फिर भी वह कितने कर्म समय-समय पर बाँधता है, अर्थात् सात या आठ । सात कर्म तो नियम से बँधने अनिवार्य ही हैं । समय बडा ही सूक्ष्म है । इस सूक्ष्म-सूक्ष्मतम समय में सात कर्मों के अनन्त-अनन्त परमाणु-स्कन्धो का आत्मा के साथ बँध जाना अध्यवसाय के बिना किसी भी रूप मे सभव नही है । आप यह तो भली-भाति जानते है कि बन्ध कब होता है ? "जब आत्मा मे कम्पन उत्पन्न होगा, हलचल होगी और उसके साथ क्रोध, मान, माया तथा लोभ के संस्कार जाग्रत होगे—तभी कर्म-बन्ध होना सम्भव है । जब यह संस्कार नही" रहते, योगो की हलचल से आत्मा मे कम्पन नही होता, तब कर्म-बन्ध भी नही होता ।

जब मन, वाणी और शरीर मे कम्पन नही होता तो उस अवस्था मे आत्मा पूरी तरह शान्त और स्थिर हो जाती है । आत्मा की वह दशा 'शैलेशी अवस्था' कहलाती है और वहाँ पूर्ण निश्चल अवस्था आ जाती है । दसवे गुण-स्थान तक कषायो से तथा योगो से बध होता है, और ग्यारहवे, बारहवे तथा तेरहवे गुण-स्थान मे कषाय न रहने पर केवल योगो के द्वारा ही बध होता है । चौदहवे गुण-स्थान मे

कषाय और योग—दोनों ही नहीं रहते अतएव वहाँ अकम्पक दशा प्राप्त होती है। सिद्धों को भी कर्मबंध नहीं होता क्योंकि वहाँ भी कषाय और योगों का अस्तित्व नहीं रहता है।

उपरकथित विवेचन से क्या आशय फलित हुआ ? हमारा मन, वाणी और शरीर भी समुद्र की भाँति हिलोर मारता है और उसमें निरन्तर हलचल मची रहती है। चाहे कोई जीव एकेन्द्रिय हो, द्वीन्द्रिय हो, त्रीन्द्रिय हो, चतुरिन्द्रिय हो अथवा पंचेन्द्रिय हो, परन्तु जब तक उसमें संसारी दशा का यौगिक अस्तित्व है तब तक कम्पन होना अनिवार्य है।

हाँ तो नीचे की भूमिकाओं में मन का प्रत्येक कम्पन हिंसा है। और जब कम्पन की कोई गिनती नहीं की जा सकती तो हिंसा के भेदों की गणना भी कैसे की जा सकती है ? फिर भी स्थूल रूप से उनकी गणना की गई है। इस विषय की पूरी छान-बीन करके आचार्यों ने बतलाया है कि सामान्य बुद्धि तथा सामान्य दृष्टि वाला प्राणी हिंसा के समस्त रूपों को स्पष्ट रूप में नहीं समझ सकता, फिर भी जो स्थूल रूप जितने अंशों में आपकी समझ में आ सकें उनको ध्यान में अवश्य रखना चाहिए।

सबसे पहले हिंसा के तीन रूप हैं—(१) संरम्भ (२) समारम्भ और (३) आरम्भ।

> मणोपुव्वंगमा धम्मा मणोसेट्ठा मणोमया।
> मणसा चे पदुट्ठेन भासति वा करोति वा॥
>
> —धम्मपद

जितनी भी बाते है, क्रियाएँ है या हरकते है, वे सबसे पहले मन मे जन्म लेती है और अध्यवसायो मे अकुरित होती है। हमारा सारा जीवन मानसिक अध्यवसायो द्वारा ही प्रेरित और सचालित होता है। अतएव वे अध्यवसाय ही मुख्य रूप से हिंसा की जन्म-भूमि है। इस प्रकार सबसे पहले हिंसा के विचार उत्पन्न होते है और फिर हिंसा करने के लिए सामग्री जुटाई जाती है।

इस स्थिति मे हिंसा के विचारो का उत्पन्न होना 'सरम्भ' कहलाता है और हिंसा के लिए सामग्री जुटाना 'समारम्भ' कहलाता है। इन दोनो क्रियाओ के बाद 'आरम्भ' का नम्बर आता है। 'आरम्भ' का क्रम हिंसा के प्रारम्भ से लेकर अन्तिम मार देने तक चलता है।

इस प्रकार हिंसा के तीन भेद हुए। अब देखना चाहिए कि हिंसा का जो सकल्प या प्रयत्न किया जाता है, वह क्यो किया जाता है? उत्तर मे कहना है कि—अन्तर्हृदय की दूषित भावनाओ की प्रेरणा से हिंसा का सकल्प होता है, हिंसा की सामग्री जुटाई जाती है और अन्त मे उन्ही भावनाओ से बल पाकर हिंसा करने का सक्रिय प्रयत्न किया जाता है।

हाँ तो वे भावनाएँ क्या है? उन्हे खोजने का प्रयत्न करना चाहिए। वे भावनाएँ चार प्रकार की है और वस्तुत वे दुर्भावनाएँ है—क्रोध, मान, माया और लोभ। जब कभी हिंसारूप दुष्ट प्रवृत्ति की जाती है तो उसके भाव—क्रोध से, मान से, माया से, अथवा लोभ से उत्पन्न होते है। इन्ही को चार प्रकार के कषाय कहते है। इन चारो कषायो के कारण

ही संरम्भ-रूप हिंसा होती है, इन्हीं से समारम्भ-रूप हिंसा होती है और इन्हीं से अन्तिम आरम्भ-रूप हिंसा हुआ करती है। अतएव इन चारों के साथ संरम्भ आदि तीन का गुणन करने से हिंसा के बारह भेद बन जाते हैं। कषायों का रंग जितना अधिक गहरा होगा, उतनी ही अधिक हिंसा होगी और जितना रंग कम होगा, हिंसा भी उतनी ही कम होगी। अतः स्पष्ट है कि हिंसा की पृष्ठभूमि 'कषाय' है, जिसे सम्यक् ध्यान में रखना चाहिए।

जीव प्रायः कषाय से प्रेरित होकर ही हिंसा करता है। परन्तु हिंसा के मुख्य औज़ार हैं—तीन योग, अर्थात्—मन, वचन और काय। यही तीन शक्तियाँ मनुष्य के पास हैं। जब मन पर, वचन पर और काय पर हरकत आती है, तभी हिंसा होती है। अतएव ऊपर कहे बारह भेदों का तीन से गुणन कर देने पर हिंसा के छत्तीस भेद हो जाते हैं।

मन, वचन और काय के भी तीन भेद हैं—स्वयं करना, दूसरों से करवाना और अनुमोदना करना। इन तीनों योगों के द्वारा हिंसा करने के तीन तरीके हैं, जिन्हें करण कहते हैं। इनके साथ पूर्वोक्त छत्तीस भेदों को गुणित कर देने पर हिंसा के १०८ भेद निष्पन्न हो जाते हैं।

हिंसा की इन १०८ प्रकार की निवृत्तियों के उद्देश्य से ही आप १०८ दानों वाली माला जपते हैं।

यह पहले बतलाया जा चुका है कि सामान्यतः हिंसा से निवृत्ति पा लेना ही अहिंसा है। इसका तात्पर्य यह है कि मनुष्य ज्यों-ज्यों हिंसा के इन भेदों से निवृत्त होता जाता है

त्यो-त्यो वह अहिंसा के भेदों की साधना करता जाता है। इससे यह बात भी स्पष्ट हो जाती है कि जितने भेद हिंसा के हैं उतने ही अहिंसा के भी हैं, और जितने भेद अहिंसा के हो सकते हैं उतने हो हिंसा के भी समझने चाहिएँ।

इस प्रकार जब आप हिंसा और अहिंसा के निरूपण पर ध्यान देंगे तो ज्ञात होगा कि जैन-धर्म बड़ी सूक्ष्मता तक पहुँचता है, अन्तरतम की गहराई मे चला जाता है। और उस गहराई को समझने के लिए साधक को अपनी बुद्धि तथा अपने विवेक को सतत् साथ रखने की जरूरत है। अन्यथा वास्तविकता समझ मे नही आएगी।

उपर्युक्त प्रस्तावना मे आप भली-भाति समझ सकते है कि हिंसा का अर्थ केवल मारना ही नहीं है, किन्तु हिंसा का सकल्प मात्र भी हिंसा है। किसी जीव को लेकर इधर से उधर कर देना, उसे टकरा देना या एक जीव के ऊपर दूसरे जीव को रख देना भी हिंसा है, और क्षणिक मनोरंजन के लिए किसी जीव को धूल से ढँक देना भी हिंसा है। यदि जीव आ जा रहे है और स्वतन्त्र रूप से विचरण कर रहे है तो उनकी स्वतन्त्रता में रुकावट डालना भी हिंसा है। यहाँ तक कि किसी जीव को अकारण छू लेना भी हिंसा है। यह सब मर्यादाएँ सुप्रसिद्ध 'इरियावहिया' के पाठ मे आ जाती हैं।

हाँ, तो जैन-धर्म यही कहता है कि किसी भी प्राणी की स्वतन्त्रता मे तुम बाधक मत बनो। उसके जीवन की जो भी भूमिका है, उसी के अनुसार वह गति कर रहा है। यदि तुमने उसका रास्ता रोक दिया अथवा उसे छू दिया

तो तुम हिंसा के भागी हो गए। इस रूप में आपको अहिंसा धर्म की सूक्ष्म व्याख्या सुनने को अन्यत्र न मिलेगी।

अहिंसा-धर्म की इन बारीकियों को देखकर साधारण जनता सहसा आश्चर्यचकित हो जाती है। क्योंकि आखिर मनुष्य अपनी जिन्दगी में हरकत तो करता ही है वह खाता भी है और जाता भी है। इस तरह कहीं न कहीं और किसी न किसी जीव के मन्तव्य मार्ग में रुकावट आ ही जाती है। किसी न किसी को धक्का पहुँच बिना नहीं रहती फलत वह जीव भयभीत हो ही जाता है। ऐसी स्थिति में स्वभावत यह प्रश्न उपस्थित हो जाता है कि आखिर हम किस प्रकार अहिंसक रह सकते हैं? यह प्रश्न हमारे और आपके समक्ष समान रूप से उपस्थित होता है। आखिर साधु से भी किसी प्राणी को पीड़ा पहुँच सकती है। कल्पना कीजिए—साधु के जल से भरे पात्र में मक्खी गिर जाती है। उसे निकालने के लिए पहले तो छूना ही पड़ता है और तब वह निकाली जाती है।

मान लीजिए एक प्राणी है और वह धूप में पड़ा है। अपंग होने के कारण वह इधर-उधर नहीं जा सकता। वह धूप का मारा तिलमिला रहा है और मौत के मुँह में जाने की तैयारी कर रहा है। आप अपनी उदारतावश उसे उठाकर एक जगह से दूसरी जगह रख देते हैं। निस्सन्देह आपने तो सोच-समझकर और दया से प्रेरित होकर ऐसा किया है किन्तु कोई आपसे कहता है— 'ठाणाओ ठाणं संकामिया' अर्थात्—जीव को एक जगह से दूसरी जगह रख देना भी

हिंसा है। इस प्रकार जब किसी जीव की गति मे बाधा पहुँचाना, और यहाँ तक कि उसे छूना भी हिंसा है, तो आप प्रमार्जन क्रिया कैसे कर सकते है? प्राणी स्वतन्त्रता पूर्वक घूम रहे है और जब आप प्रमार्जन करते है, तो उन्हे एक जगह से घसीटकर दूसरी जगह ले जाते हैं।

यदि इसी दृष्टि से विचार किया जाएगा, तो कही पैर रखने को भी जगह न मिलेगी। जीवन व्यापार का सचालन करना भी हिंसा के विना सम्भव नही है। आखिर श्वास की हवा से भी तो सूक्ष्म जन्तुओ की स्वतन्त्र गति मे बाधा पडती है। इस सम्बन्ध मे किसी ने एक आचार्य से प्रश्न किया—

> जले जन्तु स्थले ज तुराकाशे जन्तुरेव च।
> जन्तुमालाकुले लोके, कथ भिक्षुरहिंसक?॥
>
> —तत्त्वार्थ राजवार्तिक ८, १७

अर्थात्—जल मे भी जीव है और स्थल पर भी जीव है। और आकाश मे भी सर्वत्र अनगिनत जीव-जन्तुओ की भरमार है। इस तरह जब सारा ससार जीवो से व्याप्त है, कही एक इ च भी जगह खाली नही है तो भिक्षु अहिंसक कैसे रह सकता है?

अस्तु जो प्रश्न आज पैदा होता है, वह पहले भी पैदा हुआ था। अभिप्राय यह है कि जब आप किसी कीडे-मकोडे को जाता हुआ देखते है और रजोहरण से प्रमार्जन करते हैं तो तनिक विचार कीजिए कि चीटियो का शरीर क्या है! उनकी शारीराकृति बहुत छोटी-सी है। ज्यो ही आपका रजोहरण

उन पर पड़ता है वे भयभीत हो जाती हैं। अपने दुःख की कल्पना वे स्वयं ही कर सकती है। कदाचित् आप तो यही कह सकते हैं—कौन बड़ा बोझ उनके ऊपर पड़ गया। परन्तु जब उनके ऊपर रजोहरण पड़ता है तो उन्हें ऐसा मालूम होता है जैसे उन पर कोई पहाड़ टूट पड़ा हो। निस्सन्देह व त्रस्त हो जाती हैं और जब घसीटते-घसीटते आप उन्हें दूर तक ले जाते हैं तो उन कोमल शरीर वाली बेचारी चींटियों को ऐसा लगता है मानो अब जिन्दगी का अन्तिम क्षण आ पहुँचा हो। इस सम्बन्ध में शास्त्रकार भी कहते हैं—'संघाइया संघट्टिया' अर्थात्—पृथ्वी पर रगड़ा हो या कुचला हो अथवा एक-दूसरे पर डाला गया हो तो यह सब हिंसा के ही विभिन्न रूप हैं।

अब प्रश्न उपस्थित होता है कि यह सब क्या है? अहिंसा की भूमिका को हम किस प्रकार अपने जीवन में तय कर सकते हैं? शुद्ध अहिंसक बनने के लिए कहीं यह तो अनिवार्य नहीं है कि इधर 'करेमि भंते' और 'वोसिरामि' बोले और उधर जहर की पुड़िया खाकर संसार से ही विदा हो जायँ? आखिर सर्वथा निश्चल कैसे रहा जा सकता है? जब आत्मा संसार में रहता है और जीवन व्यापार चलाना भी अनिवार्य है तो फिर पूरी तरह निष्क्रिय होकर किस प्रकार मुर्दे की तरह पड़ा रहा जा सकता है?

भगवान् महावीर छह मास तक हिमालय की चट्टान की तरह अचल खड़े रहे किन्तु उसके बाद वे भी पारणा के लिए गए और हरकत शुरू हो गई। महीना दो महीना

और अधिक से अधिक छह महीना कायोत्सर्ग में बिताये जा सकते हैं, किन्तु फिर भी जीवन तो जीवन ही है। उसमें गमन-आगमन किये बिना जीवन का व्यापार चल नहीं सकता। फिर साधुओं पर तो एक जगह अनिश्चित समय तक ठहरने के लिए प्रतिबन्ध भी लगा है। साधुओं को निर्धारित समय से अधिक एक जगह ठहरना नहीं चाहिए। उन्हें तो ग्रामानुग्राम विहार करना ही चाहिये। जब यह स्थिति हमारे समक्ष है, तो हम विचार करना चाहते हैं कि अहिंसा और हिंसा की मूल भूमि कहाँ है?

जब आप जैन-धर्म के मर्मस्थल का स्पर्श करेंगे तो एक बात ध्यान में अवश्य आएगी कि जितनी भी हरकत होती है, जो भी काम किये जाते हैं या जो भी चेष्टाएँ उत्पन्न होती हैं, उन सबके मूल में हिंसा नहीं उठती है और न उनके मूल में कहीं पाप ही होता है। वे अपने आप में दोषयुक्त भी नहीं हैं। किन्तु उनके पीछे जो संकल्प हैं, भावनाएँ हैं, या कषाय हैं उन्हीं में हिंसा है और वहीं पाप भी है। अभिप्राय यही है कि जैन-धर्म के सामने जब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि—क्या खाने-पीने में भी पाप है? तब वह उत्तर देता है कि—खाने-पीने में तो पाप नहीं है, किन्तु यह बतला दो कि उसके पीछे वृत्ति क्या है? यदि खाने के पीछे अविवेक की भावना तो है, किन्तु कर्त्तव्य की भावना नहीं है यदि तू खाना केवल खाने के लिये और स्वाद के लिए ही खाता है, और ऐसे खाने के बाद शरीर का क्या उपयोग करेगा—यह निर्णय नहीं किया है तो तेरा

अनुसार गोमन आदि के पीछे जो संकल्प है, उसी में पुण्य और पाप है। यदि उन क्रियाओं के पीछे कषाय है तो वह पाप है और यदि सद्बुद्धि है तो धर्म है। यदि कोई साधक गमनागमन में विवेक रखता है और किसी प्रकार की असाव धानी भी नहीं रखता है किन्तु फिर भी हिंसा हो जाती है तो वह हिंसा पाप-प्रकृति का बंध नहीं करती। इसी तरह यदि कोई श्रावक किसी क्रिया में यतना रखता है, गड़बड़ाता भी नहीं है किन्तु फिर भी कदाचित् हिंसा हो जाती है तो वह भी पाप प्रकृति का बंध नहीं करता। इस सम्बन्ध में भगवान् महावीर ने 'सूत्रकृताङ्ग-सूत्र' में कहा है —

पमायं कम्ममाहंसु,
अप्पमायं तहाऽवरं।"

जहाँ प्रमाद है, भूल है और अयतना है—वहीं पाप-कर्म है। इसके विपरीत जहाँ प्रमाद नहीं है, अविवेक नहीं है—अपितु अप्रमत्तता है, विवेक है, जागरूकता है, और यतना है—वहाँ कोई भी क्रिया क्यों न हो वह अहिंसा है, कर्म बन्ध का हेतु नहीं है अपितु वहाँ कर्मों की निर्जरा है।

यह जैन-धर्म का सही दृष्टिकोण है। जब हम इसे ध्यान में रखते हैं तो जैन-धर्म की जो आत्मा है, प्राण है—वह स्पष्ट रूप में हमारे सामने झलकने लगता है।

मैंने पहले प्रश्न करते हुए कहा था कि—जब प्रमार्जन करते हैं तब अहिंसा के स्थान पर हिंसा ही होनी चाहिए, क्योंकि प्रमार्जन में जीव भयभीत होते हैं, त्रस्त होते हैं। किन्तु तनिक गहराई से विचार कीजिए कि आप जहाँ

अनुसार बोलने आदि के पीछे जो संकल्प है, उसी में पुण्य और पाप है। यदि उन क्रियाओं के पीछे कषाय है तो वह पाप है और यदि सद्बुद्धि है तो धर्म है। यदि कोई साधक गमनागमन में विवेक रखता है और किसी प्रकार की असावधानी भी नहीं रखता है किन्तु फिर भी हिंसा हो जाती है तो वह हिंसा पाप प्रकृति का बंध नहीं करती। इसी तरह यदि कोई श्रावक किसी क्रिया में यतना रखता है, असावधानी भी नहीं है किन्तु फिर भी कदाचित् हिंसा हो जाती है तो वह भी पाप प्रकृति का बंध नहीं करता। इस सम्बन्ध में भगवान् महावीर ने 'सूत्रकृतांग-सूत्र' में कहा है —

पमायं कम्ममाहंसु
अप्पमायं तहावरं।"

जहाँ प्रमाद है, भूल है और अयतना है—वही पाप-कर्म है। इसके विपरीत जहाँ प्रमाद नहीं है, अविवेक नहीं है—अपितु अप्रमत्तता है, विवेक है, जागरूकता है और यतना है—वहाँ कोई भी क्रिया क्यों न हो, वह अहिंसा है, कर्म बन्ध का हेतु नहीं है, अपितु वहाँ कर्मों का निर्जरा है।

यह जैन-धर्म का सही दृष्टिकोण है। जब हम इसे ध्यान में रखते हैं तो जैन-धर्म की जो धारणा है, प्राण है—वह स्पष्ट रूप में हमारे सामने झलकने लगता है।

मैंने पहले प्रश्न करते हुए कहा था कि—जब प्रमार्जन करते हैं तब अहिंसा के स्थान पर हिंसा ही होनी चाहिए, क्योंकि प्रमार्जन से जीव भयभीत होते हैं, त्रस्त होते हैं। किन्तु तनिक गहराई से विचार कीजिए कि आप वहाँ

अनुसार बोलने आदि के पीछे जो संकल्प है, उसी में पुण्य और पाप है। यदि उन क्रियाओं के पीछे कषाय है तो वह पाप है और यदि सद्बुद्धि है तो धर्म है। यदि कोई साधक गमनागमन में विवेक रखता है और किसी प्रकार की असावधानी भी नहीं रखता है किन्तु फिर भी हिंसा हो जाती है तो वह हिंसा पाप प्रकृति का बंध नहीं करती। इसी तरह यदि कोई श्रावक किसी क्रिया में यतना रखता है गड़बड़ाता भी नहीं है किन्तु फिर भी कदाचित् हिंसा हो जाती है तो वह भी पाप प्रकृति का बंध नहीं करता। इस सम्बन्ध में भगवान् महावीर ने 'सूत्रकृताङ्ग-सूत्र' में कहा है —

पमायं कम्ममाहंसु
अप्पमायं तहावरं।"

जहाँ प्रमाद है, भूल है और अयतना है—वहीं पाप-कर्म है। इसके विपरीत जहाँ प्रमाद नहीं है, अविवेक नहीं है—अपितु अप्रमत्तता है, विवेक है, जागरूकता है, और यतना है—वहाँ कोई भी क्रिया क्यों न हो वह अहिंसा है, कर्म बन्ध का हेतु नहीं है अपितु वहाँ कर्मों की निर्जरा है।

यह जैन-धर्म का सही दृष्टिकोण है। जब हम इसे ध्यान में रखते हैं तो जैन-धर्म की जो धारणा है, प्राण है—वह स्पष्ट रूप में हमारे सामने झलकने लगता है।

मैंने पहले प्रश्न करते हुए कहा था कि—जब प्रमार्जन करते हैं तब अहिंसा के स्थान पर हिंसा ही होनी चाहिए क्योंकि प्रमार्जन में जीव भयभीत होते हैं, त्रस्त होते हैं। किन्तु तनिक गहराई में विचार कीजिए कि आप वहाँ

अनुसार बोलने आदि के पीछे जो संकल्प है, उसी में पुण्य और पाप है। यदि उन क्रियाओं के पीछे कषाय है तो वह पाप है और यदि सद्‌बुद्धि है तो धर्म है। यदि कोई साधक गमनागमन में विवेक रखता है और किसी प्रकार की असावधानी भी नहीं रखता है किन्तु फिर भी हिंसा हो जाती है तो वह हिंसा पाप प्रकृति का बंध नहीं करती। इसी तरह यदि कोई साधक किसी क्रिया में यतना रखता है गड़बड़ाता भी नहीं है किन्तु फिर भी कदाचित् हिंसा हो जाती है तो वह भी पाप प्रकृति का बंध नहीं करता। इस सम्बन्ध में भगवान् महावीर ने सूत्रकृताङ्ग-सूत्र में कहा है —

पमायं कम्ममाहंसु
अप्पमायं तहाऽवरं।

जहाँ प्रमाद है, भूल है और अयतना है—वहीं पाप-कर्म है। इसके विपरीत जहाँ प्रमाद नहीं है अविवेक नहीं है—अपितु अप्रमत्तता है विवेक है जागरूकता है, और यतना है—वहाँ कोई भी क्रिया क्यों न हो वह अहिंसा है कर्म बन्ध का हेतु नहीं है अपितु वहाँ कर्मों की निर्जरा है।

यह जैन धर्म का सही दृष्टिकोण है। जब हम इसे ध्यान में रखते हैं तो जैन-धर्म की जो धारणा है प्राण है—वह स्पष्ट रूप से हमारे सामने झलकने लगता है।

मैंने पहले प्रश्न करते हुए कहा था कि—जब प्रमार्जन करते हैं तब अहिंसा के स्थान पर हिंसा ही होनी चाहिए क्योंकि प्रमार्जन से जीव भयभीत होते हैं त्रस्त होते हैं। किन्तु तनिक गहराई से विचार कीजिए कि आप वहाँ

स्थान तक ही मर्यादित है और सातवां गुण-स्थान अप्रमत्त अवस्था का है। किन्तु हिंसा (द्रव्य-हिंसा) तो तेरहवें गुण-स्थान तक रहती है। फिर भी जहाँ अप्रमत्त अवस्था है वहाँ हिंसा का पाप नहीं लगता। संक्षेप में इसका अर्थ इतना ही है कि अप्रमत्त अवस्था में और विवेक भाव में होने वाली हिंसा—पाप स्वरूप नहीं होती।

इसके विपरीत संसार के सकषाय तथा प्रमादी जीव चाहे हिंसा करें या न करें किन्तु यदि उनके अन्दर यतना की वृत्ति और विवेक की ज्योति नहीं जगी और साथ ही दूसरों की जिन्दगी को बचाने का उच्च संकल्प नहीं उठा तो वे चाहे हिंसा करें तब भी हिंसा है और चाहे हिंसा न करें तब भी हिंसा है।* एक उदाहरण देखिए —

एक धीवर आया हुआ है और उस समय मछलियाँ नहीं पकड़ रहा है। क्या तब भी उसे आरम्भिया क्रिया लग रही है या नहीं? हाँ उसे अवश्य लग रही है क्योंकि उसका हिंसा का संकल्प अभी समाप्त नहीं हुआ है। वह अभी कषाय भावों में प्रमिल है। फिर वह चाहे हिंसा कर रहा हो या न कर रहा हो हिंसक ही कहलाएगा। पं० आशाधरजी ने इसी बात को स्पष्ट शब्दों में कहा है—

प्रमत्तोऽपि कर्मकारुण्यैः पापोऽनघ्नपि धीवरः।

—सागारधर्मामृत ८२

अर्थात्— जहाँ प्रमाद है वहीं हिंसा है और जहाँ प्रमाद नहीं है वहाँ हिंसा भी नहीं है।

* देखिए—ओघनिर्युक्ति ७५२ वी गाथा।

जो प्रवृत्ति करते है, वह उन जीवो की दया के लिए करते हैं या हिंसा के लिए ? यद्यपि आप दया के लिये ही करते है, किन्तु उन जीवो को यह पता नही होता कि वास्तव मे आप उनकी दया के लिए ही ऐसा कर रहे हैं। मान लीजिए, माता अपने बच्चे को ऑपरेशन करवाने के लिए डाक्टर के पास ले जाती है और आपरेशन होता है। तब बच्चा माता को कितनी गालियाँ देता है और रोता है। किन्तु वहाँ माता की और डाक्टर की भावना क्या है ? यद्यपि प्रत्यक्ष मे बच्चा भयभीत हो रहा है और न मालूम कितने प्रकार के दु सकल्प अपने मन मे ला रहा है, फिर भी सिद्धान्तत तो माता और डाक्टर को पुण्य-प्रकृति का ही बध हो रहा है। क्योंकि उस क्रिया के पीछे डाक्टर और माता की दया एव विवेक की पवित्र भावना काम कर रही है।

यदि चीटिया को खेल या मनोरजन की दृष्टि से हटाया जाता है तब तो पाप-कर्म का बध अवश्य होता है, किन्तु किसी हिसक दुर्घटना के अवसर पर रक्षा की दृष्टि से उन्हे हटाने मे पाप नही है। यदि इन बातो पर गम्भीरता पूवक विचार करेंगे तो स्पष्ट हो जायगा कि—जो हिसा होती है, उसके मूल मे यदि अविवेक का अधकार है, अयतना है तो वह हिसा है और पाप है। इसके विपरीत यदि विवेक का पूर्ण प्रकाश है और यतना की भी पूर्णता है—तो वही सच्चा धर्म है और पुण्य है।

'आरम्भिया क्रिया' छठे गुण-स्थान तक रहती है, सातवे गुण-स्थान मे नही रहती, क्योंकि प्रमाद छठे गुण-

स्थान तक ही मर्यादित है और सातवाँ गुण-स्थान अप्रमत्त अवस्था का है। किन्तु हिंसा (द्रव्य-हिंसा) तो तरहवें गुण-स्थान तक रहती है! फिर भी जहाँ अप्रमत्त अवस्था है वहाँ हिंसा का पाप नही लगता। संक्षेप में इसका मर्म इतना ही है कि अप्रमत्त अवस्था में और विवक भाव में होने वाली हिंसा—पाप स्वरूप नही होती।

इसके विपरीत संसार के सकषाय तथा प्रमादी जीव चाहे हिंसा कर या न करें किन्तु यदि उनके अन्दर यतना की वृत्ति और विवेक की ज्योति नही जगी और साथ ही दूसरों की जिन्दगी को बचाने का उच्च सकल्प नहीं उठा तो वे चाहे हिंसा करे तब भी हिंसा है और चाहे हिंसा न कर तब भी हिंसा है।* एक उदाहरण देखिए —

एक धीवर सोया हुआ है और उस समय मछलियाँ नही पकड़ रहा है। क्या तब भी उसे 'आरंभिया क्रिया' लग रही है या नही? हाँ उसे अवश्य लग रही है क्योंकि उसका हिंसा का सकल्प अभी समाप्त नहीं हुआ है। वह अभी कषाय भावो से ग्रसित है। फिर वह चाहे हिंसा कर रहा हो या न कर रहा हो हिंसक ही कहलाएगा। प आशाधरजी ने इसी बात को स्पष्ट शब्दों में कहा है—

अतोऽपि कर्मबन्धकृत् पापोऽप्यनपि धीवरः।

—सागारधर्मामृत ८२

अर्थात्— जहाँ प्रमाद है वहीं हिंसा है और जहाँ प्रमाद नही है वहाँ हिंसा भी नही है।

---

* देखिए—ओघनिर्युक्ति ७५२ ५१ गाथा।

जो प्रवृत्ति करते है, वह उन जीवो की दया के लिए करते हैं या हिसा के लिए ? यद्यपि आप दया के लिये ही करते है, किन्तु उन जीवो को यह पता नही होता कि वास्तव मे आप उनकी दया के लिए ही ऐसा कर रहे है। मान लीजिए, माता अपने बच्चे को आपरेशन करवाने के लिए डाक्टर के पास ले जाती है और आपरेशन होता है। तब बच्चा माता को कितनी गालियाँ देता है और रोता है। किन्तु वहाँ माता की और डाक्टर की भावना क्या है ? यद्यपि प्रत्यक्ष मे बच्चा भयभीत हो रहा है और न मालूम कितने प्रकार के दु सकल्प अपने मन मे ला रहा है, फिर भी सिद्धान्तत तो माता और डाक्टर को पुण्य-प्रकृति का ही बध हो रहा है। क्योकि उस क्रिया के पीछे डाक्टर और माता की दया एव विवेक की पवित्र भावना काम कर रही है।

यदि चीटियों को खेल या मनोरजन की दृष्टि से हटाया जाता है तब तो पाप-कर्म का बध अवश्य होता है, किन्तु किसी हिसक दुर्घटना के अवसर पर रक्षा की दृष्टि से उन्हे हटाने मे पाप नही है। यदि इन बातो पर गम्भीरता पूर्वक विचार करेगे तो स्पष्ट हो जायगा कि—जो हिसा होती है, उसके मूल मे यदि अविवेक का अधकार है, अयतना है तो वह हिसा है और पाप है। इसके विपरीत यदि विवेक का पूर्ण प्रकाश है और यतना की भी पूर्णता है—तो वही सच्चा धर्म है और पुण्य है।

'आरम्भिया क्रिया' छठे गुण-स्थान तक रहती है, सातवे गुण-स्थान मे नही रहती, क्योकि प्रमाद छठे गुण-

स्थान तक ही मर्यादित है और सातवाँ गुण-स्थान अप्रमत्त अवस्था का है। किन्तु हिंसा (द्रव्य-हिंसा) तो तेरहवें गुण-स्थान तक रहती है! फिर भी जहाँ अप्रमत्त अवस्था है वहाँ हिंसा का पाप नहीं लगता। संक्षेप में इसका अर्थ इतना ही है कि अप्रमत्त अवस्था में और विवेक भाव में होने वाली हिंसा—पाप स्वरूप नहीं होती।

इसके विपरीत संसार के सकषाय तथा प्रमादी जीव चाहे हिंसा कर या न करे किन्तु यदि उनके अन्दर यतना की वृत्ति और विवेक की ज्योति नहीं जगी और साथ ही दूसरों की जिन्दगी को बचाने का उच्च सकल्प नहीं उठा तो वे चाहे हिंसा करें तब भी हिंसा है और चाहे हिंसा न कर तब भी हिंसा है।* एक उदाहरण लीजिए —

एक धीवर सोया हुआ है और उस समय मछलियाँ नहीं पकड़ रहा है। क्या तब भी उसे 'आरंभिया क्रिया' लग रही है या नहीं? हाँ उसे अवश्य लग रही है क्योंकि उसका हिंसा का सकल्प अभी समाप्त नहीं हुआ है। वह अभी कषाय भावों से प्रभावित है। फिर वह चाहे हिंसा कर रहा हो या न कर रहा हो हिंसक ही कहलाएगा। पं आशाधरजी ने इसी बात को स्पष्ट शब्दों में कहा है—

> घ्नतोऽपि कर्षकादुच्चैः पापोऽघ्नन्नपि धीवरः।
>
> —सागारधर्मामृत, ८२

अर्थात्— जहाँ प्रमाद है वहाँ हिंसा है और जहाँ प्रमाद नहीं है वहाँ हिंसा भी नहीं है।

---

* देखिए—ओघनिर्युक्ति ७५२ ५३ गाथा।

इसी दृष्टि से मैं भी कहता हूँ कि—यदि हम हिंसा और अहिंसा के तत्व को समझ लें तो जैन सम्प्रदायो मे आज जो दया, दान आदि विषयो पर अशोभनीय सघर्ष चल रहे है, वे बहुत कुछ अशो मे समाप्त हो सकते है।

किसी जीव की रक्षा करना, किसी के मरने-जीने की इच्छा भी न करना ! ऐसी अस्पष्ट बातो को लेकर और इन्हे तूल देते हुए हमारे कुछ साथी जो ऊपर ही ऊपर भटक से रहे हैं, इसका प्रमुख कारण यही है कि उन्होने हिंसा और अहिंसा का मर्म समझने का प्रयत्न ही नही किया। उनकी मान्यता के अनुसार यदि धूप मे पडे हुए जीव को छाया मे रख दिया तो हिंसा हो गई ! किन्तु इस क्रिया के पीछे कौन-सी मनोवृत्ति काम कर रही है ? इसका उन्होने कोई विचार ही नही किया। यदि मनोवृत्ति-विशेष का विचार न किया जाय तो साधु अपने पात्र मे पडी हुई मक्खी को भी कैसे निकाल सकते हैं ? कैसे उसकी चिकनाई को राख से सुखा सकते हैं ? शास्त्र तो किसी जीव को ढँकना भी पाप कहते है, फिर साधु उसे राख से क्यो ढँकते है ?

वास्तविकता तो यह है कि जब मनोवृत्ति को भुला दिया जाता है और केवल शब्दो की ही पकड-धकड से काम लिया जाता है, तभी हिंसा और अहिंसा का द्वन्द्व सामने आता है और सघर्ष पैदा होते हैं। इनसे बचने का एकमात्र उपाय यही है कि हम शास्त्रो की शब्दावली को ही पकड कर न रह जाएँ, बल्कि शब्दावली के सहारे उस तथ्य की आत्मा को शोधने का प्रयास भी करे। इसी प्रकार किसी व्यक्ति के

बाहरी कार्य को देखकर ही जल्दी में अपना कोई अभिमत न बना लें अपितु उसके कार्य के पीछे जो भावना छिपी हुई है उसे परखने का भरसक प्रयत्न भी करें। ऐसा करने वाला कभी भी भ्रम में नहीं पड़ेगा। यदि कोई भ्रम होगा भी तो वह शीघ्र ही उससे मुक्त हो सकेगा।

२०—६—५

—: ८ :—

प्रवृत्ति और निवृत्ति

'अहिंसा' शब्द के साथ जो निषेध जुडा हुआ है, उसे देखकर साधारण लोग और कभी-कभी कुछ विशिष्ट विचारक भी भ्रम मे पड जाते हैं। वे समझ बैठते है कि 'अहिंसा' शब्द निषेध-वाचक है, और इसी कारण अहिंसा का अर्थ भी केवल 'निवृत्तिपरक' ही मान लेते हैं। इस भ्रम ने अतीतकाल मे भी अनेक अनर्थ उत्पन्न किये है और आज भी वह अनेक लोगो को चक्कर मे डाल रहा है। अतएव अहिंसा की विवेचना करते समय यह देख लेना नितान्त आवश्यक है कि क्या वास्तव मे अहिंसा कोरा निषेध ही है, और अहिंसा के साधक का कर्त्तव्य 'कुछ न करने मे' ही समाप्त हो जाता है? अथवा अहिंसा का कोई विधि-रूप भी है? और उसके अनुसार अहिंसा के साधक के लिए कुछ करना भी आवश्यक है? आज इसी विषय मे कुछ विचार करना है।

जैन-धर्म की वास्तविक अहिंसा क्या है? क्या वह अकेली निवृत्ति ही है? अर्थात्—क्या वह अलग खडे रहने के रूप मे ही है? इधर से भागे तो उधर खडे हो गए, और उधर से भागे तो इधर आकर खडे हो गए? तब क्या साधक सर्वथा

असग-अलग काम से खड़ा रहकर जीवन गुजार दें ? यदि अहिंसा को कहीं से अलग हटना है तो अलग हटने के साथ साथ कहीं खड़ा भी तो रहना है या नहीं ? कहीं प्रवृत्ति भी करना है या नहीं ? अहिंसा का साधक जीवन के मैदान में कुछ अच्छे काम कर सकता है या नहीं ? आज का भ्रान्त संसार इन प्रश्नों का स्पष्ट उत्तर चाहता है। अहिंसा के साधकों को उक्त प्रश्नों का स्पष्ट उत्तर देना होगा और निष्पक्ष भाषा में देना होगा। मौन साधने से काम नहीं चलेगा। मानव को मानवता के उद्धार एवं कल्याण के लिए कोई ठोस कदम उठाना ही पड़ेगा।

जो अहिंसा जीवन के कार्य-क्षेत्र से अलग हो जाती है और निष्क्रिय होकर हर जगह से भागना ही चाहती है जिस अहिंसा का साधक भागकर कोने में दुबक जाता है और यह कहता है—मैं तो तटस्थ हूँ और अहिंसा का अच्छी तरह पालन कर रहा हूँ ! तब क्या ऐसी अहिंसा किसी भी रूप में उपयोगी हो सकती है ? यह अहिंसा की निष्क्रिय वृत्ति है और इससे साधक के जीवन में केवल निष्क्रियता ही आ सकती है।

यदि आपने कोरी निवृत्ति के चक्र में आकर शरीर को काबू में कर भी लिया तो क्या हुआ ? मन तो अपनी स्वभावगत चंचलता के अनुसार कुछ-न-कुछ हरकत करता ही रहेगा। फिर मन को कहां ले जाओगे ? इसका अर्थ हुआ कि—सर्वप्रथम मन को साधना पड़ेगा। शास्त्रकार भी यही कहते हैं कि पहले मन को ही एकाग्र करो मन का ही

साधो। केवल मन को ही सासारिक विषयो मे अलग करो। चाहे जीवन भले ही ससार मे उचित प्रवृत्ति क्यो न करे। किन्तु जीवन की उचित प्रवृत्ति कुछ और है, और मन की उच्छृङ्खल प्रवृत्ति दूसरी वस्तु है। अकुश तो मन पर लगा रहना चाहिए। यदि मन पर काबू पा लिया, तो फिर कही भी भागने की जरूरत नही है।

हमारे कुछ साथी कहते हैं कि प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनो एक साथ नही रह सकती। ऐसी दशा मे हम ठहरे या आगे चले ? यदि आप कहे कि चलो भी और ठहरो भी, तो दोनो काम एक साथ नही हो सकते। दिन और रात, एक साथ नही रह सकते है। गर्मी और सर्दी एक जगह कैसे रह सकती है ? अर्थात् दो परस्पर विरोधी चीजो को एक साथ कैसे रखा जा सकता है ? किन्तु नही, जैन-दर्शन के पास एक विशिष्ट प्रकार का चिन्तन है और उस अनुपम चिन्तन से विरोधी मालूम होने वाली चीजें भी अविरोधी हो जाती हैं। जैसे दूसरी वस्तुओ के अनेक अश होते हैं, उसी प्रकार अहिंसा के भी अनेक अश है। अहिंसा का एक अश प्रवृत्ति है, और दूसरा अश है निवृत्ति। ये दोनो अश सदा एक साथ ही रहते है। एक-दूसरे को छोडकर अलग-अलग नही रह सकते। जब आप प्रवृत्ति कर रहे हैं तो उस समय निवृत्ति उसके साथ अवश्य होती है। यदि प्रवृत्ति के साथ निवृत्ति नही है तो उसका कोई मूल्य नही है। ऐसी प्रवृत्ति बधन मे डाल देगी। प्रवृत्ति के साथ निवृत्ति का सग होने पर ही प्रवृत्ति का वास्तविक मूल्य है। इसी प्रकार यदि

प्रवृत्ति नहीं है तो अकेली निवृत्ति का न तो कोई मूल्य है और न कोई अस्तित्व ही। इसीलिए साधक के चारित्र की जो व्याख्या की गई है उसमें प्रवृत्ति और निवृत्ति—दोनों को समान स्थान दिया गया है। चारित्र न तो एकान्त निवृत्ति रूप है और न एकान्त प्रवृत्ति रूप। इस सम्बन्ध में कहा भी गया है —

> एगम्रो विरइं कुज्जा एगम्रो य पवत्तणं
> असंजमे नियत्ति च संजमे य पवत्तणं।
> —उत्तराध्ययन ३१ २
>
> असुहादो विणिवित्ती सुहे पवित्ती य जाण चारित्तं
> —आचार्य नेमिचन्द्र

अर्थात्— अशुभ कार्यों से बुरे संकल्पों से तथा कुत्सित आचरणों से निवृत्ति करना और शुभ में प्रवृत्ति करना तथा सत्कर्मों का आचरण करना ही चारित्र है।

"हाँ तो जहाँ चारित्र की बात आती है वहाँ पाँच समितियाँ तथा तीन गुप्तियाँ बतलाई जाती हैं। गुप्ति का अर्थ है—निवृत्ति और समिति का अर्थ है—प्रवृत्ति। ईर्यासमिति का अर्थ है—चलना। यहाँ चलने से इन्कार नहीं किया गया किन्तु अनुचित रूप में चलना या अविवेक से चलना ठीक नहीं है। जहाँ हजारों 'ना' है वहाँ एक 'हाँ' भी है। चलने के साथ यदि हजारों 'ना' है तो वहाँ एक 'हाँ' भी निश्चित रूप से लगा हुआ है। चलो अवश्य किन्तु असावधानी या प्रमाद में मत चलो यतना से चलो। ऐसा करना ही शुभ में प्रवृत्ति है और अशुभ से निवृत्ति है। बस

अशुभ अंश को निकाल दो और शुभ अंश को जीवन-व्यापार का लक्ष्य-बिन्दु बनाए रखो। फिर देखिए कि जीवन की अभीष्ट सफलता किस प्रकार आपका अभिनन्दन करती दिखाई देती है।

भाषा-समिति में बोलना बन्द नहीं किया गया। यहाँ भी बहुत-से 'नकार' के साथ 'हकार' मौजूद है। क्रोध, मान, माया, लोभ और आवेश आदि से मिश्रित वचन कभी मत बोलो, कलह शब्द मत बोलो। कठोर और मर्मभेदी शब्द भी मत बोलो। किन्तु बोलना बराबर चालने पर कोई प्रति-बन्ध नहीं है। परन्तु आपका बोलना विवेकपूर्ण होना चाहिए, दूसरों का हितावह होना चाहिए। भाषा-समिति का अर्थ है—'साधक का भाषण हर हालत में हित, मित एवं सत्य हो।'

अब एषणा-समिति का नम्बर है। यदि जीवन है तो उसके साथ आहार का भी सम्बन्ध है। शास्त्र में यह नहीं कहा गया कि आहार के लिए प्रवृत्ति ही न करो। यद्यपि उसके साथ हजारों 'ना' लग रहे हैं कि—ऐसा मत लो, वैसा मत लो। किन्तु फिर भी लेने के लिए तो कहा ही गया है। जीवन-यात्रा के लिए आवश्यक सामग्री जनता से ग्रहण की जा सकती है, किन्तु ध्यान रहे—वह ग्रहण दोषरहित हो, सद्भावना पूर्ण हो। 'स्व' की सुविधा के साथ 'पर' की सुविधा का सुविचार भी सतत जागृत रहना चाहिए।

इसी प्रकार आवश्यकता-पूर्ति के लिए काम आने वाली चीजों का रखना और उठाना बन्द नहीं किया गया है। साधु भी अपने पात्र को उठाते हैं और रखते हैं। कदाचित् दूसरी

आवश्यक चीजों को उठाना-रखना बंद भी कर दें तब भी शरीर को तो उठाए और रखे बिना काम नहीं चल सकता। इसलिए न तो उठाने की मनाई है और न रखने की ही मनाई है। पाबन्दी केवल असावधानी से उठाने पर और असावधानी से रखने पर है। यदि किसी वस्तु को सावधानी के साथ उठाया या रखा जाय तो उसके लिये कोई निषेध नहीं है। इस प्रकार यदि बहुत-से 'ना' लगे है तो विवेक के साथ उठाने-धरने का एक 'हाँ' भी अवश्य लगा हुआ है। यह 'आदान निक्षेपण समिति' हुई।

अब परिष्ठापन समिति को लीजिए। जब आहार किया जायगा तो शौच भी अवश्य लगेगी। इसी प्रकार जब पानी पिया जायगा तो पेशाब भी अवश्य लगेगी। यह तो कदापि सम्भव नहीं है कि कोई नियमित रूप से खाता भी चला जाय और पीता भी चला जाय किन्तु मलमूत्र न बने और यथा अवसर उसका त्याग न करना पड़े। जब मल-मूत्र आदि का त्याग आवश्यक है तो वह करना ही चाहिए। किन्तु अविवेक या असावधानी से नहीं अपितु विवेक के साथ। मल-मूत्र आदि विसर्जन-योग्य पदार्थों का परिष्ठापन करते समय यह ध्यान रखना आवश्यक है कि सब साधारण जनता के स्वास्थ्य को हानि न पहुँचे इधर-उधर गन्दगी न फैले किसी को भी कुरुचि एवं घृणा का भाव न हो।

देखिए, अनाचार्य इस समिति की क्या व्याख्या करते है —

पविचाराप्पविचाराओ समिइओ।

इसका अर्थ यही है कि अहिंसा प्रवृत्ति-रूप भी है और निवृत्ति-रूप भी है। जहाँ समिति है वहाँ गुप्ति भी होता है।

उपर्युक्त कथन का अभिप्राय यही है कि जीवन के क्षेत्र में चाहे साधु हो या श्रावक, दोनों के लिए प्रवृत्ति और निवृत्ति यथावसर समान रूप से आवश्यक है। अशुभ आचरण एवं अशुभ संकल्प से हटाकर शुभ में प्रवृत्ति करना ही होगा। यदि हम शुभ सोचेंगे, शुभ बोलेंगे और आचरण भी शुभ करेंगे तो इस रूप में हमारी प्रवृत्ति और निवृत्ति साथ-साथ चलेगी। हमें यह भूल नहीं जाना चाहिए कि हमारे अशुभ कार्यक्रम से निवृत्ति का अर्थ शुभ में प्रवृत्ति करना है, और शुभ कार्य में प्रवृत्ति का ध्येय अशुभ से निवृत्त होना है। जहाँ हमारा 'ना' है वहाँ एक 'हाँ' भी लगा हुआ है। अतएव प्रवृत्ति और निवृत्ति परस्पर निरपेक्ष होकर नहीं रह सकती, और वस्तुतः रहना भी नहीं चाहिए। एक उदाहरण देखिए—

जब कोई आदमी घोडे पर चढ़ता है, तो वह चलने के लिए ही चढ़ता है। इसलिए नहीं कि घोडे की पीठ पर ही जम जाय। वह घोडे पर चढ़ता है और उसे गति भी देता है किन्तु साथ ही घोडे की लगाम भी पकड लेता है। उसे जहाँ तक चलना है, वहीं तक चलता है और जहाँ खड़े होने की आवश्यकता अनुभव होती है, वहाँ खड़ा भी हो जाता है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि घोडे पर चढ़कर चलना प्रवृत्ति है, और जरूरत होने पर खडा हो जाना निवृत्ति भी है। इसी सम्बन्ध में दूसरा उदाहरण भी देखिए—

किसी सेठ ने यदि ऐसी मोटर ले ली है कि एक बार स्टार्ट कर देने पर वह स्वच्छन्द गति से ऐसी चलती है कि कहीं पर कभी रुकती ही नहीं है, तब क्या ऐसी विचित्र मोटर में कोई बैठेगा ? निश्चित है कोई नहीं। सामान्यत मोटर ऐसी होनी चाहिए कि वह चले तो अवश्य किन्तु जरूरत के समय उसे खड़ा भी किया जा सके और मार्ग की स्थिति के अनुसार धीमी भी की जा सके। निस्सन्देह उसी में आप बैठना पसन्द करेंगे। हमारा जीवन भी एक प्रकार की गाड़ी है अत उसे समय पर ही चलाइए और समय पर ही रोकिए। जीवन की गति न तो उन्मुक्त मर्यादाहीन एव उच्छृ खल ही होनी चाहिए और न सर्वथा निष्क्रिय ही।

हाँ तो जैन-धर्म ने हमारे सामने यह एक महत्त्वपूर्ण दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है। उससे हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि—जहाँ तक शुभ में प्रवृत्ति का प्रश्न है वहाँ प्रवृत्ति है और जहाँ अशुभ से निवृत्ति का प्रश्न है वहाँ निवृत्ति है। प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनो ही जगह अहिंसा की सुगन्ध महकती है।

एक आदमी किसी को मार रहा है या कोई स्वयं अपनी आत्म-हत्या कर रहा है। इसी समय दो आदमी आ पहुँचते है। उनमें से एक आदमी तो उस दीन-हीन की रक्षा के लिए तत्पर होता है और दूसरा तटस्थ होकर अलग खड़ा रह जाता है। बतलाइए, तटस्थ खड़े रहने वाले को कहाँ पाप लग रहा है ? वह स्वय तो किसी को मार ही नहीं रहा है जिससे कि उसे पाप लगे वह तो केवल तटस्थ भाव से खड़ा है। तब

यदि दूसरा आदमी तटस्थ न रहकर बचाने की प्रवृत्ति करता है तो अब आप बतलाइए कि—तटस्थ रहने वाले निवृत्तिपरायण व्यक्ति को अधिक लाभ है या प्रवृत्ति करने वाले को ?

हमारे वे साथी, जो जीवन के हर क्षेत्र मे तटस्थ ही रहना चाहते हैं, वे कदाचित् यही कहेगे कि जो तटस्थ रहा है, उसने पाप नही किया और उसे हिंसा भी नही लगी। स्पष्ट है कि उनकी दृष्टि मे तटस्थ रहना—क्रियाहीन जीवन व्यतीत करना ही जीवन का शुभ लक्ष्य है और प्रवृत्ति करना अशुभ लक्ष्य। हाँ, तो मैं आपसे पूछता हूँ कि जैन-धर्म मे जो दया या करुणा की बात कही गई है, क्या वह केवल तटस्थ रहने की बात है ? एक उदाहरण लीजिए—

एक साधु नदी के किनारे चल रहा है, जाते हुए फिसल गया, और नदी के प्रवाह मे गिर कर डूबने लगा। उसके साथी दो साधु किनारे पर खडे हैं। उनमे से एक साधु जो किनारे पर खडा है, वह तटस्थ भाव की मुद्रा मे खडा है। इस प्रसग पर वह यह कहता है—मैंने धक्का नही दिया, मैंने सकल्प भी नही किया कि वह गिरे। वह गिरने वाला तो अपने आप गिर गया है और डूबने लगा है—इसमे मेरा क्या दोष ? अस्तु, मैं तो अन्त तक तटस्थ ही रहूँगा। यदि पानी में जाऊँगा तो जल के जीवो की हिंसा होगी, और जल मे रहने वाले छोटे-बडे अनेक त्रस* जीवो की हिंसा भी

*पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति के जीव स्थावर हैं। द्वीन्द्रिय से लेकर पचेन्द्रिय तक के जीव त्रस हैं।

होगा। ऐसा सोचकर वह तटस्थ खड़ा रहता है।

परन्तु दूसरा साधु उसे बचाने के लिए नदी में उतर पड़ता है। डूबने वाला साधु अस्त-व्यस्त दशा में है। उसे बचाने की कोशिश करते समय पानी में तो हलचल अवश्य होगी और कितनी ही मछलियाँ तथा दूसरे अनेक जीव भयभीत एवं परेशान भी होंगे और कुछ तो मर भी जाएँगे। फिर भी वह उस डूबने वाले साधु को नदी से बाहर निकाल कर किनारे पर ले आता है। अब प्रश्न यह उठता है कि कौन-से साधु को लाभ हुआ? अर्थात्—जो साधु अन्त तक तटस्थ रहा था वह लाभ में रहा है या जो तटस्थ न रह कर साथी साधु को बचाने के लिए नदी में उतरा था वह लाभ में रहा है?

तटस्थ रहने वाला साधु कहता है—"नदी में गिरने वाले साथी साधु के पतन में मेरा कोई निमित्त नहीं था अतः मैं गिराने के पाप का भागी नहीं हूँ। साथ ही मैं उसे नदी से निकालने के लिए भी नहीं गया अतः बचाने में जल-जीवों की तथा अन्य मत्स्य आदि त्रस जीवों की जो हिंसा हुई है उससे भी मैं पूर्णतया मुक्त रहा हूँ। अतएव मैं अपनी तटस्थता के कारण बचाने वाले से कहीं अधिक अहिंसक हूँ।

'जो साधु तटस्थ नहीं रहा और साथी साधु को बचाने के लिए नदी में उतरा वह एक प्राणी को तो अवश्य बचा लाया किन्तु एक की रक्षा के लिए कितने प्राणियों की हिंसा का भागी हुआ?

इस प्रकार आपके सामने यह जटिल प्रश्न उपस्थित है कि उक्त प्रसग पर क्या तटस्थ रहना आवश्यक है या प्रवृत्ति करना ? इस विषय मे भगवान् महावीर का क्या आदेश है ?

भगवान् महावीर का आदेश तो यह कहता है कि जब इस प्रकार की विषम परिस्थिति आ जाए तो साधु दूसरे दुर्घटनाग्रस्त साधु को निकाले* और यदि साध्वी डूब रही है तो उसको भी निकाले, किन्तु तटस्थ होकर न खडा रहे। इस प्रकार जैनागम का मूल उल्लेख है। "इसका मुख्य कारण यह है कि हिंसा और अहिंसा का जो स्थूल रूप वर्णित है, कर्त्तव्य उससे भी कही ऊँचा है।"

कल्पना कीजिए—कोई प्राणी हमारे सामने मर रहा है। सम्भव है, उस समय बाह्य रूप मे हठात् निवृत्ति कर भी ली जाए, परन्तु ऐसे अवसर पर बचाने के सकल्प स्वभावत आया ही करते हैं। यदि फिर भी हम उनकी बलात् उपेक्षा ही करते हैं, रक्षात्मक प्रवृत्ति का प्रयोग नहीं करते हैं तो हमारे मन की दया कुचली जाती है, और इस प्रकार अपने द्वारा अपने आत्मा की एक बहुत बडी हिंसा हो जाती है। इस आत्म-हिंसा को रोकना और उससे बचना अत्यधिक आवश्यक है। इसके अतिरिक्त यह तो स्पष्ट ही है कि बचाने के लिए पानी में प्रवेश करने वाले का सकल्प जल के जीवो को मारने का बिल्कुल नही था, उसका एकमात्र इरादा तो डूबते हुए साधु को बचाने का ही था।

जैन-धर्म ने तटस्थता को महत्त्व अवश्य दिया है, किन्तु

---

*देखिए वृहत्कल्प सूत्र ६, ८।

वह हर जगह और हर परिस्थिति में तटस्थ रहने का आदेश कदापि नहीं देता है।

साधु को बचाने के लिए जल में प्रवेश करने वाले सहधर्मी साधु को पुण्य प्रकृति का बंध हुआ या पाप प्रकृति का? अथवा उसे अन्ततः निर्जरा ही हुई? यह प्रश्न हमारे सामने है जिसका हमें निर्णय करना है। यह बात तो ध्यान में रहनी ही चाहिए कि जब अन्तःकरण में अनुकम्पा जगती है और करुणा की लहर उत्पन्न होती है तब मनुष्य दया भाव में गद्गद हो जाता है और जब वह पूर्णतया गद्गद हो जाता है तब असंख्य असंख्य गुणी निर्जरा* कर लेता है। जब ऐसी स्थिति आती है तब हमारी भूमिका शुभ संकल्प में केन्द्रित होती है और जब हम तन्मयता के साथ किसी शुभ संकल्प में लीन होते हैं तब निर्जरा के साथ-साथ पुण्य-प्रकृति का भी बंध हो जाता है। जल में प्रवेश करने से जो हिंसा हुई है उससे इन्कार नहीं किया जा सकता। किन्तु मुख्य प्रश्न तो यह है कि उससे हुआ क्या? क्या वह पाप का मार्ग है अथवा पुण्य का या निर्जरा का है? इस स्थिति में जैन-धर्म तो यह कहता है कि जो साधु पानी में गया है वह पानी के जीवों को मारने के लिए नहीं गया और न वह मछलियों को ही पीड़ा पहुँचाने की भावना लेकर गया है अपितु एक संयमी को बचाने की पवित्र भावना लेकर गया है। ऐसी स्थिति में यदि कोई हिंसा हो गई है तो वह किसी अनर्थ की सिद्धि के लिए नहीं हुई है। किसी जीव को स्वतः हिंसा हो

---

* पूर्वबद्ध कर्मों को नष्ट करना निर्जरा है।

जाना एक बात है, और किसी की हिंसा करना दूसरी बात है। अनेक बार प्राय हम गलती से कह देते हैं कि अमुक की हिंसा की गई है, किन्तु होने और करने के भेद को समझने का प्रयत्न नही करते और इसी कारण किसी की स्वत हिंसा हो जाने पर उसे हिंसा का पापाचार समझ लेते हैं। देखिए, स्वत होने मे और स्वय करने मे बहुत बडा अन्तर है और वह अन्तर भी बाहर में परिलक्षित होने वाले कार्य का नहीं, अपितु भावनाओ का ही विभेद है।

जैसा कि पहले कह चुके हैं कि साधु मकान को या जमीन को पूंजता है और पूंजते समय प्राय जीव इधर से उधर होते हैं, घसीटे भी जाते हैं, और उन्हे परिताप भी होता है। किन्तु कोई भी उससे पाप का बध होना नही कह सकता, क्योकि वह परिताप स्वत पहुँच गया है, दिया नही गया है। यदि ऐसा न माना जाय तो पूंजना भी पाप हो जायगा। हमारे पुराने आचार्यों की कुछ ऐसी धारणाएँ हैं कि उपाश्रय को प्रमार्जित करने वाले साधु को वेले* का लाभ होता है। एक बार उपाश्रय पूंजने से असख्य जीव मरते होगे। ऐसा मत समझिए कि जो आंखो से दीखते हैं, वे ही जीव हैं। यहाँ पर हमारी स्थूलदर्शी आँखो का कोई मूल्य नही है, क्योकि वे तो सिर्फ स्थूल जीवो को ही देखती हैं। भले ही आपका आँगन रत्न-जटित क्यो न हो, आपको एक भी जीव वहाँ दिखाई न देता हो, फिर भी यदि आप सूक्ष्मदर्शक यत्र से देखेंगे तो वहाँ हजारो चलते-फिरते प्राणी दिखलाई देगे।

* लगातार दो उपवास करना, वेला कहलाता है।

ऐसी दशा में प्रतिदिन सुबह और शाम के समय प्रतिलेखन करने की आज्ञा क्यों दी गई है ? और उपाश्रय-भूमि का प्रमार्जन करना अनिवार्य क्यों बतलाया गया है ?

प्रतिदिन का प्रमार्जन हिंसा-रूप है—ऐसा सोचकर यदि प्रमार्जन करना बंद कर दिया जाय तो क्या परिणाम होगा ? फिर कल और परसों क्या होगा ? जीव बढ़ते जाएँगे या घटते जाएँगे ? जितनी-जितनी गंदगी बढ़ेगी उसी अनुपात से जीवों की उत्पत्ति भी बढ़ती जाएगी। ऐसी स्थिति में आपको दो बातों में से किसी एक के लिए तैयार रहना चाहिए। या तो आप उस मकान में से अपने आपको हटालें और मकान छोड़कर अन्यत्र चले जाएं या चलने-फिरने और घूमने में जो हिंसा हो उसके भागी बनने को तैयार रहें।

इस दृष्टिकोण का मर्म यह है कि हमें केवल वर्तमान की ही हिंसा-अहिंसा को नहीं देखना है अपितु भविष्य की हिंसा अहिंसा का भी व्यापक दृष्टि से विचार करना चाहिए। बहुधा हमारी निगाह वर्तमान से ही चिपटकर रह जाती है और हम यह सोच लेते है कि यदि अभी प्रमार्जन करेंगे तो हिंसा होगी ! किन्तु यदि आप प्रमार्जन नहीं करेंगे और मकान को यों ही गंदा रहने देंगे तो दिनों-दिन गंदगी बढ़ती ही जायगी। उस गंदगी से असंख्य जीव उत्पन्न हो जाएँगे और सम्पूर्ण मकान जीवों से कुलबुलाता दिखलाई देगा। फिर इसका क्या परिणाम होगा ? जब आप चलेंगे फिरेंगे तो आपकी इस प्रवृत्ति से कितने जीव मारे जाएँगे ? तो अब आप विचार कीजिए कि प्रतिलेखन और प्रमार्जन

केवल वर्त्तमान की ही हिंसा को नही रोकता है, अपितु भविष्य की हिंसा से भी बचाता है। भविष्य मे जो भी हिंसा जिस रूप मे होने वाली है, उसे सर्वप्रथम रोकना और जीवो की उत्पत्ति न होने देना, एकमात्र विवेक का तकाजा है। इसीलिए तो जैन-धर्म कहता है कि पहले विवेक रखो, स्वच्छता एव सफाई रखो, और जीवो की उत्पत्ति न होने दो, तभी ठीक तरह हिंसा से बचाव हो सकता है। परन्तु खेद है कि आज का जैन-समाज केवल 'आज' होने वाली हिंसा का ही खयाल करता है और उससे बचना भी चाहताहै, किन्तु वर्त्तमान के फलस्वरूप भविष्य मे होने वाली महान् हिंसा के सम्बन्ध मे कुछ भी विचार नही करना चाहता। बस, यही गडबडी का मुख्य कारण है। यही मूल मे भूल है।

प्राय कुछ लोग कहा करते हैं—प्रतिलेखन करेंगे तो हिंसा होगी और प्रमार्जन करेगे तो पाप होगा। हम उनसे पूछते हैं—हिंसा और पाप क्यो होगे ? तब वे कहते हैं—जब पाप होता है, तभी तो आलोचना-स्वरूप ध्यान करते हैं। यदि पाप न होता, तो प्रतिलेखन करने के पश्चात् 'इरियावहिया' के रूप मे आलोचना की क्या आवश्यकता थी ?

जो ऐसा कहते हैं वास्तव मे उन्होने जैन-धर्म के हृदय को स्पर्श नही किया। तभी वे भ्रम मे पड गए हैं। अब मै पूँछता हूँ कि आलोचना प्रतिलेखन की है या दुष्प्रतिलेखन की ? वस्तुत सिद्धान्त तो यह है कि इस सम्बन्ध मे जो आलोचना की जाती है, वह प्रतिलेखन या प्रमार्जन की नही हैं, अपितु प्रतिलेखन या प्रमार्जन करते समय जो अयतना हुई हो,

उसकी ही आलोचना है। प्रमार्जन तो किया किन्तु उसे सावधानी के साथ नहीं किया हो। इसी प्रकार प्रतिलेखन तो किया हो किन्तु वह भी ठीक तरह से न किया गया हो अर्थात्—इन क्रियाओं के करने में जो अनुमोद आ गया है उसी की आलोचना की जाती है। यदि ऐसा न माना जाय तो क्या शास्त्र-स्वाध्याय करने से भी पाप लगता है? नहीं ऐसा तो नहीं है। वह आलोचना स्वाध्याय की आलोचना नहीं है किन्तु स्वाध्याय करने में यदि कोई असावधानी हुई हो अशुद्ध उच्चारण किया गया हो या और कोई त्रुटि रह गई हो तो उसकी ही आलोचना है। इसी प्रकार प्रतिलेखन के पश्चात् की जाने वाली आलोचना भी प्रतिलेखन की नहीं अपितु ठीक तरह प्रतिलेखन न करने की ही समझनी चाहिए।

जब आप इन बारीकियों पर ध्यानपूर्वक विचार करेंगे तो स्वतः स्पष्ट हो जायगा कि जैन-धर्म ने जो कुछ भी कहा है उसे हमने विवेक-बुद्धि से नहीं समझा और न उसे व्यवहारमें लाने की आवश्यकता ही अनुभव की। हमारे पास कभी कुछ ऐसे भोले भाई बहिन आते हैं जो यह कहते हैं—'आज बुहारी न देने का नियम दिला दीजिए। यदि ऐसा नियम उन्होंने कर लिया तो उसका परिणाम क्या होगा? सुबह से शाम तक घर और द्वार में गन्दगी फैली रहेगी। उस गन्दगी से कितने ही प्राणी उत्पन्न होंगे और कितने ही इधर-उधर से आकर जमा भी हो जाएँगे। और यदि आप अमले दिन भी धर्म के नाम पर फिर यही नियम करते हैं तो या तो आप कीड़ों मकोड़ों के लिए ही अपने निवास-गृह को छोड़ दीजिए या तो

चार दिन वाद बुहारी लगाकर वहुसख्यक जीवो की हिंसा के भाजन वनिए।

इस सम्वन्ध मे जैन-धर्म की स्पष्ट घोषणा है कि साधु अपने निवास स्थान एव उपकरणो का प्रतिदिन प्रतिलेखन तथा प्रमार्जन करे, और यह निर्देशन केवल साधुओ तक ही सीमित नही, गृहस्थो के लिए भी है। यदि नियमित प्रतिलेखन और प्रमार्जन नही किया जायगा तो उससे होने वाले दो उपवास स्वरूप तप का लाभ भी नही होगा और घर की स्वच्छता भी नही रहेगी। यह नही समझना चाहिए कि धर्मस्थान के प्रमार्जन से तो वेला के तप का लाभ होता है और अपने खुद के मकान का प्रमार्जन करने से वेला का लाभ प्राप्त न होकर उल्टा पाप ही होता है ? जैन-धर्म किसी स्थान-विशेष मे धर्म नही मानता है, उसका धर्म तो कर्त्ता की भावना पर ही आश्रित है।

हाँ, तो जैन-धर्म दृष्टि-परिवर्तन की वात कहता है। वह कहता है कि यदि आप मकान की सफाई कर रहे है तो दृष्टि वदलकर कीजिए। सफाई करने मे एक दृष्टि तो यही हो सकती है कि मकान साफ-सुन्दर दिखाई देगा, साफ-सुथरा मकान देखकर लोग आपकी प्रशसा करेगे। इस दृष्टि मे शृङ्गार की भावना है। दूसरी दृष्टि यह है कि सफाई रखने से जीवो की उत्पत्ति नही होने पाएगी, फलत जीवो की व्यर्थ की हिंसा से स्वत वचाव हो जाएगा। साथ ही प्रमार्जन करते समय विवेक रखा जाय, अधा-धुन्धी न मचाई जाय, प्रमार्जन और सफाई के साधन भी कोमल रखे जाएँ-इतने कठोर न

हों जिससे उनकी चपेट में आकर जीव मारे जाएँ। यदि कोई जीव भाजन में आ जाय तो उसे सावधानी के साथ अलग रख दिया जाय। इस प्रकार घर की सफाई करते समय यदि वर्तमान में भी विवेक-बुद्धि का प्रयोग किया जाय और भविष्य की अहिंसा का भी विचार किया जाय तो वहाँ धर्म होगा पाप-कर्म की निर्जरा होगी।

एक बहिन भोजन-पान आदि की समस्त सामग्री को खुला रख छोड़ती है। कहीं घो ढुल रहा है तो कहीं तेल फैल रहा है कहीं पानी में मक्खियाँ गिर रही हैं तो कहीं दाल में चीटियाँ घूम रही हैं। दूसरी बहिन विवेक के साथ सब चीजों को व्यवस्थित रूप में रखती है। सबको भली भाँति ढँककर सही तरीके के साथ रखती है। ऐसी व्यवस्था करने में भी एक वृत्ति तो यह हो सकती है कि मेरी चीज खराब न हो जाए और दूसरी वृत्ति यह हो सकती है कि जीवों की हिंसा न हो जाय किसी प्रकार की अयतना न होने पाए। देखिए सावधानी दोनों जगह रखी जाती है किन्तु दोनों में आकाश और पाताल जैसा बहुत बड़ा अन्तर है। पहली व्यवस्था-वृत्ति में मोह है ममत्व है और स्वार्थ है। दूसरी व्यवस्था-वृत्ति में जीवों पर दया है अनुकम्पा है। बस इसी भावना के भेद से ही तो फल में भी भिन्नता आती है। जहाँ मोह ममता और स्वार्थ है वहाँ कर्म-बन्ध है और जहाँ अनुकम्पा है वहाँ धर्म है, निर्जरा है। अस्तु जैन-धर्म कहता है कि अनुकम्पा की भावना से यतना करने पर भी चीज तो सुरक्षित रहेगी ही फिर व्यर्थ ही मोह-ममता रखकर साधना के उच्च शिखर से

नीचे क्यो उतरते हो ? काम करते समय, निर्जरा-भाव की जो पवित्र गगा बह रही है, उससे वचित क्यो होते हो ?

चीजे यदि अव्यवस्थित रहेगी तो खराब होगी, उनमे मक्खियाँ गिरेंगी और कष्ट पाएँगी, चीजे सडेगी और असख्य जीवो की हिंसा होगी। इस प्रकार तनिक-सी असावधानी महान् हिंसा की परम्परा को जन्म देती है। इस प्रकार जैन-धर्म दृष्टि-परिवर्तन की सिफारिश करता है। फिर चाहे कोई साधु हो या गृहस्थ हो, वह चाहे धर्मस्थान मे हो या अपने घर मे हो, "दृष्टि के बदलते ही सृष्टि भी बदल जाती है"। काम करते हुए भी यदि धर्म-बुद्धि रखी गई तो आपके पग मोक्ष के मार्ग पर है। इस प्रकार जहा कही भी विवेकमय जीवन होगा, वहाँ प्रत्येक क्षण निर्जरा की जा सकती है।

जब आपको बोलना आवश्यक हो तो अवश्य बोलिए। जीभ पर ताला लगाए फिरने की आवश्यकता नही है, किन्तु बोलिए सदैव सयमपूर्वक। बोलते समय यह ध्यान रहना चाहिए कि आपके बोलने से किसी को चोट तो नही पहुँच रही है ? किसी का अनिष्ट तो नही हो रहा है ? कुछ भलाई भी हो रही है ? यदि इस प्रकार 'भाषा-समिति' का ख्याल रखकर बोला जा रहा है तो समझ लीजिए, निर्जरा हो रही है।

यदि चलने की जरूरत आ पडी है तो आप चल सकते हैं। जैन-धर्म आपके पैरो को बेडियो से नही जकडता। वह सबके लिए पादपोपगमन * सथारे का विधान नही करता।

* जीवन के अन्तिम काल में समाधिमरण के लिए वृक्ष से टूटकर नीचे गिरी हुई शाखा के समान निष्क्रिय रूप से एक स्थिति में रहकर आमरण अनशन करना, पादपोपगमन सथारा कहलाता है।

यह तो नहीं कहता है चलते समय देखकर चलना चाहिए। वस्तुतः विवेकयुक्त चलना ही गति-क्रिया की पवित्रता है। और हाँ ऐसी मिसाल भी नहीं है कि साधु देखकर चल रहा है तो उसे तो धर्म होगा और आपको नहीं होगा ? साधु की भाँति आपको भी धर्म होगा निर्जरा होगी।

आवश्यकतानुसार आप भी घर की चीज इधर से उधर रखते हैं और साधु भी अपनी वस्तुएँ यथास्थान रखता है तो क्या पात्र आदि के इधर से उधर रखने में साधु को ही धर्म होगा और आपको नहीं होगा ? ऐसा कदापि नहीं है। यदि विवेक रखा जाय और जीव-दया की सद्भावना स्थिर की जाय तो साधु के समान आपको भी निर्जरा अवश्य होगी।

जैन-धर्म का विधान है कि यदि अहिंसा की भावना रखी जाय प्रतिक्षण मन के अन्दर दया की झन्कार उठती रहे और इस प्रकार जीवन समितिमय होकर चलता रहे तो बाहर में कार्य की मात्रा एक होने पर भी फल 'दो' मिल जायेंगे अर्थात्—आपके दैनिक व्यवहार की सामग्री भी सुरक्षित रहेगी और साथ-साथ आप अहिंसा का अमृत भी पीते जायेंगे। इस सम्बन्ध में कहा भी गया है—

'एका क्रिया द्वयर्थ करी प्रसिद्धा।

कथन का अभिप्राय यही है कि जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में यदि आप अहिंसा को खूंटी-सैंपकी और एक कोने की दर्शनीय वस्तु बनाकर रखेंगे तो वह नहीं चलेगी। निश्चय ही वह सड़ेगी और गलेगी। उसे क्रियात्मक रूप में जीवन के हर क्षेत्र में ले आइए। यदि चलना है तो अहिंसा को उसमें

जोड दीजिए। आप जीवन के जिस किसी भी क्षेत्र मे जो प्रवृत्ति कर रहे हैं, उस प्रवृत्ति के साथ अहिंसा के संकल्प को संयुक्त रखिए। फिर देखिए आपकी प्रवृत्ति मे एक नया जीवन और नया प्राण आजाएगा। अपनी अन्तरंग-वृत्ति को पवित्र बना डालिए, निर्जरा अवश्य होगी।

यदि आपने अपनी प्रवृत्ति मे अहिंसा की दृष्टि नही जोडी है, फिर चाहे हिंसा हो रही है या नही भी हो रही है, तब भी वह हिंसा ही कहलाएगी। क्योंकि प्रमाद-भाव स्वयं एक प्रकार की हिंसा है, और अप्रमाद-भाव अहिंसा है।

इसी सम्बन्ध मे एक सुन्दर प्रकरण भी है—वर्तमान की अहिंसा के सतुलन मे भविष्य की जो बडी हिंसा आने वाली है, उसे निमंत्रण दिया जाय या नही? आचारागसूत्र मे एक प्रसंग आया है*—एक पंच-महाव्रतधारी साधु है, जो विहार कर रहा है। पहाडो के बीच मे पगडंडी का संकडा रास्ता है। वह देख-देखकर चल रहा है, किन्तु अचानक ठोकर लग गई, पैर लडखडा गया और वह गिरने लगा। गिरते समय साधु क्या उपाय करे? यदि वहाँ कोई वृक्ष है तो उसे पकड ले, बेल है तो उसे पकड ले और यदि कोई यात्री आ-जा रहे हो तो उनके हाथ के सहारे भी ऊपर आ जाय, अर्थात्—ऐसी स्थिति में साधु वृक्ष का या लता का सहारा लेकर भी आत्मरक्षा कर सकता है।

शास्त्र का उपर्युक्त आत्मरक्षा सम्बन्धी विधान संक्षेप में अपनी बात कहकर विराम पा लेता है। किन्तु हमारी

---

*देखिये आचारागसूत्र २, ३, २।

चिन्तन-धारा में अनेक प्रश्न खड़े हो जाते हैं—जब साधु तीन करण तीन योग से हिंसा का त्यागी है। अतः उसे बेल या वृक्ष को छूने की आज्ञा नहीं है क्योंकि इनको छूने से असंख्य जीवों की हिंसा हो जाती है। अस्तु वह आत्मरक्षा के लिए दूसरे प्राणियों की हिंसा कैसे कर सकता है? साधु की प्राण रक्षा बड़ी है या अहिंसा बड़ी है? साधु के लिए जो ऊपर कहा गया है कि ऐसे अवसर पर वह वृक्ष आदि को पकड़कर प्राण रक्षा में यह बात कहाँ तक ठीक है? इत्यादि।

साधु को वृक्ष आदि पकड़कर प्राण रक्षा लेने का विधान करने वाला यह पाठ आचारांग का है। उससे आप इन्कार नहीं कर सकते। यदि और कोई इस बात को कहता तो आप कह सकते थे कि ऐसा नहीं है। अब तो आपको विचार करना ही होगा। हाँ तो आचार्यों ने विचार किया है कि गिरते समय साधु जो वृक्ष आदि का सहारा लेकर ऊपर आता है उसमें हिंसा नहीं अपितु अहिंसा है। यह अहिंसा किधर से आ गई? निस्सन्देह साधु हिंसा के माध्यम से ऊपर आता है किन्तु वह जीवन की लालसा से या मोह से प्रेरित होकर नहीं आता है। जीवन रक्षा के सम्बन्ध में तो बात यह है कि मस्तक पर नंगी तलवार भी क्यों न चमक रही हो किन्तु साधु अपना धर्म नहीं छोड़ता। साधु के लिए हँसते-हँसते प्राणों को विसर्जन कर देना सहज है किन्तु अहिंसा धर्म को छोड़ देना सहज नहीं। जब यह स्थिति है तो प्रश्न है कि फिर वृक्ष या बेल पकड़ने के लिए क्यों छुट्टी दे दी गई है? इसका मुख्य कारण यह है कि असावधानी से

—: ९ .—

अहिंसा अव्यवहार्य है ?

अहिंसा के सम्बन्ध मे आज ससार के सामने एक विकट प्रश्न उपस्थित है। जब तक उस प्रश्न को अच्छी तरह से हल न करलें, तब तक जनता की शकाओ का पूरी तरह समाधान नही हो सकता। कुछ लोग कहते हैं कि अहिंसा अपने आप में तो एक अच्छी चीज है। अहिंसा के सिद्धान्त भी बहुत अच्छे हैं। समय-समय पर अहिंसा का जो विश्लेषण किया गया है, उसकी जो व्याख्याएँ की गई हैं, वे महत्वपूर्ण हैं और इतनी ऊँची हैं कि वास्तव मे हमे उनका आदर करना ही चाहिए। किन्तु जहाँ अहिंसा की लम्बी-चौडी व्याख्याएँ की गई हैं वही वह अव्यवहार्य भी भी बन गई, अर्थात्—व्यवहार मे आने लायक नही रही। जीवन में उतारने योग्य भी नही रही। यदि उसके सहारे जीवन-यात्रा पूरी करना चाहे तो नही कर सकते।

कोई अच्छी बात तो हो, किन्तु काम आने लायक नही हो तो फिर उसका क्या मूल्य है ? चीज तो अच्छी है,

पर लेने योग्य नहीं है—इसका अर्थ क्या हुआ ? यदि अहिंसा जीवन में उतारने लायक नहीं है उसके सहारे हम जीवन यात्रा तय नहीं कर सकते हैं तो इसका मतलब यह हुआ कि वह निरर्थक वस्तु है अयोग्य है और जीवन में उसका कोई मूल्य ही नहीं है।

इस प्रकार के प्रश्न प्रायः साधारण लोगों के और कभी-कभी विचारकों के सामने भी उठा करते हैं। अब हमें देखना यह है कि क्या वस्तुतः बात ऐसी ही है ? क्या अहिंसा सचमुच ही व्यवहार में लाने योग्य नहीं है। यदि हृदय की गहराई से विचार किया जाय और भारत के सुनहरे इतिहास पर दृष्टिपात किया जाय तो पता चलेगा कि यह विचार सही नहीं है। जो वस्तु कई शताब्दियों से लगातार व्यवहार में आती रही है और जिसके भगवान् महावीर जैसे महापुरुषों ने गौतम जैसे सन्तों ने और आनन्द जैसे संभ्रान्त गृहस्थों ने तथा वर्तमान में राष्ट्रपिता गांधीजी तक ने भी व्यावहारिक जीवन में सफल प्रयोग करके दिखलाए हैं फिर उसकी व्यावहारिकता में आज किसी प्रकार की शंका करना कैसे उचित कहा जा सकता है ? एक नहीं हजारों साधकों ने जो अहिंसा की संतापशमिनी छाया में आये कहा कि यह अहिंसा आकाश की नहीं धरती की चीज है सत प्रतिशत व्यवहार की चीज है। जिन्होंने अहिंसा का आचरण अपने जीवन व्यापार में किया है उन्हें तो यह स्वप्न में भी अव्यवहार्य नहीं लगी किन्तु जिन्होंने एक दिन भी अपना जीवन अहिंसामय नहीं बिताया वे अपने मनगढ़न्त

जब साधु गिर पडता है तो उसका शरीर बे-काबू हो जाता है। बे-काबू शरीर लुढकते-लुढकते कितनी दूर जायगा, यह कौन कह सकता है ? जितनी दूर भी वह लुढकता जायगा, उतनी ही दूर तक उसके शरीर-पिण्ड के द्वारा न जाने कितने एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पचेन्द्रिय जीवो की हिंसा होगी। इसके अलावा गिरने और लुढकने पर यदि अग-भग हो गया तो जब तक वह साधु जीवित रहेगा तब तक सडा ही करेगा। उष्ण और शीत के प्रकोप से तथा हिंसक जानवरो द्वारा पीडित होने पर उसे आर्त्त-ध्यान और रौद्र-ध्यान भी पैदा होगे। यदि इसी दशा मे उसकी मृत्यु होती है तो उसके निर्मल भावो की आत्म-हिंसा होने से वह दुर्गति मे ही जाएगा।

हाँ, तो जिस वृक्ष का सहारा लिया गया है, वह जीवन के मोह और ममत्व से नही लिया गया है, वृक्ष या वृक्ष के आश्रित जीवो की हिंसा करने के लिए भी नही पकडा गया है। उसके एक भी फल, फ़ल या पत्ते से साधु को कोई प्रयोजन नही है, किन्तु आगे होने वाली भयकर हिंसा को बचाने के लिए ही उसने वृक्ष को पकडा है। इस सम्बन्ध मे एक दृष्टान्त देखिए—

"जब साधु बीमार पडता है तो दवा खाता है। क्यो खाता है ? क्या शरीर की रक्षा के लिए ? सम्भव है किसी मे आज यह वृत्ति भी हो, किन्तु शास्त्रकार तो यही कहते हैं कि यह वृत्ति मत रखो। वे दवा लेने की आज्ञा अवश्य देते हैं, किन्तु इसलिए नही कि तुम्हे शरीर-रक्षा के लिए औषधि

सेवन करना है। उनकी आज्ञा का अभिप्राय तो यह है कि यदि दवा नहीं लोगे तो शरीर में बीमारी फैलेगी और एक दिन वह तुम्हें बुरी तरह जकड़ लेगी। इतना ही नहीं आखिर तुम अपना सन्तुलन भी खो बैठोगे। फलतः तुम्हें आर्त्त ध्यान होगा रौद्र-ध्यान भी होगा और अनेकानेक दुसंकल्प भी होंगे। इस दुराशापूर्ण विषम स्थिति से बचने के लिए ही दवा ली जाती है।

इस प्रकार यदि हम सूक्ष्म दृष्टि से देखें तो ज्ञात होगा कि भविष्य की हिंसा को रोकने के लिए प्रतिलेखन किया जाता है प्रमार्जन भी किया जाता है। किन्तु यह सब क्षण मधुर जीवन की लोलुपता से नहीं अपितु आगे आगे आती विराट हिंसा को रोकने के लिए किया जाता है।

जैन-धर्म अहिंसा के विषय में जो इस प्रकार विवेचन करता है और अहिंसा की दृष्टि को सामने रखकर प्रवृत्ति का विधान प्रस्तुत करता है उसका मन्तव्य प्रवृत्ति का पूरी तरह परित्याग करना नहीं है अपितु जीवन की प्रत्येक प्रवृत्ति मे अहिंसक दृष्टिकोण पैदा करना है। जीवन-व्यापार में प्रवृत्त करते हुए और अहिंसक भावना रखते हुए भी यदि प्रवृत्ति में कोई अविवेक या भूल होती है तो उसी के लिए 'मिच्छा-मि-दुक्कडं' दिया जाता है। अब यह पूर्णतया स्पष्ट हो जाना चाहिए कि 'अहिंसा' निवृत्ति में ही नहीं है अपितु प्रवृत्ति में भी विद्यमान है।

२१-९-५

—: १ .—

अहिंसा अव्यवहार्य है ?

अहिंसा के सम्बन्ध मे आज ससार के सामने एक विकट प्रश्न उपस्थित है। जब तक उस प्रश्न को अच्छी तरह से हल न करले, तब तक जनता की शकाओ का पूरी तरह समाधान नही हो सकता। कुछ लोग कहते है कि अहिंसा अपने आप मे तो एक अच्छी चीज है। अहिंसा के सिद्धान्त भी बहुत अच्छे है। समय-समय पर अहिंसा का जो विश्लेषण किया गया है, उसकी जो व्याख्याएँ की गई हैं, वे महत्वपूर्ण हैं और इतनी ऊँची है कि वास्तव मे हमे उनका आदर करना ही चाहिए। किन्तु जहाँ अहिंसा की लम्बी-चौडी व्याख्याएं की गई हैं वही वह अव्यवहार्य भी भी बन गई, अर्थात्—व्यवहार मे आने लायक नही रही। जीवन में उतारने योग्य भी नही रही। यदि उसके सहारे जीवन-यात्रा पूरी करना चाहे तो नही कर सकते।

कोई अच्छी बात तो हो, किन्तु काम आने लायक नही हो तो फिर उसका क्या मूल्य है ? चीज तो अच्छी है,

पर लेने योग्य नहीं है—इसका अर्थ क्या हुआ ? यदि अहिंसा जीवन में उतारने लायक नहीं है उसके सहारे हम जीवन यात्रा तय नहीं कर सकते हैं तो इसका मतलब यह हुआ कि वह निरर्थक वस्तु है अयोग्य है और जीवन में उसका कोई मूल्य ही नहीं है।

इस प्रकार के प्रश्न प्रायः साधारण लोगों के और कभी-कभी विचारकों के सामने भी उठा करते हैं। अब हमें देखना यह है कि क्या वस्तुतः बात ऐसी ही है ? क्या अहिंसा सचमुच ही व्यवहार में लाने योग्य नहीं है। यदि हृदय की सचाई से विचार किया जाय और भारत के सुनहरे इतिहास पर दृष्टिपात किया जाय तो पता चलेगा कि यह विचार सही नहीं है। जो वस्तु कई शताब्दियों से लगातार व्यवहार में आती रही है और जिसके भगवान् महावीर जैसे महापुरुषों ने गौतम जैसे सन्तों ने और आनन्द जैसे संभ्रान्त गृहस्थों ने तथा वर्तमान में राष्ट्रपिता गांधीजी तक ने भी व्यावहारिक जीवन में सफल प्रयोग करके दिखलाए हैं फिर उसकी व्यावहारिकता में आज किसी प्रकार की शंका करना कैसे उचित कहा जा सकता है ? एक नहीं हजारों साधकों ने जो अहिंसा की सतापशमिनी छाया में आये कहा कि यह अहिंसा आकाश की नहीं धरती की चीज है अतः प्रतिपल व्यवहार की चीज है। जिन्होंने अहिंसा का आचरण अपने जीवन व्यापार में किया है उन्हें तो वह स्वप्न में भी अव्यवहार्य नहीं लगी किन्तु जिन्होंने एक दिन भी अपना जीवन अहिंसामय नहीं बिताया वे अपने मनगढ़न्त

तर्क के आधार पर उसे अव्यवहार्य मानते हैं। क्या यह आश्चर्य की वात नही है ?

अहिंसा के विना हमारा जीवन एक कदम भी आगे नही वढ सकता। मानव यदि मानव के रूप मे जीवन-पथ पर अग्रसर होना चाहता है, और मनुष्य यदि मनुष्य के रूप मे अभीष्ट लक्ष्य को प्राप्त करना चाहता है तो अहिंसा के विना वह एक क्षण भी जीवित नही रह सकता। निहित स्वार्थों की पूर्ति के लिए यदि मनुष्य अपने जीवन के एक-एक कदम पर दूसरो का खून वहाता हुआ और सहारक सघर्ष करता हुआ चलता है तो वह मनुष्य की वास्तविक गति नही हैं। वह तो सचमुच हैवान, राक्षस और दैत्य की गति है। मानव के चलन में और दानव के चलन मे दिन रात जैसा विपरीत अन्तर है। इस अन्तर को भूतल पर के प्रत्येक मनुष्य को अच्छी तरह समझ लेना चाहिए।

वस्तुत जव आदमी चलता है, तो वह जीवन-पथ मे किसी दूसरे के लिए कांटे नही विछाता है। वह तो सुखदायी जीवन का महत्वपूर्ण सन्देश देता हुआ ही चलता है और आनन्द के फल वरसाता हुआ चलता है। जिधर भी उसका पदार्पण होता है, प्रेम की फुहारे छुटती दिखलाई पडती हैं। यदि वह अपने कर्त्तव्य कदमो से घृणा की फुहारें छोडता है तो समझलो कि वह इन्सान नही, वल्कि हैवान है। मोटर-ड्राइवर के विषय मे पहले कहा जा चुका है। वही ड्राइवर सावधान और चतुर समझा जाता है, जो सामने आते हुए वच्चो और वूढो को वचाकर मोटर चलाता है, कांटो और

सवारियों को भी बचाता हुआ चलता है। इसके विपरीत जो ड्राइवर सामने आने हुए बालक या बूढ़े को कुचल देता है और मोटर को कभी इस किनारे से तो कभी उस किनारे से टकरा देता है और सबकड़ाती गाड़ी चलाता है तो लोग कह उठें—यह ड्राइवर नहीं कोई पागल है और इसे मोटर चलाने का अधिकार नहीं है।

अभिप्राय यही है कि जीवन भी एक प्रकार की गाड़ी है मोटर है या रथ है और आत्मा इसका ड्राइवर है। वह जब जीवन को गाड़ी को ठीक ढंग से चलाता है, जहाँ कहीं टक्कर लगने वाली हो तो उसे बचा लेता है और जब संघर्ष होता है तब भी बचाकर चलता है तो वह जीवन की राह पर ठीक-ठीक अपनी गाड़ी चलाता है। वह रुकता भी नहीं है किन्तु निरन्तर चलता ही रहता है तब हम समझते हैं कि यह ड्राइवर-आत्मा सावधान है और कुशल है। वह क्रोध मान माया लोभ घृणा और द्वेष के नशे में नहीं है। फलतः खुद भी सावधानी के साथ चलता है और दूसरों को भी बचाता हुआ चलता है।

अच्छा धुन्ध चलाने का क्या मतलब है? मान लो कोई व्यक्ति परिचय-पथ पर आ गया और उसे हिंसा से कुचल दिया असत्य से कुचल दिया। फिर कोई साथी मिल गया तो उसे चोरी से दगा से या घृणा से कुचल दिया। और इस प्रकार कुचलता हुआ मदमत्त स्थिति में गुजरता हो गया कहीं रुका ही नहीं तो आप समझ लीजिए कि इस जीवन का ड्राइवर आत्मा होश में नहीं है। वह इन्सान के रूप में

अपने जीवन की गाडी को नही चला रहा है। उसे हैवानियत का नशा चढा हुआ है और वह भूल गया है कि जीवन का पथ कैसे तय किया जाय।

कल्पना कीजिए—आपका कोई साथी गहन वन मे से गुजर रहा है अथवा दुर्गम पहाडो पर चढ रहा ह। मार्ग मे इधर भी काँटेदार झाडियाँ है और उधर भी। इधर भी नुकीले पत्थर हैं और उधर भी हैं। वे सभी उसे घायल करते हैं, काँटे भी चुभते है और कठोर पत्थरो की ठोकरें भी लगती है। किन्तु वह यात्रा करता ही रहता है। जब कि उसे चलने के लिए एक जरा सी पगडडी मिली है। जरा-सी असावधानी होते ही इधर या उधर उसके कपडे झाडी मे उलझ जाएँ। इसलिए इधर-उधर से कपडा बचाता हुआ ठीक बीच से उस पगडडी मे से अपनी राह बनाता है। फिर भी यदि वह उलझ गया है तो रुककर शीघ्र ही कपडा काँटो से निकाल लेता है। फिर आगे बढ चलता है और यदि फिर कभी उलझता है तो फिर निकालता है। चलते हुए यदि कही पैर मे काँटा लग जाता है तो तत्क्षण खडा हो जाता है और काँटे को निकाल लेता है। यदि बीच मे पत्थर या चट्टान आ जाती है तो भी बचता है और यदि कभी असावधानी से ठोकर लग भी जाती है तो तत्काल सहलाता है और आगे बढ जाता है। राह की रुकावटो मे वह उलझता नही है, अपितु चलता ही जाता है—सावधानी के साथ। 'चल चल रे नौजवान, चलना तेरा काम, इसी मूलमत्र को उसने अपनी जीवन यात्रा का आलम्बन माना है।

इस तरह एक आदमी चल रहा है और निरन्तर चला ही जा रहा है। वह बीच में कहीं रुकता नहीं है किन्तु सीधा अपनी मंजिल की ओर बराबर बढ़ता ही चला जा रहा है।

एक दूसरा आदमी भी उसी रास्ते पर चलता है किन्तु सावधानी नहीं रखता है। जब वह कांटेदार झाड़ी के पास से गुजरा तो झाड़ी में उलझ गया। बस अब सोचता है कि इसने मेरा पल्ला उलझा दिया अतः जब तक मैं इस झाड़ी को ही जड़ से न काट दूं तब तक आगे नहीं बढ़ सकता। अब वह उसे काटने मे जुट जाता है और काट कर ही आगे कदम रखता है कि अगले कदम पर फिर दूसरी झाड़ी में उलझ जाता है और फिर उसे भी काटने लगता है। पैर में यदि कोई कांटा चुभ गया तो उसको निकाल कर टुकड़े-टुकड़े करने लगा। फिर आगे बढ़ा और यदि पत्थर की ठोकर लग गई तो कुदाल लेकर चट्टान को तोड़ने लगता है। इस प्रकार चलने वाला क्या अपनी मंजिल पर पहुँच सकेगा ?

जो बचकर सावधानी से चलता है और उलझता नहीं है वह तो चलता और अपनी मंजिल भी पूरी कर लेगा। परन्तु जो इस प्रकार उलझता हुआ चलता है और जहाँ उलझा है वहाँ संहार करने लग जाता है और सारे पहाड़ को चकनाचूर करके ही आगे बढ़ने का संकल्प करता है वह चाहे सौ वर्ष की उम्र पाए, तो भी अपने अभीष्ट लक्ष्य पर नहीं पहुँच सकेगा। वह हजार वर्ष की उम्र में भी मंजिल पूरी नहीं कर सकेगा।

हाँ, तो निष्कर्ष रूप सिद्धान्त यह निकला कि यदि जीवन यात्रा करना है तो सर्वप्रथम व्यर्थ के झगड़ों से अपने जीवन को बचाते हुए सावधानी से चलना चाहिए। सावधानी रखते हुए भी यदि कहीं उलझन आ ही जाय तो उसको शान्त चित्त से सुलझाते हुए आगे बढ़ो। मनुष्य यदि इधर-उधर से पल्ला सभाल कर अपने जीवन के पथ पर चलता जायगा तब तो अपनी मंजिल पर पहुँच जायगा। इसके विपरीत यदि किसी से जरा-सी भी अनबन हो गई तो जब तक उसकी जबान नहीं खींच ले, या परिवार में जरा-सी कोई बात हो जाय तो जब तक कानून की तीरकमान लेकर अदालत के द्वार को न खटखटा दे तब तक आराम की साँस न ले, तो उसकी जीवन-गाडी अपनी यात्रा कभी भी सफलतापूर्वक तय नहीं कर सकती।

इस प्रकार जीवन का पहला मार्ग है—अहिंसा का, अर्थात्—प्रथम तो कभी किसी से उलझे नहीं, सदैव सावधानी से ही चले और यदि कभी परिस्थिति-वश उलझ भी जायें तो उलझन को ठीक कर ले। यह अहिंसा का प्रेरणामय जीवन है। इसके बाद दूसरा मार्ग है—हिंसा का, जिसमें प्रथम तो असावधानी से चलना, पैर किधर पड रहे हैं—इस बात का कभी विचार ही न करना। और यदि कभी किसी से उलझ जायें या टकरा जायें तो उसके सर्वनाश का सकल्प कर लेना। ऐसी बुद्धि, हिंसा की बुद्धि है।

इन दो मार्गों में से आपको एक चुनना है। कई विचारक मित्र कहते हैं कि अहिंसा उत्तम चीज है, किन्तु यह

जीवन-व्यवहार की उपादेय वस्तु नहीं है। तब मैं पूछता हूँ कि—आखिर व्यवहार का मार्ग कौन-सा है ? वस्तुतः बचना और बचाना ही व्यवहार का मार्ग है और यही वास्तविक अहिंसा है। जो हिंसा है वह तो उलझने का और टकराने का मार्ग है। स्वयं बर्बाद हो जाना और दूसरों को भी बर्बाद कर देना 'हिंसा' है। आप ही कहिए यदि यह गलत विचार नहीं तो क्या है ?

हमें हिंसा और अहिंसा की स्पष्ट व्याख्या को समझने के लिए तैयार होना चाहिए। यदि हम इसका निर्णय नहीं करेंगे तो जीवन के सही रास्ते पर नहीं चल सकेंगे। आप अपने जीवन के प्रति सजग रहिए। सतत सावधान रहिए और देखते रहिए कि दूसरों को आपकी हिंसा और अहिंसा से क्या फल मिलता है ? यदि आप स्वस्थ मन और स्थिर बुद्धि से विचार करेंगे तो आपको पता चलेगा कि जीवन-व्यवहार में आप हिंसा के बजाय अहिंसा में ही अधिक रहते हैं। यदि घर मे कोई छोटी-सी घटना हो जाती है तो क्या आप उसके लिए न्यायालय की शरण लेते हैं ? जब परिवार की गुत्थियाँ उलझ जाती हैं तो वे प्रेम से नहीं सुलझाई जाती हैं प्रत्येक घटना पर अदालत में नहीं भागा जाता है। हाँ तो अहिंसा एवं प्रेम का जैसा सद्व्यवहार परिवार में किया जाता है वही समाज में और वही राष्ट्र में भी क्यों न किया जाय ?

जो हिंसा के पथ पर चलते हैं आखिरकार वे एक दिन ऊबते हैं और उससे विरत होते हैं। जो खूनी लड़ाइयाँ लड़ते

रहे और जिन्होंने जीवन-क्षेत्र को रक्त-रंजित कर दिया, वे भी अन्त मे सन्धि करने बैठते हैं। आखिर यह क्या कौतूहल है ? जो वस्तु अन्त मे आने वाली ही है, लाखो-करोडो का संहार करके अन्तत जिस मार्ग को अपनाना ही है, उसका पहले ही क्यो न अनुकरण किया जाय। यदि वही मार्ग सूझ-बूझ के साथ पहले ही पकड लिया जाय तो क्या अच्छा न होगा ? साराश मे यह स्पष्ट है कि 'अहिंसा' व्यवहार की उपादेय वस्तु है, वह किसी भी रूप मे अव्यवहार्य नही है। हजारो साधक इसी मार्ग पर चले हैं और उन्होने इसी पथ पर चलकर अपनी हजारो वर्ष की जिन्दगी गुजारी है। उन्हे अहिंसा 'अव्यवहार' की वस्तु कभी नही दिखलाई दी।

कल्पना कीजिए—कोई अहिंसा को 'अव्यवहार्य' और हिंसा को ही 'व्यवहार्य' समझने वाला यदि यह प्रतिज्ञा कर ले कि मैं हिंसा ही करूँगा—जो मिलेगा उसकी हिंसा किये बिना नही रहूँगा, तो क्या वह एक दिन भी अपनी प्रतिज्ञा पर अटल रह सकेगा ? हाँ, अहिंसा की प्रतिज्ञा लेकर तो लम्बी जिन्दगी गुजारी जा सकती है और गुजारी भी गई है, किन्तु हिंसा की प्रतिज्ञा करके भला कितने मिनट बिताये जा सकते हैं ? हिंसा की प्रतिज्ञा लेने वाला अधिक से अधिक उतनी ही देर जिन्दा रह सकेगा जितनी देर उसे अपना गला घोटकर आत्म-हत्या मे लग सकती है।

हाँ, तो मूल सिद्धान्त क्या है ? हम अपने जीवन मे निन्यानवे फीसदी तो प्रेम से काम लेते हैं और एक फी-सदी हिंसा, घृणा या द्वेष से काम लिया जाता है। तब फिर

यह समझना कठिन नहीं है कि अहिंसा अव्यवहार्य नहीं है। इतना ही नहीं बल्कि वास्तविकता यह है कि अहिंसा के द्वारा ही जीवन-व्यवहार चलाया जा सकता है और वस्तुत अहिंसा ही जीवन है रक्षा है और हिंसा मृत्यु है संहार है।

किं सुर-गिरिणो गरुयं,
जल-निहिणो किं व हुज्ज गंभीरं ?
किं गयणाओ विसालं,
को य अहिंसा-समो धम्मो ?

—आचार्य हेमचन्द्र,

सुमेरु के समान बड़ा कौन है ?
समुद्र के समान गम्भीर कौन है ?
आकाश के समान विशाल कौन है ?
अहिंसा के समान धर्म कौन है ?
कोई नहीं,
कोई नहीं ।

द्वितीय खण्ड

सामाजिक-हिंसा

का

शोषण चक्र

कदाचित् आपको यह शब्द नवीन-सा प्रतीत होगा और आप सोचेगे कि यह कौन-सी नयी हिंसा आ टपकी है ? किन्तु हिंसा का रूप एक नही है। हिंसा के विविध रूप हैं और अलग-अलग अगणित प्रकार हैं। हम ज्यो-ज्यो उन पर चिन्तन और मनन करेगे, त्यो-त्यो जैन-धर्म के अहिंसा-सम्बन्धी विचारो की सूक्ष्मता एव व्यापकता का हमे ज्ञान होता जायगा। तभी हम समझ सकेगे कि जैन-धर्म विचारो की कितनी गहराई तक पहुँचा है।

हाँ, तो सामाजिक हिंसा का मतलब क्या है ? भारत का समाज और सामाजिक जीवन क्या है ? वह कैसे बना है ? जमीन के अनेक टुकडो को समाज नही कहते। मकानो का, ईटो का या पत्थरो का ढेर भी समाज नही कहलाता, और न गली-कूचे का, या दूकान का, या सडक आदि का नाम ही 'समाज' है। व्यावर का समाज या दिल्ली का समाज जब कहा जाता है तो उसका अभिप्राय यह होता है--व्यावर या दिल्ली मे रहने वाला मानव-समुदाय।

एक समाज का दूसरे समाज के साथ कैसा व्यवहार है ? कैसी पारस्परिकता है—सम्बन्ध मीठा है या कडवा ? एक जाति का दूसरी जाति के साथ, एक वर्ग का दूसरे वर्ग के साथ, और एक मुहल्ले का दूसरे मुहल्ले के साथ घृणा और द्वेष का सम्बन्ध तो नही चल रहा है ? यदि कही घृणा चल रही है और वह सामूहिक है, या समूह-विशेष के प्रति चल रही है तो वह 'सामाजिक हिंसा' कहलाएगी। इसी प्रकार [illegible] प्रान्त की दूसरे प्रान्त के साथ, और एक देश

— १ —

वर्ण-व्यवस्था का मूल रूप

प्रथम खण्ड में हिंसा और अहिंसा की जो व्याख्या की गई है वह जीवों की प्रत्यक्ष अहिंसा को लेकर है। आज मैं दूसरे प्रकार की परोक्ष हिंसा और अहिंसा पर प्रकाश डालने का विचार प्रस्तुत करता हूँ।

हिंसा के दो प्रकार हैं—(१) प्रत्यक्ष हिंसा और (२) परोक्ष हिंसा। प्रत्यक्ष हिंसा मनुष्य की समझ में जल्दी आ जाती है। जब वह सोचता है तो शीघ्र ही उसे ख्याल आ जाता है कि आज एकेन्द्रिय से लगाकर पंचेन्द्रिय तक के जीवों में से कौन और कितने मेरे हाथों से मारे गए हैं। किन्तु दूसरे प्रकार की जो परोक्ष हिंसा है उसका रूप बड़ा व्यापक है और उसके सम्बन्ध में शीघ्र कल्पना नहीं की जा सकती है। प्रायः उसकी तरफ ख्याल भी नहीं जाता। उसकी गहराई को लोग समझ भी कम ही पाते हैं। इस परोक्ष हिंसा की ओर ध्यान दिलाने के उद्देश्य से ही आज हम एक नया प्रकरण प्रारम्भ कर रहे हैं। इस प्रकरण को 'सामाजिक हिंसा' कहना उपयुक्त होगा।

कदाचित् आपको यह शब्द नवीन-सा प्रतीत होगा और आप सोचेगे कि यह कौन-सी नयी हिंसा आ टपकी है ? किन्तु हिंसा का रूप एक नही है। हिंसा के विविध रूप हैं और अलग-अलग अगणित प्रकार हैं। हम ज्यो-ज्यो उन पर चिन्तन और मनन करेंगे, त्यो-त्यो जैन-धर्म के अहिंसा-सम्बन्धी विचारो की सूक्ष्मता एव व्यापकता का हमे ज्ञान होता जायगा। तभी हम समझ सकेंगे कि जैन-धर्म विचारो की कितनी गहराई तक पहुँचा है।

हाँ, तो सामाजिक हिंसा का मतलब क्या है ? भारत का समाज और सामाजिक जीवन क्या है ? वह कैसे बना है ? जमीन के अनेक टुकडो को समाज नही कहते। मकानो का, ईटो का या पत्थरो का ढेर भी समाज नही कहलाता, और न गली-कूचे का, या दूकान का, या सडक आदि का नाम ही 'समाज' है। व्यावर का समाज या दिल्ली का समाज जब कहा जाता है तो उसका अभिप्राय यह होता है--व्यावर या दिल्ली मे रहने वाला मानव-समुदाय।

एक समाज का दूसरे समाज के साथ कैसा व्यवहार है ? कैसी पारस्परिकता है—सम्बन्ध मीठा है या कडवा ? एक जाति का दूसरी जाति के साथ, एक वर्ग का दूसरे वर्ग के साथ, और एक मुहल्ले का दूसरे मुहल्ले के साथ घृणा और द्वेष का सम्बन्ध तो नही चल रहा है ? यदि कही घृणा चल रही है और वह सामूहिक है, या समूह-विशेष के प्रति चल रही है तो वह 'सामाजिक हिंसा' कहलाएगी। इसी प्रकार यदि एक प्रान्त की दूसरे प्रान्त के साथ, और एक देश

को दूसरे देश के साथ घृणा चल रही है तो यह भी एक प्रकार की 'सामाजिक हिंसा' ही कहलाती है।

जैन-धर्म एक विराट धर्म है। जन-कल्याण के लिए यह महान् सन्देश लेकर आया है। उसका मूलभूत सन्देश यह है कि—'विश्व के जितने भी मनुष्य हैं वे सभी मूलतः एक हैं। कोई भी जाति अथवा कोई भी वर्ग मनुष्य-जाति की मौलिक एकता को नष्ट नहीं कर सकता। इस सम्बन्ध में आचार्य जिनसेन ने स्पष्ट शब्दों में घोषणा की है —

मनुष्य-जातिरेकैव जातिकर्मोदयोद्भवा।

—आदिपुराण

आज मनुष्य जाति में जो अलग-अलग वर्ग दिखलाई देते हैं वे बहुत कुछ कार्यों के भेद से धन्धों के भेद से हैं। कुछ त्रुटियों और भूलों के कारण भी बन रहे हैं। परिवर्तन ने समाज की परिस्थितियों को बदल दिया है और इतना बदल दिया कि यह अखण्ड मानव-जाति आज खण्ड खण्ड हो गई और न जाने कितने वर्गों एवं वर्णों में विभाजित हो गई है।

भगवान् ऋषभदेव के समय में जब समाज की स्थापना की गई तो हमारी मान्यता के अनुसार ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य और शूद्र—ये चार वर्ग या वर्ण कायम हुए।* इन वर्गों

---

* भगवान् ऋषभदेव ने क्षत्रिय वैश्य तथा शूद्र ये तीन वर्ण स्थापित किए थे। तत्पश्चात् उनके पुत्र भरत चक्रवर्ती ने ब्राह्मण वर्ण की स्थापना की। इसके लिए देखिए—आचार्य जिनसेन-कृत आदिपुराण।

का एकमात्र आधार उद्योग-धन्धा था। समाज की विभिन्न प्रकार की आवश्यकताओं की पूर्त्ति के लिए ही ये वर्ग स्थापित किये गए थे।

एक वर्ग का काम था कि वह समाज को शिक्षित करने के लिए अध्यापक का काम करे, जनता को सही रास्ता दिखलाने का प्रयत्न करे और जब-जब समाज मे भूल और भ्रान्तियाँ उत्पन्न हो तो उन्हे उचित ढग से ठीक करे। इस प्रकार यह वर्ग ब्राह्मण वर्ण कहलाया। आज की भाँति इस ब्राह्मण वर्ग को न्योता देकर जिमाने के लिए तैयार नही किया गया था और न यह कहने के लिए ही कि—"मै बहुत ऊँचा एव पवित्र हूँ और सब मुझसे नीचे हैं, अपवित्र है। ससार के साथ मेरा जो कुछ भी सम्बन्ध है, वह देने का नही, सिर्फ लेने ही लेने का है।" इस मनगढन्त सिद्धान्त पर ब्राह्मण-वर्ग की स्थापना नही हुई थी।

जैसे बडी मछली छोटी मछली को निगल जाती है, उसी प्रकार शक्तिशाली लोग अशक्तो एव असमर्थों का शोषण करना चाहते हैं। यदि शक्तिमान् लोग न्याय और अन्याय को कभी तोलते भी हैं तो उनकी तराजू अपनी बुद्धि होती है और बाट अपने स्वार्थ का होता है। अपनी बुद्धि की तराजू पर, अपने स्वार्थ के बाटो से तोलने वाला कब न्याय-अन्याय को सही तौर पर तोल सकता है? वह न्याय की रक्षा नही कर सकता और न उचित-अनुचित का विवेक के साथ विश्लेषण ही कर सकता है। इसीलिये समाज की स्थापना के साथ ही साथ राजनीति का भी प्रवेश हुआ।

सबलों द्वारा निर्बल पीड़ित न किये जाएँ दुबलों को भी जीवित रहने का उतना ही अधिकार है जितना कि बलवानों को अतः उनकी समुचित रक्षा की जाय। इसी प्रयोजन से क्षत्रिय-वर्ग की स्थापना हुई और राजा उनका संरक्षक बनकर मानो पहरेदार के रूप में उसने आपको प्रस्तुत किया। क्षत्रिय-वर्ग और उनका मुखिया 'राजा' महलों में बैठकर ऐश-आराम करने के लिए नहीं था अपितु इसलिए था कि देश के किसी भी कोने में जब अत्याचार होता हो और कोई वर्ग किसी दूसरे वर्ग द्वारा कुचला जाता हो तो वह अपने प्राणों की आहुति देकर भी उसकी रक्षा करे। क्षत्रियों की स्थापना में यही दृष्टि प्रमुख थी। महाकवि कालिदास ने भी यही कहा है—

क्षतात् किल त्रायत इत्युदग्रः
क्षत्रस्य शब्दो भुवनेषु रूढः।

—रघुवंश महाकाव्य

इसके बाद वैश्य-वर्ग स्थापित हुआ। वह इसलिए नहीं कि दुनिया भर का शोषण करके अपने ही पेट को मोटा बनाए और दुनिया की जेब खाली करके अपनी ही जेब भरता रहे। उसकी स्थापना का मुख्य उद्देश्य यह था कि प्रजा को जीवन-निर्वाह की सामग्री सर्वत्र सुगमता से उपलब्ध हो। कोई वस्तु कहीं बहुतायत से पैदा होती है कहीं कम या कहीं होती ही नहीं है। जहाँ जो चीज बहुतायत से होती है वहाँ वह उपभोग के बाद भी पड़ी सड़ती रहती है, और जहाँ पैदा नहीं होती वहाँ के लोग उसके अभाव में असुविधा

अनुभव करते है और कष्ट सहते हैं। इस विषम परिस्थिति को दूर करना और यथावश्यक सुविधाएँ सर्वत्र सुलभ कर देना, वैश्य-वर्ग का कर्त्तव्य था। इस कर्त्तव्य का प्रामाणिकता के साथ पालन करते हुए अपने और अपने परिवार के निर्वाह के लिए वह उचित पारिश्रमिक ले लिया करता था। वैश्य-वर्ग की स्थापना मे यही मूल उद्देश्य सन्निहित था।

और चौथा शूद्र-वर्ग था, जिसका कार्य भी बडा महत्त्व-पूर्ण था। समाज की सेवा करना ही उसका दायित्व था। उसकी सेवा की बदौलत समाज स्वस्थ रहता था और प्रजा का जीवन सुख-सुविधा के साथ व्यतीत होता था। शूद्र-वर्ग की स्थापना मे किसी प्रकार की मानसिक सकीर्णता तथा हीन भावना काम नही कर रही थी। तब फिर यह कल्पना की जा सकतीहै कि वर्ण-व्यवस्था कायम करते समय शूद्र-वर्ग को यदि किसी भी अश मे अन्य वर्णों की तुलना मे हीन माना गया होता, तो फिर कौन इस वर्ण-व्यवस्था मे सम्मिलित होने को तैयार होता? वस्तुत उन समाज स्रष्टाओ मे ऐसी कोई विकृत भावना नही थी। जैसे अन्यान्य वर्ग समाज की सुविधा के उद्देश्य से कायम किये गए थे, उसी प्रकार यह वर्ग भी समाज की सुविधा के लिए ही बनाया गया था।

प्राचीन साहित्य मे ब्राह्मणो को 'मुख' कहा है। आमतौर पर यह उक्ति प्रचलित है कि—ब्राह्मण की उत्पत्ति ब्रह्मा के मुख से, क्षत्रिय की उत्पत्ति ब्रह्मा की भुजाओ से, वैश्य की उत्पत्ति ब्रह्मा के उरु या पेट से, और शूद्र ब्रह्मा के पैरो से

उत्पन्न हुए। यजुर्वेद के पुरुषसूक्त में कहा है —

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत।

आज ब्राह्मण-समाज इस बात को तो बड़े गौरव के साथ दोहराता है कि हम ब्रह्माजी के मुख से पैदा हुए हैं किन्तु इसके वास्तविक रहस्य को समझने का स्वप्न में भी प्रयत्न नहीं करता है। ब्रह्मा के मुख से उत्पन्न होने का मूल अर्थ इतना ही है कि आप जो चिन्तन और मनन करते हैं उसका उपयोग मुख द्वारा कीजिए। आप अपने ज्ञान को पवित्र वाणी के द्वारा प्रकाशित करके मानव-समाज की सेवा कीजिए। इस भ्रम में कदापि न रहिए कि ब्राह्मण ब्रह्मा के मुख से बाहर निकल पड़े हैं। जिस तरीके से अन्य लोग पैदा होते हैं उसी तरीके से ब्राह्मण भी पैदा होते हैं। भला यह कौन नहीं जानता? मुख से पैदा होने की बात तो केवल रूपक है और उसका आशय इतना ही है कि ब्राह्मणों का मुख्य कर्त्तव्य शिक्षा ज्ञान के द्वारा समाज की सेवा करना है। यह अलंकार जीवन की पवित्रता का सन्देश लेकर आया था।

क्षत्रिय ब्रह्मा की भुजाओं से उत्पन्न हुए, यह भी आलंकारिक भाषा है। इसका अर्थ केवल इतना ही है कि क्षत्रिय वर्ग अपनी भुजाओं के बल से निर्बलों की रक्षा करे जो कि सबलों द्वारा सताये जाते हैं और जो अन्याय एवं अत्याचार के शिकार बन रहे हैं। जहाँ शोषकों के क्रूर हाथों से अन्याय अत्याचार बरस रहे हों वहाँ तुम्हारे हाथ चोट पहुँचाने के लिए नहीं अपितु उन दुर्बलों पर छाया बनकर पहुँचने चाहिएँ।

हम लोग जो भोजन करते हैं, वह पेट मे जमा हो जाता है। किन्तु पेट मे जमा हुआ भोजन रस के रूप में सारे शरीर म पहुँचता है। ऐसा कदापि नही होता कि पेट मे पहुँचा हुआ भोजन पेट मे ही रह जाए और अकेला पेट ही उसे हजम कर जाए और किसी दूसरे अवयव को अणुमात्र भी न मिलन पाए। हमारे शरीर का प्रत्येक अवयव क्रिया कर रहा है, वह पेट मे पहुँचे भोजन की वदौलत ही तो ह। यदि पेट सम्पूर्ण शरीर को शक्ति न दे, तो हमारे शरीर का अस्तित्व टिक ही नही सकता। फिर जब शरीर ही नष्ट हो जायगा तो क्या अकेला पेट टिक सकेगा ? पेट की वदौलत यदि सम्पूर्ण शरीर टिका हुआ है तो सारे शरीर की वदौलत पेट भी टिका हुआ है। आशय यही है कि पेट म जो भोजन पहुँचता है वह रस, रक्त, मांस, चर्बी आदि के रूप मे सारे शरीर को जीवन प्रदान करता है और शक्ति पहुँचाता है।

वैश्य-वर्ण समाज का उदर है। कृषि एव वाणिज्य उसका मुख्य उद्योग वतलाया गया है। कृषि के द्वारा जीवनोपयोगी वस्तुएँ उत्पन्न कर वाणिज्य के द्वारा उन्हे स्थानान्तरित करके सम्पूर्ण समाज को भोजन देना, शक्ति पहुँचाना तथा जीवित रखना उसी का कर्त्तव्य है। उसके इसी महत्त्वपूर्ण कर्त्तव्य को सुन्दर ढग मे प्रतिपादित करने के लिए यह कहा गया है कि वैश्य-वर्ण ब्रह्मा के पेट से उत्पन्न हुआ है।

वैश्य-वर्ण की स्थापना का यह आशय कितना पवित्र था! किन्तु समाज का दुर्भाग्य है कि 'वैश्य' अपनी पवित्र प्रतिष्ठा

को सुरक्षित नहीं रख सका। वाणिज्य के नाम पर वह मानव के चंगुल में बुरी तरह फँस गया। बंगाल और बिहार में जब भयानक दुर्भिक्ष फैला हुआ था सबत्र हाहाकार मच रहा था सड़कों पर चलते हुए भूखे बच्चे और बूढ़े इस तरह गिर जाते थे जैसे झंझावात में वृक्ष की टहनियाँ! उसी समय में एक व्यापारी के विषय में मुझे बतलाया गया था। बड़ी तादाद में उसके पास चावलों का संग्रह था। उसने जगह जगह से खरीद कर भारी स्टॉक जमा कर लिया था। उसके मुनीम बाजारों में चक्कर लगाकर आते और कहते—बीस रुपया मन चावल बिकते हैं, क्या बेच दिये जाएँ?

सेठ कहता—अभी नहीं प्रभु की कृपा हो रही है।

मुनीमों ने कुछ ही दिनों बाद चालीस रुपया मन का भाव बतलाया।

सेठ बोला—मन्दिर में घी के दीपक जलाओ।

जब चावलों का भाव बढ़ते बढ़ते सत्तर रुपया हो गया तो सेठ की प्रसन्नता का पार न रहा। उसने कहा—भोजशाला में भात बनवा दो।

कितना अज्ञान, कितनी जड़ता और कैसी हृदय-हीनता है! करुणा की कैसी काली कहानी है! स्थिर स्वार्थपरता की भी कोई सीमा है! पर्याप्त भोजन होते हुए भी भुखमरी का ताण्डव है!! भूखों का भोजन चारों ओर से बटोर लिया गया है और जब भाव बढ़ते जाते हैं तो खुशियाँ मनाई जाती हैं उल्लास का अनुभव किया जाता है। इस पर भी दौड़ते हैं धर्म करने के लिये। मन्दिर में घी के दीपक जलाते हैं! गो सवर्नों

मे गायो को घास डलवाई जा रही है !! धर्म के आवरण में अधर्म को ढापने की कैसी दुस्साहसिकता है !!! मैं पूछता हूँ कि मदिर मे घी के दीपक तो जलेगे, किन्तु किस के द्वारा ? उनसे ही तो जलेगे, जिनका मनमाना शोपण किया जा रहा है ? इस प्रकार के दीपको में घी नही, वल्कि भूखो की चर्वी जला करती है।

व्यापारी वर्ग ससार मे इसलिए नही आया कि अर्थ-पिपासा-पूर्ति के लिए वह निरीह जनता का शोपण करे ! पर आज तो यही हो रहा है। सेठजी की कोठी से सडक पर जूठन का पानी डाला जाता है और उस जूठन मे मिले हुए चावलो के कणो को उठाने के लिए भूखे और गरीब, कुत्तों की तरह उन पर झपटते हैं। यह सारी स्थिति वे अपनी आँखो से देखते हैं, फिर भी उन्हे तरस नही आता। वे अपने हिसाव में मस्त रहते हैं—दो लाख से पाँच लाख हो गए, और पाँच लाख से दस लाख हो गए। मन्दिर मे तो घी के दीपक जलाते हैं, किन्तु किसी भूखे को अन्न का दाना भी नही दिया जाता।

ठीक है, व्यापारी जब व्यापार करता है तो धन का सग्रह भी उसके पास होगा ही। परन्तु आचार्यों ने कहा है —

"शतहस्त समाहर, सहस्रहस्त सकिर।"

"तू सौ हाथो से बटोर और हजार हाथो से विखेर" , अर्थात्—सग्रह करने की जो शक्ति तुम मे है, उससे दस गुनी शक्ति उस सम्पत्ति को बाँटने की होनी चाहिए। जव सौ

हाथों से कमाने की शक्ति है तो हजार हाथों से बाँटने की शक्ति भी प्राप्त कर।

जब इस ओर लक्ष्य नहीं दिया जाता है और स्वार्थ ही जीवन का एकमात्र केन्द्रबिन्दु बन जाता है तो वहाँ सामाजिक हिंसा आ जाती है।

चौथा वर्ग शूद्रों का है। उनकी उत्पत्ति ब्रह्मा के पैरों से मानी गई है। इसका दुष्परिणाम यह हुआ कि आज तो 'शूद्र' शब्द घृणा और तिरस्कार का पर्यायवाची–सा बन गया है। शूद्र का नाम लिया कि लोगों की त्योरियाँ चढ़ जाती हैं और अपने आपको ऊँचा मानने वाले लोग नाक-भौंह सिकोड़ने लगते हैं। आप समाज-सेवा के अपने पवित्र दायित्व को भुलाकर सिर्फ व्यक्तिगत लाभ के लिए काम करते है जब कि अधिकांश शूद्र आज भी समाज-सेवा का कठिन उत्तरदायित्व सेवा के लिये ही वहन कर रहे है। किन्तु जब वे इन्सान की तरह आपके पास बैठना चाहते हैं तो आप उन्हें पास बैठाना भी नहीं चाहते। यह कितने आश्चर्य की बात है!

आपकी मोटरों में कुत्ते और बिल्ली को तो जगह मिल सकती है। आपकी गोद में कुत्ते को स्नेहपूर्ण स्थान मिल सकता है। बिल्ली भले ही कितने चूहों को मार कर आई हो पर वह आपके चौके के कोने-कोने में बे रोक टोक चक्कर लगा सकती है और आप उसे प्यार भी कर सकते हैं किन्तु मानव-देहधारी शूद्र को यह हक हासिल नहीं है! इन्सान को इन्सान के पास बैठने का भी हक नहीं है! पास बैठने का हक देते है या

नही उसका फैसला वाद मे करेंगे, किन्तु आप तो धर्मस्थान मे भी उसे प्रवेश नही करने देते। जव ऐसी विपमता है तो मैं सोचता हूँ कि इससे वढकर और क्या सामाजिक हिंसा होगी कि एक ओर तो आप अपनी पवित्रता का ढोल पीटते रहे और दूसरी ओर दूसरो की छायामात्र से भी नफरत करते जायँ।

एक जगह एक हरिजन भाई आता है और वडे प्रेम से उच्च विचार लेकर आता है। उसने माँस खाना और मदिरा पीना छोड दिया है। वह जैन-धर्मानुसार अष्टमी और चतुर्दशी का व्रत भी करता है। आपके धार्मिक जीवन की प्रमुख क्रियाएँ—'सामायिक' और 'पौपध' भी वह करता है। सन्तो के दर्शन भी करता है। परन्तु जव वह व्याख्यान सुनने आता है तो उसे निर्देश दिया जाता है—'नीचे वैठकर सुनो।'

वह वेचारा नीचे वैठकर सुनता है और आप चौक की ऊँचाई पर वैठ जाते हैं। अव इसमे अन्तर क्या पडा? जो हवा उसे छूकर आरही है वह आपको भी लग रही है। तो अव आप ईश्वर के दरवार मे फरियाद ले जाइए कि हवा हमे भ्रष्ट कर रही है अत उसे इधर वहने से रोक दीजिए। सूर्य का भी जो प्रकाश उस पर पड रहा है, वही आप पर भी पड रहा है। सन्त की जो वाणी उसके कानो मे पड रही है, वही आपके कानो मे भी पड रही है। शास्त्र का जो पाठ बोला जा रहा है वह इतना पवित्र है कि जिसकी कोई सीमा नही है। तो उस पाठ की पवित्र ध्वनि को आप

अपने ही कानों में सुरक्षित रख लीजिए। दोबारा खींच दीजिए, जिससे कि वह उद्‌घोष उसके कानों में पड़ कर अपवित्र न हो जाए। भला यह भी कोई युक्ति संगत बात है कि एक वर्ग अपनी मनमानी विशिष्टता को प्रदर्शित करने के लिए दूसरे वर्ग के समान अधिकारों पर अवांछनीय प्रतिबन्ध लगाए और सामाजिक नियमों का दुस्साहस के साथ उल्लंघन करे।

इस अशोभनीय दृश्य को देखकर मैंने प्रयत्न किया कि उस हरिजन भाई को भी सर्वसाधारण के साथ ही बैठने की जगह मिल जाय। वस्तुतः यह तो भगवान् महावीर की पवित्र वाणी का अपमान है कि एक हरिजन तो जूतियों में बैठकर सुने और आप अपनी मनमानी विशिष्टता के कारण दरियों पर बैठकर सुनें। मेरी चेतावनी पर उन भाइयों में चेतना जागृत हुई और उन्होंने भगवान् महावीर की वाणी का आदर करके उस हरिजन बन्धु को दरी पर बिठलाना शुरू किया। फिर भी कुछ भाई तो ऐसे ही थे जो उसे दरी पर बैठा देख स्वयं नीचे बैठते थे और नीचे बठे-बैठे ही व्याख्यान सुनते थे। इसमें भी कोई आपत्ति नहीं है। यदि आज नहीं तो कल वे पूरी तरह समझ जाएँगे।

आज के इस प्रगतिवादी युग में भी ऐसे संकीर्ण भाव देखे गए हैं कि यदि हरिजन आया और सन्त के पैर छू गया तो फिर वे दूर खड़े-खड़े ही वन्दना कर लेते हैं और साधु के चरण नहीं छूएँगे क्योंकि वे चरण अछूत जो हो गए हैं। किन्तु इसी बीच यदि कोई दूसरा आ गया और उसने चरण छू लिए तो वे सेठजी आए और उन्हीं चरणों को छू गए।

वीच मे दूसरे के छूने से शायद उनकी अछूत उतर गई और अव वे चरण छूने योग्य हो गए।

आज का मानव अपने मन की सकीर्णता मे कितना बुरी तरह उलझा हुआ है ? भगवान् महावीर ने अपने युग मे इस मानसिक सकीर्णता को सुलझाया था किन्तु वह पूरी तरह नही सुलझ पाई। उनके बाद ढाई हजार वर्ष की लम्बी परम्परा गुजरी और आचार्यों ने समय-समय पर अस्पृश्यता का तीव्र विरोध भी किया, फिर भी वह उलझन आज तक भी बनी हुई है। दुर्भाग्य से कई ऐसे भी साधु आए, कि जिन्होने जनता की रूढिवादी आवाज मे आवाज मिला दी और अस्पृश्यता को प्रोत्साहन देने लगे। जिसके लिए जैन सस्कृति को एक दिन घोर सघर्ष करना पडा था, जिसके लिए नास्तिकता का उपालम्भ तक भी सहना पडा था। दुर्भाग्य से आज वही पवित्र सस्कृति घृणित अस्पृश्यता-वाद के दलदल मे फँस गई। यहाँ तक कि अस्पृश्यता के पक्ष मे शास्त्र के प्रमाण भी आने लगे। कहा जाने लगा कि वह ऊँचा है, वह नीचा है और जो नीचा है वह अपने अशुभ कर्मों का फल भोग रहा है। किन्तु शास्त्र ने तो आरम्भ मे ही इतनी वडी वात कह दी थी कि—"मनुष्यजातिरेकैव जातिकर्मोदयोद्भवा।" अर्थात्—सव मनुष्यो की जाति 'एक' ही है। मनुष्यो मे दो जातियाँ हैं ही नही। फिर भी सकीर्णतावश उसमे उच्चता और नीचता खोजी जाने लगी। इस वर्ग-भेद ने अखण्ड मानव परिवार को विभिन्न टुकडो मे बाँट दिया और जातिमद ऐसा चढा कि शास्त्रो की पवित्र आवाज क्षीण हो गई। हमने वास्त-

विकृता का मुला दिया और मनुष्य अपने मिथ्याभिमान के कारण दूसरे मनुष्य का अपमान करने को उतारू हो गया।

एक हरिजन भाई पवित्र विचारों का अनुयायी हो चुका है। वह भगवान् महावीर के उपदेशों को स्वीकार कर चुका है उसके हृदय में जैन धर्म के प्रति अगाध श्रद्धा और अटूट प्रीति है फिर भी आप उसकी कोई परवाह नहीं करते और इन्सान की तरह बैठने का हक भी उसे नहीं देना चाहते। क्या यही आपका धर्म-वात्सल्य है? भगवान् महावीर ने आपको सहधर्मी के साथ क्या ऐसा ही व्यवहार करना सिखाया था? जब आप सहधर्मी के प्रति ऐसा व्यवहार कर सकते हैं तो फिर दूसरों के साथ आप कटु व्यवहार क्यों न करो?

उत्तर प्रदेश में पहले ओसवाल और अग्रवाल एक दूसरे के यहाँ भोजन नहीं करते थे। समय और समझ के प्रभाव से अब कुछ ठीक-ठीक समझौता होता जा रहा है। यह साम्प्रदायिक रोग तो यहाँ तक फैला हुआ है कि ओसवालों और अग्रवालों में भी अनेक टुकड़े हो गए और वे मूलतः एक वर्ग के होते हुए भी एक-दूसरे उप वर्ग के हाथ का भोजन नहीं करते।

हमारी मध्यकालीन संस्कृति में कुछ ऐसी जड़ता आ गई थी कि वह सब जगह से हटकर एकमात्र चौके में बंद हो गई। लोग न जाने कैसे समझ बैठे कि 'अमुक का छुआ खा लिया तो धर्म चला जायगा।

एक ओर अर्हत के उपासक उद्घोषक तथा बड़े-बड़े

आचार्य वेदान्त के सूत्र भी जनता के सामने लाते रहे कि सारा ससार पर-ब्रह्म का ही रूप है—'ब्रह्म सत्य जगन्मिथ्या।' अर्थात्—"एक ब्रह्म ही सत्य है और ससार के अन्य सब रूप मिथ्या हैं।" दूसरी ओर अछूत की छाया मात्र से उनका ईश्वर और धर्म भागता है।

वेदान्त तो यह कहता है—पानी भरे हजार घडे रखे हैं। उनमे कुछ सोने के है, कुछ चाँदी के हैं, कुछ पीतल और ताँबे के हैं और कुछ मिट्टी के हैं। परन्तु उन सब मे चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब एक समान ही पडता है। इसी प्रकार ससार के सारे पदार्थों मे ब्रह्म का प्रतिबिम्ब समान रूप से पड रहा है।

हमारे साथी कितने प्रगतिवादी हैं। जब कभी वे धर्म-सम्बन्धी बाते करते हैं और उमङ्ग में आते हैं तो ऐसा मालूम पडता है कि सच्चा ब्रह्म-ज्ञान इन्ही को मिल गया है और वे हिमालय के ऊपर बैठ गए हैं। किन्तु जब खान-पान की बात सामने आती है तो उनका ब्रह्म-ज्ञान न जाने कौन-सी कन्दरा में छिप जाता है? उस समय ऐसा लगता है, मानो उनकी एक टाँग हिमालय की ऊँची चोटी पर है और दूसरी पाताल लोक के अतल गह्वर मे। वास्तविक प्रगति की ऐसी स्थिति नही होती। जीवन इस तरह प्रगति नही कर सकता।

इस प्रकार एक वर्ग का दूसरे वर्ग पर या एक समूह का दूसरे समूह पर घृणा-द्वेष प्रदर्शित करना, सामाजिक हिंसा है। यह कितने आश्चर्य की बात है कि आज बहुतेरे लोग

सामाजिक हिंसा को पाप या अधर्म नहीं बल्कि धर्म मानते हैं। गृहस्थों की तो बात दूर रही साधु-समाज भी इस सामाजिक अपवाद से अछूता नहीं रहा है। उनकी भाषरी के विषय में भी यह खटराग चल रहा है। शास्त्रों की दिव्य सूचनाएं हमें प्रकाश पर प्रकाश दे रही हैं फिर भी सारा समाज कल्पित मान्यताओं के अन्धकार में बुरी तरह भटका हुआ है।

मेरे एक ब्राह्मण भक्त हैं। वे मिल मालिक भी हैं। पहले वे जैन-धर्म के कट्टर विरोधी समझे जाते थे किन्तु जब वे मेरे सम्पर्क में आए तो उनका वह विरोध नहीं रहा। कार्यक्रम के अनुसार मैं जहां कहीं होता हूं बहुधा वे भेंट के लिये आया करते हैं। जब वे एक बार बिहार प्रान्त से लौटकर आए तो बोले— महाराज धर्म का तो नाश हो गया। धर्म नाम का कोई चिन्ह अब रहा ही नहीं।

मैंने पूछा—क्या बात हुई?

वे बोले—कुछ पूछिए ही नहीं! स्टेशन पर मैंने पानी मांगा तो पानीवाले ने कहा—लीजिए! मैंने पूछा—कैसा पानी है? तब उसने कहा—पीने का साफ पानी है। मैंने फिर पूछा—अरे भाई, साफ तो है पर है कैसा? वह बोला—ठंडा है साहब! विवश होकर मुझे पूछना ही पड़ा—किसका पानी है? उसने धीरे से कह दिया कि कुएं का है और ताजा है। फिर मुझे साफ शब्दों में कहना ही पड़ा—मैंने कुंए या तालाब का नहीं पूछा है—मैं पूछता हूं कि यह पानी हिन्दू का है

या मुसलमान का ? तब वह बोला—पानी कौन हो
साहब ? पानी न तो हिन्दू होता है और न मुसल
ही, पानी तो पानी है। अतएव आप यह पूछ सकते हैं
पानी नदी का है, तालाब का है या कुंए का ? ठडा है
गरम है ? साफ है या गन्दा है ? किन्तु पानी न तो
है और न मुसलमान।" तो महाराज, जब उसने यह
तो मैंने पानी लिया ही नही। दो, चार स्टेशनो त
प्यासा ही रहा। आखिर कब तक प्यासा रहता ? जब
रहा गया तो अन्तत वह पानी पीना ही पडा।

मैंने उन सज्जन से पूछा—अब क्या करेंगे ?

वे बोले—गङ्गाजी जाएंगे और स्नान करके
हो जाएंगे।

मैंने कहा—गङ्गाजी जाने से क्या होगा ? वह प
तो अन्दर चला गया और पेशाब के द्वारा बाहर भी नि
गया और आपकी मान्यता के अनुसार तो सस्क
चिपक ही गये हैं। फिर आप क्या करेंगे ? और भ
इस जमीन पर चलना कब छोडेगे, क्योकि इसी
शूद्र भी चला करते हैं ? शूद्रो की चली जमीन पर च
से भी तो बुरे सस्कार चिपक जाते हैं न ?

जब उन्हे विचार आया तो गम्भीर भाव से बोले-
क्या वे पुरानी परम्पराएं गलत थी ? मैंने कहा—
ऐसी परम्पराएं निस्सन्देह गलत और निराधार हैं।

अपनी गलतियो को, चाहे वे एक हो या हजार
सब के सामने हम स्पष्टत. स्वीकार करेंगे। दुर्भाग्यव

साधुओं में भी यह मानसिक दुर्बलता है जो उन्हें आगे नहीं बढ़ने देती। गृहस्थों को मतभेद और सूत्रें उन्हें भी तंग कर रही हैं। इस तरह समाज विभिन्न टुकड़ों में बंट जाता है और *परिणाम यह होता है कि हम अनेक बार* धर्म-स्नेहियों का भी यथोचित आदर नहीं कर पाते। कई धर्म हो जाते हैं, वे मांस और शराब को हाथ तक नहीं लगाते। हमारे प्रत्येक धार्मिक आयोजन में भी शामिल होते हैं, फिर भी उनके साथ हमारा कोई सम्बन्ध नहीं होता। यहाँ तक कि पानी और रोटी का भी सम्बन्ध नहीं होता। फिर भी हम जैन धर्म के विश्वास होने का दावा करते हैं और गर्व के साथ कहते हैं कि नरक में स्वर्ग में और तिर्यञ्च योनि में भी सम्यक्त्वी भाई हैं, जो जिन-धर्म का पालन कर रहे हैं।

एक ओर तो हमारा यह सांस्कृतिक सौहार्द एवं व्यापक दृष्टिकोण है और दूसरी ओर हमारा यह संकीर्ण मनोभाव और क्षुद्र व्यवहार है। क्या दोनों में अंशमात्र भी *सामंजस्य है? नरक और स्वर्ग के* **धर्मात्माओं की स्वधर्मी** भाइयों की बातें करने वाले अपनी ही बगल में बैठे इन्सान को जोकि धर्माराधन कर रहा है अपनाने में ही हिचक जाते हैं। अरे उसको तो स्वधर्मी बन्धु के रूप में गले लगाना चाहिए। यदि आपके हृदय में उसके प्रति अंशमात्र भी प्रेम नहीं जागा अपितु उसे दुरदुराते हो रहे तो समझना चाहिए कि आपके हृदय में अभी तक धर्म के प्रति सच्चा प्रेम जागृत नहीं हुआ है। जो धर्म से प्रेम करता है वही

सच्चा धर्मनिष्ठ है और वह धर्मात्माओं से प्रेम किये बिना कभी नही रह सकता।

इस प्रसग पर मुझे बुद्ध के एक शिष्य 'आनन्द' की बात याद आती है। 'आनन्द' किसी गाँव मे गए तो उन्हे प्यास लग आई। उन्होने देखा कि एक बालिका कुँए पर पानी भर रही है। वे उसके पास पहुँचे और बोले—"बहिन, पानी पिला दो।"

बालिका ने कहा—मैं चाण्डाल की कन्या हूँ।
उस बालिका के इस स्पष्ट कथन के उत्तर मे आनन्द ने बहुत ही सुन्दर बात कही है। इतनी सुन्दर और आदर्शयुक्त कि २५०० वर्षों मे फिर कभी वैसी बात सुनने को नहीं मिली। 'आनन्द' ने अपने स्वाभाविक सहज भाव से कहा—"बहिन, मैंने जात तो नहीं माँगी। केवल पानी माँगा है। मुझे तुम्हारी जात नही पीना है, पानी पीना है।" आनन्द के इस आदर्शपूर्ण स्पष्टीकरण से शूद्र बालिका का जाति-सकोच विलीन हो गया और उसने पानी पिला दिया।

आनन्द ने आनन्द पूर्वक पानी पिया। शूद्र बालिका सोचने लगी—भारतवर्ष मे क्या अब भी ऐसे व्यक्ति मौजूद हैं जो जाति नही, पानी पूछते हैं। और तब उस बालिका ने साहस के साथ पूछा 'क्या भूतल पर कोई ऐसी जगह भी है, जहाँ हम भी दूसरो की भाँति बैठकर अपना जीवन प्रशस्त कर सकें?'

आनन्द ने कहा—क्यो नही? सम्पूर्ण भूमडल पर प्रत्येक जाति और वर्ण का समान अधिकार है। जहाँ

एक ब्राह्मण जा सकता है वहाँ तुम भी पहुँच सकते हो। बुद्ध के समवसरण मे जितना आदर एक ब्राह्मण को मिलता है उतना ही चाण्डाल को भी मिलेगा।

अन्त में चाण्डाल कन्या बुद्ध की शरण में जाती है और साध्वी बन जाती है।

जब ऐसी भावभरी बातें आती हैं तो निस्सन्देह हृदय गद्‌गद हो जाता है। हम अपने जन-संघ की गौरव-गाथाएँ भी सुनते हैं और जानते हैं कि उसने भी कितना उदार एवं व्यापक दृष्टिकोण अपनाया था। महात्मा हरिकेशबल और मुनिवर मेतार्य की कथाएं जैन धर्म और जैन-संघ की प्रति महान् उज्ज्वल कथाएँ हैं जो हमें आज भी प्रकाश दे रही है। किन्तु दुर्भाग्य से हमने अपनी आँखें मूंद लीं है और कूपमण्डूक की भांति हम अन्धकार में ही अपना कल्याण खोज रहे हैं। हमने अहिंसा के व्यापक स्वरूप की ओर कभी नजर नहीं डाली। जिसका दुःखद परिणाम यह हुआ कि हम सामाजिक हिंसा से आज भी हम चिपके हुए है। समय और परिस्थितियों के परिवर्तन ने अब हमारे सामने गहराई से सोचने और समझने का सुअवसर प्रदान किया है। जिसका सदुपयोग इस रूप मे करना है कि हम सत्य के दिव्य प्रकाश मे प्रचलित सामाजिक परम्पराओं को देखें उनकी छान-परीक्षा करें और उन के अभिशाप सामाजिक हिंसा से बचने की भरसक चेष्टा करें।

—: २ :—

जातिवाद का भूत

यह पहले ही बतलाया जा चुका है कि जीवन मे हिंसा का रूप एक नही है। वह सामाजिक, राष्ट्रीय, धार्मिक तथा अन्य क्षेत्रो मे विभिन्न रूपो मे चल रही है। अतएव जहाँ कही और जिस किसी भी रूप मे हिंसा हो रही है, उसे वहाँ उसी रूप मे समझने की आवश्यकता है। इसके बिना अहिंसा के राज-मार्ग पर ठीक तरह नही चला जा सकता। अपने बौद्धिक विश्लेषण के द्वारा जो अन्धकार को अन्धकार समझ लेते हैं और साथ ही यह भी जान लेते हैं कि यह अन्धकार जीवन को प्रगति की प्रेरणा देने वाला नही है, वही प्रकाश मे आने का प्रयत्न कर सकते है और फिर अपनी जीवन-यात्रा अच्छी तरह तय भी कर सकते हैं। जहाँ अन्धकार है वहाँ भाँति-भाँति की गडबडी पैदा होती रहती हैं। घर मे चोरो के घुस आने पर घर वाले लडने को तो तैयार होते हैं चोरो से, किन्तु लाठियाँ बरसाने लगते हैं अपने ही घर वालो पर। अन्धकार

में अपने-पराये का कोई भेद मालूम नहीं देता। इस प्रकार के अंधकार को जीवन न मानकर मृत्यु का चिह्न समझना चाहिए। सफल जीवन के लिए तो दिव्य-प्रकाश ही चाहिए।

हिंसा भी एक प्रकार का अंधकार है और आज वह जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में फैला हुआ है। किन्तु यह निश्चित है कि जब तक वह जीवन को किसी भी रूप में स्पर्श किए हुए रहेगा तब तक जीवन का सही मार्ग नहीं मिलेगा। अतएव यदि प्रकाश में प्रवेश करना है तो इसके लिए अंधकार का भी समुचित ज्ञान प्राप्त करना होगा। जब तक हम हिंसा के अंधकार को भली-भाँति न समझ लें तब तक अहिंसा के प्रकाश की उज्ज्वल किरणें हमें प्राप्त नहीं हो सकतीं।

पिछले प्रवचन में मैंने सामाजिक हिंसा का विवेचन करते हुए बतलाया था कि मनुष्य जाति एक है और वह प्राणि-संसार की सर्वश्रेष्ठ जाति है। मनुष्य का जीवन बहुत बड़े सौभाग्य से प्राप्त होने वाली एक बहुमूल्य निधि है। जैन-शास्त्र और दूसरे शास्त्र भी यही कहते हैं कि देवता बनना आसान है किन्तु मनुष्य बनना कठिन है। चौरासी लाख जीव-योनियों में भटकते हुए बड़ी कठिनाई से मनुष्य का चोला मिलता है। इन्सान की ऊँचाई, वस्तुतः बहुत बड़ी ऊँचाई है।

ज्यों ही मानव-जीवन की महत्ता का विचार हमारे मन में आता है त्यों ही एक अति महत्त्वपूर्ण प्रश्न सामने उपस्थित हो जाता है। प्रश्न यह है कि—मनुष्य का मनुष्य के प्रति कैसा व्यवहार होना चाहिए? मनुष्य यदि मनुष्यता का मूल्य

समझता है तो उसे दूसरे मनुष्यों के साथ कैसा व्यवहार करना चाहिए ?

इन्सान का चोला मिल जाने पर भी इन्सान को यदि इन्सान की आत्मा नहीं मिली, हाथ-पैर आदि अवयव इन्सान के मिल गए, किन्तु यदि भीतर हैवानियत ही भरी रही तो यह बाहर का मानवीय चोला किस काम का ? घृणा, द्वेष, अहंकार—ये सब पशुता की भावनाएँ हैं, मनुष्यता की नहीं। मनुष्य के चोले में भी यदि ये सब भावनाएँ भरी हैं, तो समझ लेना चाहिए कि वहाँ वास्तविक मनुष्यता नहीं आ पाई है।

अखण्ड मानव-जाति पहले-पहल उद्योग-धंधों की भिन्नता के कारण अनेक टुकड़ों में विभक्त हुई। कहना तो यह चाहिए कि मनुष्य जाति की सुविधा के लिए ही उद्योग अलग-अलग रूपों में बाँटे गये थे और अलग-अलग पेशा करते हुए भी मनुष्य-मनुष्य में कोई भेद नहीं था। किन्तु जब अहंकार और द्वेष की भावनाएँ तीव्र हुईं तो धंधों के आधार पर बने हुए विभिन्न वर्गों में ऊँच-नीच की भावना अंकुरित होने लगी। फिर वह फूली और फली। उसके जहरीले फल सर्वत्र फैले और उन्होंने मानव-जाति की महत्ता और पवित्रता को नष्ट कर दिया। मनुष्य समझ बैठे कि अमुक धंधा करने वाला वर्ग ऊँचा है और अमुक धंधा करने वाला वर्ग नीचा।

क्या वह भेदभाव यहीं खत्म हो गया ? नहीं, वह बढ़ता ही चला गया और एक दिन उसने बहुत विचित्र एवं विकृत रूप ग्रहण कर लिया। धीरे-धीरे धंधों की बात उड़ गई और

जन्म से ही उच्चता और नीचता पवित्रता और अपवित्रता की बात जोड़ दी गई।

जब तक धंधे का प्रश्न था समस्या विकट नहीं थी और भेद-भाव भी स्थायी नहीं था क्योंकि मनुष्य इच्छा होते ही अपना धंधा बदल भी सकता था। किन्तु जन्म कैसे बदले? परिणाम यह हुआ कि मनुष्य-मनुष्य के बीच भेद पैदा करने वाली फौलादी दीवारें खड़ी कर दी गई और मानव परिवार का संघटन छिन्न भिन्न हो गया। निस्सन्देह उसी विघटन का यह दु:खद परिणाम है कि आज 'शान्ति' और प्रेम' के स्थान पर 'अशान्ति' एवं 'घृणा' का साम्राज्य है।

हमारे सामने आज यह कठिन प्रश्न उपस्थित है कि इस सम्बन्ध मे जैन-धर्म क्या प्रकाश देता है? वह जन्म' से पवित्रता मानता है या 'कर्म' से? किसी ने ब्राह्मण क्षत्रिय या वैश्य के कुल में जन्म से लिया तो क्या वह जन्म लेने मात्र से ब्राह्मण क्षत्रिय या वैश्य हो गया? और क्या जन्म मात्र से उसमे श्रेष्ठत्व आ गया? अथवा ब्राह्मण आदि बनने के लिए और तदनुरूप उच्चता प्राप्त करने के लिए क्या कुछ कर्तव्य-विशेष भी करना आवश्यक है?

इन्सान जन्म से क्या लेकर आया है? वह हड्डी और मांस का ढेर ही साथ में लाया है! क्या किसी की हड्डियों पर 'ब्राह्मणत्व' की किसी के मांस पर 'क्षत्रियत्व' की या किसी के चेहरे पर 'वैश्यत्व' की मोहर लगी आई है? या ब्राह्मण किसी और रूप में और दूसरे वर्ण किसी और रूप में आए हैं?

आखिर, शरीर तो शरीर ही है। वह जड पुद्गलो का पिण्ड है। उसमे जाति-पांति का किसी भी प्रकार का कोई नैसर्गिक भेद नही है। यह मृत्-पिण्ड तो आत्मा को रहने के लिए मिल गया है और कुछ समय के लिए आत्मा रहने के लिए उसमें आ गया है। वस्तुत यह अपने आप मे पवित्र या अपवित्र नही है। पवित्रता और अपवित्रता का आधार आचरण की शुद्धता या अशुद्धता है। आचरण ज्यो-ज्यो पवित्र होता जाता है, त्यो-त्यो शुद्धता भी बढती जाती है। इसके विपरीत अपवित्रता के आचरण से अशुद्धि भी बढती जाती है।

यह आवाज, आज की नई आवाज नही है। भारत मे जब जन्मगत उच्चता और नीचता की भावनाएँ घर किये बैठी थी, तब भी विचारक लोग प्राय यही कहते थे और तब से आज तक भी वे यही कहते आ रहे हैं। निस्सन्देह उस आचरणमूलक उच्चत्व की प्रेरणा का ही तो यह फल प्रकट हुआ कि इन्सान ने किसी भी उच्च या नीच जाति में जन्म लिया हो, किन्तु फिर भी उसने श्रेष्ठ होने और उच्चता प्राप्त करने के लिए भरसक प्रयत्न किया। उसने विचार किया कि मैं जन्म से उच्च नही बन गया हूँ। यदि मैं सत् प्रयत्न करूँगा, जीवन को सदाचार के पथ पर अग्रसर करूँगा, और अपनी प्राप्त सामग्री को अपने आप में ही समेट कर नही रखूँगा, बल्कि दूसरो के कल्याण मे भी उसका यथाशक्ति उपयोग करूँगा तो जीवन की पवित्रता को प्राप्त कर सकूँगा।

वह पवित्रता शुभ कर्म द्वारा ही प्राप्त होगी जन्म से नहीं। यह आवाज भारत की जनता के हृदय में निरन्तर गूंजती रही और भारतीय जन-समाज उस पवित्रता की ओर दौड़ भी लगाता रहा। जो ब्राह्मण के कुल में जन्मा था वह भी दौड़ा और जो क्षत्रिय-कुल में पैदा हुआ था वह भी दौड़ा। क्योंकि उसे मालूम था कि पवित्रता अकेले जन्म लेने से नहीं आएगी उसे तो उच्च कर्त्तव्यों द्वारा ही प्राप्त करना होगा। वह प्रयत्न से ही प्राप्त हो सकेगी अन्यथा नहीं।

आप इन्सान के रूप मे ही जन्मे है और मैंने भी इन्सान के रूप में ही जन्म लिया था। क्या आपका 'श्रावकपन' और मेरा 'साधुपन' शरीर के साथ ही आया था? नहीं शरीर उसे साथ में लादकर नहीं लाया। उसे तो आचरण और साधना के द्वारा यहाँ पर ही प्राप्त करना होता है।

इस प्रकार उस युग में कोई किसी भी धर्म का अनुयायी क्यों न रहा हो प्रायः सभी ने पुरुषार्थ की साधना के द्वारा ही अपेक्षित पवित्रता को प्राप्त करने का प्रयत्न किया और उसे पाने के लिए सदाचार के पथ पर निरन्तर दौड़ लगाते रहे। किन्तु दुर्भाग्य और परिस्थितियों के प्रकोप से विचार उलट गए और ऐसी विचित्र धारणा बन गई कि ब्राह्मण के यहाँ जन्म लेने मात्र से 'पवित्रता' प्राप्त हो गई और जैन कुल में जन्म लेने मात्र से ही जैनत्व' मिल गया। सोचिए जब इस प्रकार जन्म लेने मात्र से पवित्रता मिल जाने का विचार दृढ़ हो गया तो फिर नैतिक पवित्रता के लिए कौन प्रयत्न करता? और पवित्रता के लिए पुरुषार्थ

करने की आवश्यकता ही क्यो अनुभव की जानी चाहिए ? इस सम्बन्ध मे हमारे यहाँ कहा गया है —

"अर्के चेन्मधु विन्देत, किमर्थ पर्वत व्रजेत् ?"

पुराने समय मे शहद के लिए पर्वत पर टक्करे खानी पडती थी और बहुत कठिनाई से शहद प्राप्त किया जाता था। उस समय के एक आचार्य कहते है कि यदि गाँव के बाहर खडे हुए अकौवा (आकडे) के पौधे की टहनियो पर ही शहद का छत्ता मिल जाए तो नदी नालो को कौन लाँघे ? पर्वतो पर जाकर कौन टक्करे खाए ?

मनुष्य का स्वभाव है कि पुरुपार्थ के बिना ही यदि इच्छित वस्तु मिल सकती हो तो फिर कोई पुरुपार्थ क्यो करेगा ? यह एक लोक स्वभाव के सिद्धान्त की बात है। हम साधु भी जब अनजान गाँवो मे गोचरी के लिए जाते हैं, तब यदि सीधे रूप मे अनायास ही कुछ घरो से गोचरी मिल जाय और गोचरी के लिए कदम बढाते ही 'पधारिये महाराज' कहने वाले खडे मिल जायँ तो व्यर्थ ही दूर-दूर के गली-कूचो मे चक्कर क्यो लगाते फिरेंगे ? जगह-जगह भटक कर अलख क्यो जगाएँगे ? कथन का अभिप्राय यही है कि जब सहज रूप से, गम्भीर पुरुपार्थ किये बिना ही साधु-मर्यादा मे इच्छित वस्तु मिल जानी है तो व्यर्थ ही दूर नही जाने वाले है। जिस वस्तु को प्राप्त करने के लिए इतना पुरुपार्थ करना पडे कि सारा जीवन ही उसके लिए खर्च कर देना आवश्यक हो, किन्तु वही चीज जब बिना पुरुपार्थ के ही प्राप्त हो जाय तो किसे पागल कुत्ते ने काटा है जो

उसके लिए दूर-दूर भटकता फिरे कठिनाइयाँ झेलता रहे और साधना की मुसीबत उठाए ?

इस मानव-स्वभाव के अनुसार जब से हमने पवित्रता का सम्बन्ध जन्म के साथ जोड़ दिया तभी से मानवीय सद्गुणों की ऊँचाई प्राप्त करने के सभी प्रयत्नों में शिथिलता आई। यहीं से जनता का नैतिक पतन आरम्भ हुआ। तभी से मनुष्य इतना गिरा कि ऊँचा उठ ही नहीं सका।

वैदिक धर्म में एक कहानी आती है। एक वेश्या थी जिसकी कोई जात-पांत नहीं होती। वह संसार की उलझनों में उलझी हुई थी। उसने एक तोता खरीद लिया और उसे 'राम राम' रटाना शुरू किया। केवल इसलिए कि आने वालों का मनोरंजन हो। इस सम्बन्ध में पुराणकार कहते हैं—जब वह वेश्या मरी तो यम के दूत भी उसे लेने आए और विष्णु के दूत भी। यम के दूत तो नरक का यह परवाना लेकर आए थे कि इसने दुनिया भर के पाप किए हैं और अपनी तथा दूसरों की तरुणाई को नरक की नाली में डाला है इस कारण इसे नरक में ले जाना है।

परन्तु विष्णु के दूत उसे स्वर्ग में ले जाने का परवाना लेकर आए थे। वे उसे स्वर्ग में इसलिए ले जाना चाहते थे कि वह प्रभु की भक्त है। वह तोते का 'राम राम' रटाती रही है अतः उसकी सीट स्वर्ग में रिजर्व हो चुकी है।

इस प्रश्न को लेकर दोनों तरफ के दूतों में संघर्ष हो गया। यम के दूतों ने कहा—तुम करते क्या हो ? पागल तो नहीं हो गए ? अरे यह तो वेश्या है दुराचारिणी है! भला

इसको स्वर्ग में कौन बुला सकता है ?

विष्णु के दूत कहने लगे—इस वेश्या ने जो अनगिनत 'राम-राम' बोला है, क्या वह सब व्यर्थ हो जाएगा ? राम के भक्तों के लिए तो स्वर्ग में स्थान निश्चित है, नरक कदापि नहीं। भगवान् विष्णु इसे स्वर्ग में बुला रहे हैं।

यमदूत बोले—तुम बड़े नादान मालूम होते हो ! इसने 'राम-राम' कहाँ जपा है ? यह तो सिर्फ तोते को ही रटाती रही है और वह भी इसलिए कि इसका अनैतिक व्यवसाय सफलता के साथ चलता रहे ! यदि तुम इतने सस्ते भाव में आदमी को स्वर्ग में ले जाओगे तो स्वर्ग को भी नरक बना डालोगे।

आखिर, यम के दूतों और विष्णु के दूतों में संघर्ष छिड़ गया। किन्तु विष्णु के दूत बलवान् थे, अतः उन्होंने यम-दूतों को भगा दिया और वेश्या को स्वर्ग में ले गए। इस कथानक की पुष्टि में कहा भी गया है —

"सुआ पढावत गरिणका तारी।"

इसी तरह किसी तीर्थ में पहुँचने मात्र से यदि स्वर्ग मिल जाए तो फिर कोई कर्त्तव्य क्यो करे ? मुँह से भगवान् का जरा नाम ले लिया और स्वर्ग मे सीट रिजर्व हो गई ! बस, छुट्टी पाई, कैसा सीधा और सस्ता उपाय है। धर्म और स्वर्ग जब इतने सस्ते हो गए हो, तब कौन उनके लिए बड़ा मूल्य चुकाए ? क्यो प्रबल पुरुषार्थ किया जाए ? साधना का संकट भी कौन झेले ?

मानव-समाज में यह जो भ्रमपूर्ण धारणा फैली हुई है,

उसी का यह परिणाम हुआ कि पवित्रता स्वयं नीचे गिर गई और पवित्रता के स्थान पर मनुष्यों के हृदय में अहंकार, द्वेष, घृणा आदि विकार पैदा हो गए। इसके लिए भगवान् महावीर स्पष्ट शब्दों में कहते हैं —

> भणन्ता अकरेन्ता य बन्ध-मोक्ख पइण्णिणो।
> वायावीरियमित्तेण समासासेन्ति अप्पयं॥
> न चित्ता तायए भासा कुओ विज्जाणुसासणं।
> विसण्णा पाव कम्मेहिं बाला पंडियमाणिणो॥
>
> — उत्तराध्ययन ६. १०, ११

अर्थात्— तुम जो संस्कृत भाषा और प्राकृत-भाषा आदि के मनचाहे फव्वारे अपने मुख से छोड़ रहे हो और यह समझ भी रहे हो कि इनका पाठ कर लेने मात्र से ही मोक्ष मिल जायगा, वस्तुतः यह एक भ्रान्ति के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। सारे संसार की नाना प्रकार की विद्याएँ और भाषाएँ सीख लेने पर भी तुम्हारा परित्राण नहीं हो सकता। यदि तुम कल्याण चाहते हो और निर्वाण पाने की उत्कट अभिलाषा भी रखते हो तो तुम्हें सदाचरण करना पड़ेगा। एक उदाहरण देखिए—

कोई बीमार किसी वैद्य से एक नुस्खा लिखवा लाए, जिसमें उत्तम से उत्तम औषधियाँ लिखी हों और उसे सुबह शाम पढ़ लिया करे, तो क्या उसकी बीमारी दूर हो जाएगी? नहीं, नुस्खा पढ़ लेने मात्र से बीमारी दूर नहीं हो सकती। यदि कहीं ऐसा पाया जाए तब तो यह भी माना जा सकता है कि शास्त्रों के पाठ रट लेने और उनसे

देने से ही पवित्रता प्राप्त हो जाएगी। किन्तु ऐसा होना कभी सम्भव नही है, और न होगा ही। एक साधक ने कहा है—

कायेनव पठिष्यामि वाक्पाठेन तु कि भवेत् ?
चिकित्सापाठमात्रेण, न हि रोग शम व्रजेत् ॥
—बोधिचर्यावतार

अर्थात्—जो भी शास्त्र मुझे पढना है, उसे मै जीवन से पढूंगा, केवल जीभ से ही नही पढूगा। भला, जिह्वा के उच्चारण मात्र से क्या होने वाला है ? आयुर्वेद की पुस्तको के रट लेने और चरक तथा सुश्रुत को सीख लेने मात्र से कोई नीरोग नही हुआ है। हजार वर्ष तक रटते रहिए तब भी उससे साधारण-सा बुखार और जरा-सा सिर-दर्द भी दूर नही होगा, उल्टा शरीर गलता जायगा और सडता जायगा।

जैसे इस बात को हम सभी भली-भाँति समझते है कि आयुर्वेद को कठस्थ कर लेने मात्र से रोग दूर नही होता। यही बात ससार के धर्म-शास्त्रो के सम्बन्ध मे भी समझनी चाहिए। जितने भी धर्म-शास्त्र हैं, सब हमारी चिकित्सा करने के लिए ही हैं। जिस प्रकार आयुर्वेद से शरीर की चिकित्सा-विधि जानी जाती है, उसी प्रकार धर्म-शास्त्र से मन और आत्मा की चिकित्सा होती है। हमारे भीतर जमी हुई वासना और विकार ही मन और आत्मा की बीमारी हैं। किसी को क्रोध की, किसी को मान की, किसी को माया की, और किसी को लोभ की विभिन्न बीमारियाँ सता रही हैं। किसी भी धर्म-शास्त्र को ले

लीजिये उसमें इन सभी बीमारियों की चिकित्सा का समुचित विधान है परन्तु उन शास्त्रों को पढ़ लेने मात्र से कुछ भी हाथ लगने वाला नहीं है। शास्त्रों को व्यावहारिक जीवन में उतारने से ही लाभ हो सकता है। हरिश्चन्द्र की कहानी पढ़ने या सुनने मात्र से सत्यवादी नहीं बना जा सकता किन्तु हरिश्चन्द्र के सत्याचरण का अनुसरण करने से ही सत्यवादी बन सकेंगे।

आपने सुदर्शन की कथा तो सुनी होगी? भला उसने अपने जीवन की पवित्रता के लिए क्या नहीं किया? सती सीता और सती मदनरेखा ने कितनी आपत्तियां सहन की? फिर भी वे सही रास्ते को पकड़े रहे और उसी रास्ते पर दृढ़ता के साथ कदम बढ़ाते गए। इसीलिए वे इतिहास के पृष्ठों में आज भी अमर हैं।

अभिप्राय यह है कि जीवन की उच्चता और पवित्रता की मंजिल पर जो भी पहुँच चुके हैं और जिनकी स्तुति तथा आराधना करके हम अपने आपको आज भाग्यशाली समझते हैं वे केवल पुरुषार्थ के द्वारा ही महान् बने थे। बड़ी-बड़ी साधनाओं के बल पर ही उन्होंने सफलता पाई थी। वे अहिंसा और सत्य के आदर्श आचरण के द्वारा ही महत्ता पुरुता उच्चता और पवित्रता को प्राप्त कर सके थे। जन्म से किसी को पवित्रता और उच्चता प्राप्त नहीं हुई, और हो भी कैसे सकती है? साधना के सिवाय महत्ता प्राप्त करने का और कोई मार्ग नहीं है।

जो लोग अमुक कुल में जन्म लेने मात्र से पवित्रता

प्राप्ति क भ्रम म है, वे अपन आपको और दूसरो को भी धोखे म रखते है। जो धन को ही उच्चता प्राप्त करने का साधन मानते है, वे भी गलत मार्ग पर चल रहे है। इन गलत विचारो का नतीजा यह हुआ है कि समाज मे से उच्च चारित्र का प्राय लोप-सा हो गया और जन-जीवन से सदाचार और सत्य के चिन्ह भी धूमिल हो गए है। आज एक ही व्यापक मनोवृत्ति सर्वत्र दिखाई दे रही है और वह यह कि—यदि बडा बनना है तो खूब धन कमाओ, तिजोरियाँ और तहखाने भरो! जो जितनी बडी धन-राशि का स्वामी होगा, उतना ही बडा माना जायगा!! इस तरह परमात्मा की उपासना का तो केवल नाम रह गया और सर्वत्र धन की उपासना होने लगी। चाहे न्याय से मिले या अन्याय से, किसी की जेब काटने से मिले या गला घोटने से, बस, धन मिलना चाहिये। यदि वह मिल गया तो बडप्पन मिल गया। समाज मे और बिरादरी मे सम्मान बढ़ गया और ऊँचा आसन भी प्राप्त हो गया। इस प्रकार धन ने आज भगवान् का आसन छीन लिया है और पूँजी ने प्रभु का रूप धारण कर लिया है। वस्तुत भगवान् का नाम लेकर लोग धन की ही उपासना मे लीन हो रहे हैं।

औरो की बात जाने भी दीजिए, अपने समाज की शिक्षा सस्थाओ की तरफ ही दृष्टि डालिए। समाज मे जो गुरुकुल, विद्यापीठ, विद्यालय या विश्वविद्यालय चल रहे हैं, उनका मुख्य उद्देश्य विद्या-प्रसार के द्वारा अविद्या का उन्मूलन करना है, जिससे कि मानव-समाज सभी प्रकार के दुराचार-

अन्य सामाजिक अपवादों से सर्वथा मुक्त होकर मनुष्यत्व की अभिवृद्धि व्यक्तित्व का विकास तथा चारित्र का निर्माण कर सके। सद्-शिक्षा के द्वारा जब मनुष्य तथाकथित सद्गुणों का समुचित संग्रह कर लेता है, तब उसकी अन्तः प्रेरणा धार्मिक अनुष्ठान की ओर स्वतः प्रेरित हो जाती है। परन्तु उनके प्रबन्ध-अधिकारी भी धन की पूजा से ऊँचे नहीं उठ पाते। जब कभी इन शिक्षा-संस्थाओं में कोई उत्सव या समारोह होता है तो सर्वप्रथम पूँजीपतियों की तरफ ही अधिकारी वर्ग की याचक-दृष्टि दौड़ती है। सभापति बनाने में शिक्षा-ज्ञान को कोई मापदण्ड नहीं बनाएगा। यह जानने की कोई परवाह भी नहीं करेगा कि वह जनता को क्या देने चला है या सिर्फ धन की ही माल लेकर खड़ा है! बड़प्पन की नाप-तौल का आज एकमात्र मापक धन रह गया है। जिसके पास ज्यादा धन है वही ज्यादा बड़ा है। हजार बार प्रयत्न करके शिक्षा-संस्थाओं के अधिकारी उसी धनिक के पास जाएँगे उसे ही सभापति बनाएँगे। उसके आचरण के सम्बन्ध में कुछ मालूम ही नहीं करेंगे और यहाँ तक कि उसके सम्पूर्ण दुराचरणों पर पर्दा डाल देंगे उसके समस्त दुर्गुणों का फूलों के ढेर से ढँक देने की भरसक कोशिश करेंगे।

परन्तु दुर्गुणों की दुर्गन्ध क्या कभी प्रशंसा के फूलों की सुगन्ध से पवित्र हो सकती है? ऐसा सोचना भी जड़-बुद्धि का परिचायक है। गहराई से विचार कीजिए कि एक जगह मैला पड़ा है। किसी ने उसे फूलों से ढँक दिया है। थोड़ी-सी देर के लिए दुर्गन्ध भले ही छिप गई है किन्तु आखिर तक

नही छिपी रहेगी और वह गन्दगी फलो को भी गन्दा करके ही रहेगी । सदाचार-विहीन व्यक्ति के विषय मे भी यही वात है । फिर जो व्यक्ति दुराचारी है ही, उसे केवल धन की वदौलत सम्मान देकर और उसके अभिनन्दन मे मानपत्र भेट करके आप भले ही सातवे आसमान पर चढा द किन्तु इससे वह अपनी या समाज की भलाई नही कर सकेगा । वह उस सम्मान को पाकर अपने दुर्गुणो के प्रति अरुचि और असन्तोप अनुभव नही करेगा, अपने दोपो को घृणा की दृष्टि से नहीं देखेगा, उनके परित्याग के लिए भी तत्पर नही होगा, अपितु अपने दोपो के प्रति उत्तरोत्तर सहनशील ही वनता जाएगा । इस प्रकार यदि उसके दोपो को और आचरण हीनता को प्रकारान्तर से प्रतिष्ठा मिलेगी तो समाज मे वे दोष घर कर जाएँगे ।

कथन का आशय यही है कि आज समाज मे व्यक्तित्व को नापने का मापक 'पैसा' वन गया है । जिसके पास जितना अधिक 'पैसा' है, वह उतना ही वडा आदमी है । साधारण आदमी, जिसके पास पैसा नही है, किन्तु जीवन की अपेक्षित पवित्रता है, अच्छे विचार हैं और विवेक-बुद्धि है, क्या उसे कभी कुर्सी पर वैठे देखा है ? सभापति वनते देखा है ? समाज मे आदर पाते देखा है ? यह वात रहस्यपूर्ण इसलिए है कि समाज मे 'धन' की कसौटी पर ही वडप्पन को परखा जाता है और सदाचारी निर्धन की कोई पूछ नही होती ।

मैंने तो अनेक वार देखा है और आए दिन इस तरह की अशोभनीय घटनाएँ हर कोई भी देख सकता है । एक

व्यक्ति के घर में सुन्दर और सुलक्षणी पत्नी मौजूद है सारी व्यवस्था है और गृहस्थी की गाड़ी भी ठीक-ठीक चल रही है किन्तु उसने किसी तरह पैसा कमा लिया तो तुरन्त दूसरा विवाह कर लिया। समाज में कुछ हलचल हुई तो किसी सभा या समिति को दस-बीस हजार रुपया फेंककर सभापति बन गये। बस सारी काली करतूतों पर कलदार (धन) की सफेद कलई पुत गई और समस्त दुष्कृत छिप गए। समाज के वायुमण्डल में जितनी हवाएं उसके प्रतिकूल चल रही थी सब अनुकूल दिशा में बहने लगीं और उसे वही पहले-सा आदर सम्मान मिलने लगा। उसकी पहली पत्नी अपनी भाग्य की दशा पर कोने में बैठी किस तरह आंसू पोंछ रही है और उसकी क्या व्यवस्था चल रही है। उधर दूसरी पत्नी क्या-क्या गुल खिला रही है इन सब बातों को अब कोई नहीं पूछता।

तो अभिप्राय यही है कि आज मनुष्य के सामने उच्चता को नापने का मापक केवल धन रह गया है। जिसने धन कमा लिया वही श्रेष्ठ बन गया। धन यदि न्याय से प्राप्त किया जा सकता है तो अन्याय से भी प्राप्त किया जाता है। पर, क्या सद्‌बुद्धि और सदाचार भी कभी अन्याय से प्राप्त किया जा सकता है? इन्हें प्राप्त करने का एक ही मार्ग है और वह है कांटों का मार्ग। जो अपने जीवन का जितना-जितना इस कठिन मार्ग पर बढ़ाता जायगा वह उतना ही ऊंचा उठता जायगा। सत्य और सदाचार की राह पर चलने वालों को फूलों की सेज मिलेगी और उन्हें अपना सारा जीवन कांटों का मार्ग तय करने में ही गुजारना पड़ेगा।

आमतौर से जब कोई अपरिचित व्यक्ति सामने आता है तो यह प्रश्न किया जाता है—कौन है आप ? वह शान्त हो उत्तर देता है—ब्राह्मण हूँ, या क्षत्रिय हूँ, या वैश्य हूँ, या अग्रवाल अथवा ओसवाल हूँ। परन्तु मैं यह पूँछता हूँ कि तुम जो अपने को ब्राह्मण आदि कहते हो तो यह ब्राह्मण-पन आदि क्या आपकी आत्मा के साथ अनादिकाल से चला आ रहा है ? क्या यह क्रम अनन्त-काल तक इसी तरह चलता जायगा ? और जब मोक्ष प्राप्त होगा तो जाति की इन गठरियों को क्या वहाँ भी सिर पर लाद कर ले जायेंगे ?

यद्यपि वैदिक धर्म जाति-पाति का प्रमुख समर्थक समझा जाता है, पर वहाँ भी हमे ऐसे उदात्त विचार प्रचुर मात्रा मे मिलते हैं जिनमे जाति या वर्ण की निस्सारता प्रकट की गई है। गुरु और शिष्य का एक छोटा-सा सवाद वहाँ आता है।

ससार-सागर से पार जाने की इच्छा रखने वाला कोई मुमुक्षु शिष्य किसी गुरु के पास जाता है। गुरु उससे पूछते हैं—सौम्य, तुम कौन हो ? और क्या चाहते हो ?

शिष्य—मैं ब्राह्मण का पुत्र हूँ। अमुक वश मे मेरा जन्म हुआ है। मैं ससार-सागर से तिरना चाहता हूँ।

गुरु—वत्स, तुम्हारा शरीर तो यही भस्म हो जायगा, फिर ससार-सागर से किस प्रकार तिरोगे ? नदी के इसी किनारे पर जो भस्मीभूत हो गया हो, फिर वह तिरकर उस किनारे पर कैसे पहुँच सकता है ?

गुरु के इस प्रकार कहने पर शिष्य का ध्यान आत्मा

की ओर उन्मुख हुआ। उसने कहा—देव मैं असंग हूँ और शरीर असंग है। मृत्यु आने पर शरीर ही भस्म होता है। मैं अर्थात्—आत्मा नहीं क्योंकि वह तो नित्य है। वह भस्म नहीं होगा। केवल शरीर ही जन्मता है मरता है और वह मिट्टी भी बन जाता है। शस्त्र उसे छेद सकते हैं अग्नि उसे जला सकती है पर आत्मा तो सनातन है। जिस प्रकार पक्षी घोंसले में रहता है उसी प्रकार मैं (आत्मा) भी इस शरीर में रहता हूँ। जैसे पक्षी एक घोंसला छोड़कर दूसरे घोंसले में रहने लगता है मैं भी एक शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर में प्रवेश करता हूँ। केवल शरीर ही आते और जाते रहते हैं किन्तु मैं (आत्मा) ज्यों का त्यों अविचल रहता हूँ।

इस प्रकार शिष्य ने जब शरीर और आत्मा का स्पष्ट भेद समझ लिया तो गुरु कहते हैं—वत्स तुम ठीक कहते हो। तुम शरीर नहीं वस्तुतः आत्मा हो। तुम घोंसला नहीं वास्तव में पक्षी हो। फिर तुमने पहले मिथ्या भाषण क्यों किया था कि मैं ब्राह्मण हूँ और अमुक वंश में मेरा जन्म हुआ है ?

अन्त में शिष्य भली-भाँति समझ जाता है कि—'मैं ब्राह्मण हूँ'—यह विचार गलत है और जब तक जाति का अभिमान बना रहेगा तब तक आत्मा संसार-सागर से नहीं तिर सकता।

हमारे यहाँ भी जाति और कुल के मद को त्याज्य बतलाया गया है और जब तक इनका मद दूर नहीं होता

तब तक साधक की दृष्टि सम्यक् नहीं हो सकती। परन्तु इस तथ्य को साधारण जनता कब समझती है?

कहा जा सकता है कि जैन-धर्म अनेकान्तवादी धर्म है। वह जात-पात को भी मोक्ष का कारण मान सकता है। पर ऐसा कहना अनेकान्तवाद की मजाक बनाना है। क्या अनेकान्तवाद यह भी सिद्ध कर देगा कि आदमी के सिर पर सींग होते भी हैं और नहीं भी होते हैं? और मैं कहूँ कि नहीं होते तो क्या मुझे एकान्तवादी बताया जायगा? यदि कोई मुझसे यह प्रश्न करे कि साधु के लिए व्यभिचार करना अच्छा है या बुरा है? तो क्या आप यह चाहेंगे कि यहाँ भी मैं आपके अनेकान्तवाद का आश्रय लेकर कहूँ कि व्यभिचार करना अच्छा भी है और बुरा भी है? यदि कोई साधु पैसा रखता है और मैं कहता हूँ कि यह गलत चीज है तो क्या आप वहाँ भी अपने अनेकान्तवाद का प्रदर्शन करेंगे?

वास्तव में अनेकान्तवाद का सिद्धान्त 'सच' और 'झूठ' को एक रूप में स्वीकार कर लेना नहीं है। जिन महापुरुषों ने अनेकान्त की प्ररूपणा और प्रतिष्ठा की है, उनका आशय यह नहीं था। उन्होंने अनेकान्तवाद को भी अनेकान्तवाद कहकर इस प्रकार स्पष्ट कर दिया है कि हम 'सम्यक् अनेकान्त' को तो सहर्ष स्वीकार करते हैं, किन्तु मिथ्या 'अनेकान्त' को स्वीकार नहीं करते। इसी प्रकार 'सम्यक् एकान्त' को भी स्वीकार करते हैं, किन्तु 'मिथ्या एकान्त' को अस्वीकार करते हैं।

'अनेकान्तोऽप्यनेकान्तः प्रमाणनय-साधनः ।
अनेकान्तः प्रमाणात् ते तदेकान्तोऽर्पितान्नयात् ॥"

—आचार्य समन्तभद्र

आप प्रश्न कर सकते हैं कि यदि धर्म-धर्म में जाति और कुल का अपने आप में कोई महत्व नहीं है तो शास्त्र में "जाइसंपन्ने' और 'कुलसंपन्ने' पाठ क्यों आए हैं? इस प्रश्न पर हमें अपनी सूक्ष्म बुद्धि और विवेक शीलता के साथ विचार करना है।

जाइसंपन्ने' और कुलसंपन्ने का अर्थ यह है कि संस्कार और वातावरण से कोई 'जातिसंपन्न' और कुलसंपन्न' हो भी सकता है। कोई जाति ऐसी होती है जिसका वातावरण प्रारम्भ से ही ऐसा बना रहता है कि उस जाति में उत्पन्न होने वाला व्यक्ति मांस नहीं खाता और मदिरा-पान नहीं करता। ऐसी जाति में यदि कोई प्रगति तथा विकास करना चाहता है तो वह जल्दी आगे बढ़ सकता है क्योंकि उसे प्राथमिक तैयारी के उपयोगी साधन अपने समाज के वातावरण में ही मिल जाते हैं। फिर भी यह ध्यान रखना आवश्यक है कि ऐसे व्यक्ति का वह महत्व मांस न खाने और मदिरा न पीने के ही कारण है उस जाति में जन्म लेने से नहीं। कुछ व्यक्ति ऐसे भी मिल सकते हैं जो मांस-मदिरा का सेवन न करने वाली जाति में जन्म लेकर भी संगति-दोष से मांस-मदिरा का सेवन करने लगते हैं। उनके लिए जाति का प्रश्न कोई महत्व नहीं रखता है।

यह समझना निरी भूल है कि केवल वातावरण के द्वारा

ब्राह्मण का लडका विना पढे ही सस्कृत का ज्ञाता वन सकता है। हजारो ब्राह्मण ऐसे भी हैं जो पथ-भ्रष्ट होकर दर-दर भटक रहे हैं और प्रथम श्रेणी के वज्र-मूर्ख है। उनमे शूद्र के वरावर भी सस्कृति, सदाचार और ज्ञान नही हैं। इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि जातिगत वातावरण या सस्कार एक सीमा तक ही व्यक्ति के विकास मे सहायक होते है, किन्तु सर्वाङ्ग में नही।

वहुतेरे ओसवाल, अग्रवाल और जन्म के जैन अनुकूल वातावरण न मिलने के कारण गांव के गांव दूसरे धर्मों के अनुयायी हो गए। जव हम वहाँ पहुँचे तो मालूम हुआ कि तीस-तीस वर्ष हो गए, और जैन-धर्म का कोई उपदेशक वहाँ पहुँचा ही नही। उन्हे जैसा वातावरण मिला, विवश होकर वे वैसे ही वन गए। अव आप विचार कीजिए कि जब उनमे भी जाति के सस्कार आ रहे थे, फिर वे कहाँ भाग गए? वास्तव में उन्हे जातीय सस्कार तो मिले थे, किन्तु अनुकूल वातावरण न मिलने के कारण वे पथ-भ्रष्ट होने के लिए विवश हुए।

इसके विपरीत किसी भी जाति में मनुष्य का जन्म क्यो न हुआ हो, यदि वातावरण अनुकूल मिल जाए तो मनुष्य प्रगति कर लेता है। इस प्रकार जाति को कोई महत्व नही दिया जा सकता है, क्योंकि हड्डी, मांस और रक्त मे कोई फर्क नही है। वह तो प्रत्येक जाति मे एक समान ही होता है।

आइए, अब तनिक जैन-धर्म की बारीकी मे भी चलें।

जैन-धर्म के अनुसार दया अहिंसा या कोई दूसरे पवित्र गुण हड्डियों में रहते हैं या आत्मा में ? और एक जाति में जन्म लेने वाले सब आत्मा यदि एक-से सद्गुणों से सम्पन्न हैं तो उनमें भिन्नता क्यों दिखाई देती है ? पवित्र जाति में जन्म लेने वाले सब आत्मा पवित्र क्यों नहीं होते ? और जाति-भेद के कारण जिसे अपवित्र कहते हैं उस जाति में जन्म लेने वाले सभी व्यक्ति अपवित्र क्यों नहीं होते ? महात्मा हरिकेशी जाति से चाण्डाल थे। उन्हें अपने माता-पिता से कौन-से उत्तम संस्कार मिले थे ? क्या वे हड्डियों में पवित्रता लेकर जन्मे थे ? नहीं उनके जीवन का मोड़ चिन्तन मनन और सुन्दर वातावरण से हुआ जन्मगत जातीय संस्कारों से नहीं। वास्तव में मनुष्य वातावरण से बनता है और वातावरण से ही बिगड़ता भी है। मनुष्य के उत्थान और पतन के लिए यदि किसी को महत्त्व दिया जा सकता है तो वह वातावरण' ही है। जातिगत जन्म के आधार पर पवित्रता या अपवित्रता मानना बहुत बड़ी भूल है।

जैन-धर्म की परम्परा में हम देखते हैं कि शूद्र भी साधु बन सकता है और वह आगे का ऊँचा से ऊँचा रास्ता भी तय कर सकता है। सैकड़ों शूद्रों को मोक्ष प्राप्त होने की कथाएं हमारे यहाँ आज भी मौजूद हैं। कथन का अभिप्राय यही है कि हजारों ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य साधु बनकर भी जीवन की पवित्रता कायम नहीं रख सके और फलतः पथ भ्रष्ट हो गए तो फिर 'जाइसंपन्न' होने से भी क्या लाभ

हुआ ? इसके विपरीत हरिकेशी और मेतार्य जैसे शूद्र पवित्र एव अनुकूल वातावरण मे आकर यदि जीवन की पवित्रता प्राप्त कर सके और मुक्ति के अधिकारी भी बन सके तो 'जाइसपन्ने' न होने पर भी कौन-सी कमी उनमे रह गई ? जैन-धर्म किस को वन्दनीय और पूजनीय मानता है ?

'जाइसपन्ने' और 'कुलसपन्ने' पदो मे जाति और कुल का अर्थ वह नही है, जिसे आजकल सर्व साधारण लोग जाति और कुल के रूप मे समझते है। ओसवाल या अग्रवाल आदि टुकडे शास्त्र मे जाति नही कहलाते। शास्त्र मे जाति का अर्थ है—'मातृ-पक्ष', और कुल का अर्थ है—'पितृ-पक्ष'। इस सम्बन्ध मे कहा भी है—

"जातिर्मातृपक्ष, कुल पितृपक्ष ॥'

अर्थात्—माता के यहाँ का वातावरण अच्छा होना चाहिये। जिस माता के यहाँ सुन्दर वातावरण होता है, उसके बालक का निर्माण सुन्दर होता है। जिस प्रकार माता के उठने-बैठने, खाने-पीने और बोलने आदि प्रत्येक कार्य का बच्चे पर अवश्य ही असर पडता है, इसी प्रकार कुल अर्थात्—पितृ-पक्ष का वातावरण भी अच्छा होना चाहिए। जिस बालक के मातृ-पक्ष और पितृ-पक्ष का वातावरण ऊँचा, पवित्र और उत्तम होता है, वह बालक अनायास ही अनेक दुर्गुणो से बचकर सद्गुणी बन सकता है।

हालाँकि एकान्त रूप से यह नही कहा जा सकता कि ऐसा बालक सद्गुणी ही होगा। कई जगह अपवाद भी पाए जाते हैं। फिर भी आमतौर पर यह होता है कि जिस बालक

के माता और पिता का पक्ष सुन्दर, सदाचारमय वातावरण से युक्त होता है और जिसे दोनों तरफ से अच्छे विचार मिलते हैं वह जल्दी प्रगति कर सकता है और वही 'जाति सम्पन्न' तथा कुलसम्पन्न' कहलाता है।

जैसा कि मैं पहले कह चुका हूँ कि यह एक व्यावहारिक बात है। इसके लिए ऐसा कोई सुनिश्चित नियम नहीं है कि जिसकी जाति अर्थात्—मातृ-पक्ष (अर्थात्—ननिहाल) उत्तम वातावरण वाला है उसका व्यक्तित्व उत्तम ही होगा और जिसका मातृ-पक्ष गिरा हुआ होगा उसका व्यक्तित्व भी गिरा हुआ ही होगा। किसी बालक और युवा पुरुष का व्यक्तित्व इतना प्रबल और प्रभावशाली होता है कि उस पर मातृ-पक्ष और पितृ-पक्ष का कोई प्रभाव नहीं पड़ सकता। वह स्वयं ही अच्छे या बुरे वातावरण का निर्माण कर लेता है। इस प्रकार कभी-कभी उल्टे पासे भी पड़ जाते हैं। बहुतेरे ऐसे व्यक्ति भी होते हैं कि उनके लिए चाहे कैसा ही वातावरण तैयार किया जाए, वे उसमें आते ही नहीं अपितु सदैव उसके प्रतिकूल ही चलते हैं।

हिरण्यकश्यप ने प्रह्लाद को बदलने के लिए भरसक प्रयत्न किये थे? उसने सोचा था कि जैसा नास्तिक और राक्षस मैं हूँ प्रहलाद को भी वैसा ही बना दूँ। इसे ईश्वर का नाम सुनने को भी न मिले। इसके लिए हिरण्यकश्यप ने कितना प्रबल प्रयत्न किया? किन्तु प्रहलाद ऐसे प्रगाढ़ संस्कार लेकर आया था कि वह बदल नहीं सका उसकी ईश्वर-भक्ति में कोई अन्तर नहीं पे

सका और वह अपनी दिशा की ओर निरन्तर वढता ही गया। इस प्रकार प्रह्लाद उस दैत्य के कुल मे देवता के रूप मे आया था। उग्रसेन के यहाँ कस का जन्म लेना प्रहलाद के सर्वथा विपरीत उदाहरण है। कस के समान और भी अनेक व्यक्ति ऐसे हुए हैं, जिनके माता-पिता के यहाँ का वातावरण वहुत उत्तम रहा, उत्तमता वनाए रखने के लिए अथक प्रयत्न भी किए गए, किन्तु फिर भी ऐसे वालको ने जन्म लिया कि उन्होने अपने आचरण से सव को अपवित्र वना दिया और अपनी जाति और कुल के उज्ज्वल मस्तक पर कालिमा पोत दी।

अस्तु, अभिप्राय यही है कि मातृ-पक्ष (ननिहाल) और कुल (पितृ-पक्ष) का वातावरण यदि पवित्र है तो व्यक्ति जल्दी प्रगति कर सकता है। यही 'जातिसम्पन्न' और 'कुलसम्पन्न' का रहस्य है।

शास्त्र मे जीवो का वर्गीकरण करने के लिए भी 'जाति' शव्द का प्रयोग किया गया है। जिसके अनुसार शास्त्रकारो ने ससार के समस्त जीवो को पाँच जातियो में विभक्त किया है। वे जातियाँ हैं—एकेन्द्रिय-जाति, द्वीन्द्रिय-जाति, त्रीन्द्रिय-जाति, चतुरिन्द्रिय-जाति और पचेन्द्रिय-जाति। शास्त्र के इस वर्गीकरण के हिसाब से प्रत्येक मनुष्य, चाहे वह ब्राह्मण हो या शूद्र हो, एक ही पचेन्द्रिय-जाति में आता है।

इस प्रकार जब शास्त्रीय दृष्टिकोण से बिचार किया जाता है तो मनुष्य-मनुष्य के वीच कोई भेदभाव नही रह जाता। फिर भी कुछ लोगो ने एक वर्ग को जन्म से ही

पवित्र और श्रेष्ठ समझ लिया है चाहे उसका आचरण कितना ही निम्न स्तर का क्यों न हो ! दूसरे वर्ग को जन्म से ही अपवित्र और नीच मान लिया गया है चाहे उसका आचरण कितना ही उत्तम क्यों न रहा हो ! इस प्रकार जो वांछनीय उच्चता सदाचार में रहनी चाहिए थी उसे जाति या वर्ण में कैद कर दिया गया है । वस्तुतः यही 'सामाजिक हिंसा' है । इस प्रकार की सामाजिक हिंसा व्यक्ति की हिंसा से किसी भी अंश में कम भयानक नहीं है । आज भी अधिकांश लोग इस हिंसा के शिकार देखे जाते हैं । जब आप हिंसा के स्वरूप का विचार करें तो इस 'सामाजिक हिंसा' को न भूल जाएँ ।

— ३ —

मानवता का भीषण कलंक

यह पहले वतलाया जा चुका है कि 'अहिंसा' का रूप वहुत व्यापक है। वैयक्तिक, सामाजिक और राष्ट्रीय जीवन के विविध रूपो मे हिंसा परिलक्षित होती है। जिस किसी भी क्षेत्र मे और जिस किसी भी रूप मे, जो भी ज्ञात या अज्ञात, सूक्ष्म या स्थूल, वाह्य या आन्तरिक हिंसा हो रही है, उस क्षेत्र मे और उस रूप मे हिंसा का व्यापक विरोध, प्रतिरोध एव निरोध होना ही 'अहिंसा' है। इस दृष्टिकोण से देखने पर भली-भांति ज्ञात हो सकेगा कि अहिंसा का स्वरूप वहुत व्यापक है और उसके रूप भी अनेक हैं। यही कारण है कि पिछले दिनो मैने अहिंसा को अनेक वर्गों में विभक्त करके आपके समक्ष प्रस्तुत किया है। अहिंसा के विराट स्वरूप का चिन्तन करते हुए यह तो सभव नही है कि उस पर पूर्ण प्रकाश डाला जा सके। फिर भी जव हमने अहिंसा के महत्व को स्वीकार किया है, उसके औचित्य को अपने जीवन का आदर्श माना है, और उसकी परिधि में रहकर ही जीवन-व्यवहार चलाने का सत्य सकल्प किया है,

साथ ही यह भी मान लिया है कि अहिंसा के द्वारा ही व्यक्ति समाज और विश्व का त्राण सम्भव है तो हम पर यह कर्तव्य और दायित्व आ जाता है कि हम अधिक से अधिक गहराई में उतर कर अहिंसा को समझें और दूसरों को भी समझाएँ।

अहिंसा को भली भाँति समझने के लिए पहले हमें उसके दो रूपों पर विचार करना होगा। उन में से एक रूप वह है जिसे हम 'आन्तरिक' कह सकते हैं। तात्पर्य यह है कि एक हिंसा वह होती है—जो क्रोध मान माया लोभ एवं वासना के रूप में भीतर ही भीतर सुलगती रहती है। हम अपने ही कुप्रयत्नों से अपने आत्मा की हत्या करते रहते हैं। इस सम्बन्ध में एक उदाहरण लीजिए—एक व्यक्ति दूसरे के बड़प्पन को नहीं सह सकता है। वह मन ही मन उसे देखकर जलता है और उस जलन में वह अपनी ही हिंसा कर लेता है। यदि किसी के सद्गुणों को देखता है और किसी की प्रशंसा सुनता है तो भी वह मन ही मन में जलता है और अपने अहम् भाव में दूसर के सद्गुणों को स्वीकार नहीं करता। इतना ही नहीं बल्कि वह दूसरे के सद्गुणों से घृणा भी करता है। ऐसा करने वाला एक प्रकार से अपनी आत्म-हत्या ही कर रहा है।

जब कोई आदमी बन्दूक या पिस्तौल से अपने को गोली मार लेता है तो यह समझा जाता है कि आत्म हत्या की गई है परन्तु यह तो शरीर की हत्या है आत्मा की नहीं। किन्तु मनुष्य जब किसी बुराई को अपने

इसके विपरीत यदि हम शास्त्रो का सहारा न लेकर केवल अपनी बुद्धि और शुष्क तर्क के बल पर ही खडे हो गए तो हमे न तो शास्त्रो का ही उचित ज्ञान रहेगा और न अपना ही पता रहेगा और न हम देश तथा समाज के प्रति भी अपने कर्त्तव्य का पूर्ण रूपेण पालन कर सकगे।

हाँ, तो सामाजिक हिंसा का रूप आपके सामने रखा जा रहा है। आपके सामने जो इन्सानो की दुनिया है और मनुष्यो का जो विस्तृत ससार आपके सामने से गुजर रहा है, उसके साथ आपका क्या सम्बन्ध है? आप अपने पार्श्ववर्ती मनुष्यो के साथ कैसा व्यवहार करते हैं? वह व्यवहार घृणा और द्वेप का है अथवा सम्मान और सत्कार का? वह दूसरो को घायल करने की क्रूरता है या घाव पर मरहम लगाने की उदारता?

इन प्रश्नो पर हमे ईमानदारी के साथ विचार कर लेना चाहिए। वह हिंसा, जो समुदाय के रूप मे होती है, आज विराट बन गई है। और इस पर भी तुर्रा यह है कि अधिकाश लोग हिंसा करते हुए भी उसे हिंसा नही समझते। इस तरह आज के जीवन मे एक बहुत बडी गलतफहमी फैल गई है।

एक अखण्ड मानव-जाति अनेकानेक जातियो, उप-जातियो मे बँट गई है और उसके इतने टुकडे हो गए हैं कि यदि गिनने चले तो गिनते-गिनते थक भी जाएँगे और फिर भी पूरे भेद-प्रभेदो को गिन न सकेगे। यद्यपि कही-कही एक जाति का दूसरी जाति के साथ ऊपर से

प्रेम-भाव मालूम होता है किन्तु उनमें भी अन्दर की तह में ऊँच-नीच की चौड़ी खाई खुदी हुई है। भीतर-ही भीतर संघर्ष चल रहा है फलतः कोई अपने को ऊँचा और दूसर को नीचा समझने का मिथ्या अहंकार प्रदर्शित कर रहा है। बाहर के सुरभित फूलों में अन्दर के कांटे बराबर हैं। यों तो जीवन में सब साथ-साथ चलते भी और एक-दूसरे को सहयोग भी देते रहेंगे किन्तु मन के कांटे दूर नहीं होते और वे निरन्तर एक-दूसरे को चुभते ही रहते हैं।

दूसरी साधारण जातियों को इस समय छोड़ दीजिए। एक ओसवाल और दूसरी श्रीमाल जाति है जो एक वंश के ही दो फल हैं किन्तु उनमें भी आपस में संघर्ष जारी है फलतः कहीं-कहीं उन्हें परस्पर झगड़ते भी देखा गया है। यहाँ तक कि साधु होने के नाते या अपने ही सम्प्रदाय के विशिष्ट साधु होने के नाते कभी-कभी मुझे भी हस्तक्षेप करना पड़ा है। ओसवाल और श्रीमाल परस्पर में अपने आप को ऊँचा और दूसर को हीन समझकर कभी-कभी एक दूसरे के साथ रोटी और बेटी का व्यवहार भी तोड़ बैठते हैं।

भीतर की जलन कभी-कभी विस्फोट के रूप में बाहर आ जाती है तो परिवार के परिवार लड़ पड़ते हैं और आपस के मधुर सम्बन्ध भी कटुता में बदल जाते हैं सब के बीच विद्वेष की आग सुलग उठती है। यह आग ओसवालों में या अग्रवालों में या दूसरी जातियों में जहाँ भी चल रही है वहाँ बड़े-बड़े विचारक भी कभी-कभी उसमें

अन्दर डाल लेता है और उसी मे निरन्तर गलता है और सडता रहता है तो यह बदूक या पिस्तौल से गोली मार लेने की अपेक्षा भी वहुत वडी हिंसा है, क्योंकि यह बुराई हमारे सद्गुणो का सर्वनाश कर डालती है। इस प्रकार भीतर ही भीतर होने वाली हिंसा 'आन्तरिक' है और यह भाव-हिंसा का परिचायक है ।

हिंसा का दूसरा रूप 'वाह्य' (वाहरी) है। वास्तव मे हमारे अन्दर की ही बुराई वाहर की हिंसा को प्रेरित करती है ।

इस प्रकार जैन-धर्म के अनुसार हिंसा के दो नाले हैं, दो प्रवाह हैं। एक अन्दर ही प्रवाहित रहता है, और दूसरा वाहर। हिंसा को यदि अग्नि कहा जाय तो समझना चाहिए कि हिंसा की अग्नि भीतर भी जल रही है, और वाहर भी ।

यदि इस दृष्टिकोण को सामने रखकर विचार करते हैं तो अहिंसा का सिद्धान्त वहुत व्यापक प्रतीत होता है। किन्तु यह जितना व्यापक है, उतना ही जटिल भी है। जो सिद्धान्त जितना अधिक व्यापक बन जाता है वह प्राय उतना ही अटपटा भी हो जाता है और साथ ही उलझ भी जाता है। यही कारण है कि जीवन-क्षेत्र मे कभी-कभी अहिंसा के सम्बन्ध मे भाँति-भाँति की विचित्र भ्रान्तियाँ देखी जाती हैं। जिसका परिणाम यह होता है कि लोग कभी हिंसा को अहिंसा, और अहिंसा को हिंसा समझ वैठते हैं। इस प्रकार की भ्रान्तियो ने प्राचीन काल मे और आधुनिक काल मे भी अनेक प्रकार के मतमतान्तरो को जन्म दिया है। जहाँ

रखा है, अहिंसा है करुणा एवं दया है दुर्भाग्य से वहाँ हिंसा समझी जा रही है और एकान्त पाप समझा जा रहा है। वस्तुस्थिति यह है कि सिद्धान्त के अनुसार जो वास्तविक अहिंसा' है उसी को मनुष्य के भ्रान्त मन ने 'हिंसा' समझ लिया है।

इसके विपरीत कभी-कभी ऐसा भी होता है कि हिंसा हो रही है बुराई पैदा हो रही है और गलत काम से किसी को दुःख और कष्ट पहुँच रहा है और फलस्वरूप दूसरे प्राणियों के अन्दर प्रतिहिंसा की प्रतिशोधनकारी लहर पैदा हो रही है किन्तु दुर्भाग्य से उसे अहिंसा' का नाम दिया गया है। यही कारण है कि जब धर्म के नाम पर या जात-पाँत के नाम पर हिंसा प्रदर्शित होती है तो उसे हम अहिंसा समझ लेते हैं। इस तरह मानव जाति का चिन्तन इतना उलझ गया है कि कितनी ही बार हिंसा के कार्यों को अहिंसा का और अहिंसा के कार्यों को हिंसा का रूप दिया गया है।

इस प्रकार हिंसा और अहिंसा-सम्बन्धी उलझनें होने पर भी हमें आखिर विचार तो करना ही होगा। बल्कि ये मुख्य उलझनें हैं इसलिए इस विषय में क्रमशः विचार करना और भी महत्त्वपूर्ण हो जाता है। हम इन विचारों को अपने आप में सोच लेना चाहते हैं। हालांकि हमारी बुद्धि बहुत सीमित है, किन्तु जहाँ तक आस्था का सत् सद्भाव काम देता है और हमारा चिन्तन-मनन हमारी सहायता करता है वहाँ तक तो हमें आगे बढ़ना ही चाहिए।

इसके विपरीत यदि हम शास्त्रों का सहारा न लेकर केवल अपनी बुद्धि और शुष्क तर्क के बल पर ही खड़े हो गए तो हमे न तो शास्त्रो का ही उचित ज्ञान रहेगा और न अपना ही पता रहेगा और न हम देश तथा समाज के प्रति भी अपने कर्त्तव्य का पूर्ण रूपेण पालन कर सकेंगे।

हाँ, तो सामाजिक हिंसा का रूप आपके सामने रखा जा रहा है। आपके सामने जो इन्सानो की दुनिया है और मनुष्यो का जो विस्तृत ससार आपके सामने से गुजर रहा है, उसके साथ आपका क्या सम्बन्ध है? आप अपने पार्श्ववर्ती मनुष्यो के साथ कैसा व्यवहार करते हैं? वह व्यवहार घृणा और द्वेप का है अथवा सम्मान और सत्कार का? वह दूसरो को घायल करने की क्रूरता है या घाव पर मरहम लगाने की उदारता?

इन प्रश्नो पर हमे ईमानदारी के साथ विचार कर लेना चाहिए। वह हिंसा, जो समुदाय के रूप मे होती है, आज विराट बन गई है। और इस पर भी तुर्रा यह है कि अधिकाश लोग हिंसा करते हुए भी उसे हिंसा नही समझते। इस तरह आज के जीवन में एक बहुत बडी गलतफहमी फैल गई है।

एक अखण्ड मानव-जाति अनेकानेक जातियो, उप-जातियो मे बँट गई है और उसके इतने टुकडे हो गए हैं कि यदि गिनने चले तो गिनते-गिनते थक भी जाएँगे और फिर भी पूरे भेद-प्रभेदो को गिन न सकेंगे। यद्यपि कही-कही एक जाति का दूसरी जाति के साथ ऊपर से

प्रेम भाव मालूम होता है किन्तु उनमें भी अन्दर की तह में ऊँच नीच की चौड़ी खाई खुदी हुई है। भीतर-ही भीतर संघर्ष चल रहा है फलतः कोई अपने को ऊँचा और दूसरे को नीचा समझने का मिथ्या अहंकार प्रदर्शित कर रहा है। बाहर के सुरभित फूलों में अन्दर के काँटे बराबर हैं। यों तो जीवन में सब साथ-साथ चलते भी और एक-दूसरे को सहयोग भी देते रहेंगे किन्तु मन के काँटे दूर नहीं होते और वे निरन्तर एक-दूसरे को चुभते ही रहते हैं।

दूसरी साधारण जातियों को इस समय छोड़ दीजिए। एक ओसवाल और दूसरी श्रीमाल जाति है जो एक वंश के ही दो फल हैं किन्तु उनमें भी आपस में संघर्ष जारी है फलतः कहीं-कहीं उन्हें परस्पर लड़ते भी देखा गया है। यहाँ तक कि साधु होने के नाते या अपने ही सम्प्रदाय के विशिष्ट साधु होने के नाते कभी-कभी मुझे भी हस्तक्षेप करना पड़ा है। ओसवाल और श्रीमाल परस्पर में अपने आप को ऊँचा और दूसरे को हीन समझकर कभी-कभी एक दूसरे के साथ रोटी और बेटी का व्यवहार भी तोड़ बैठते हैं।

भीतर की जलन कभी-कभी विस्फोट के रूप में बाहर आ जाती है तो परिवार के परिवार लड़ पड़ते हैं और आपस के मधुर सम्बन्ध भी कटुता में बदल जाते हैं, सब के बीच विद्वेष की आग सुलग उठती है। यह आग ओसवालों में या अग्रवालों में या दूसरी जातियों में जहाँ भी जल रही है वहाँ बड़े-बड़े विचारक भी कभी-कभी उसमें

हिस्सा लेने के लिए विवश हो जाते हैं और उसमे कुतर्क का घी डालकर बुझती शिखा को और अधिक प्रज्वलित कर देते हैं। इस प्रकार जाति के नाम पर हिंसा होती है और इस पर हम सोचते हैं कि जो लोग अपने जाति-बान्धवो के साथ ऐसा दुर्व्यवहार करते हैं और उनसे भी लडते हैं, फिर वे छह करोड शूद्रो या अछूतो के साथ इन्सानियत का सद्-व्यवहार किस प्रकार कर सकेंगे ?

ऐसे लोग बडी गडवड मे पडे हुए हैं। भगवान् महावीर ने जो कठिन साधना की और उसके प्रतिफल मे जो महान् क्रान्ति आई और परिवर्तन का प्रवाह आया, उसमें बडे-बडे पुरोहितो ने अपनी उच्चता का अहकार छोड दिया और भगवान् के चरणो मे आकर सारे भेदभाव भुला दिए। उनके दिलो मे अपार करुणा प्रवाहित हो गई। दया का सागर ठाठे मारने लगा। किन्तु खेद है, उस महान् तत्त्व को आगे चलकर जब स्वय जैनो ने भी नही पहचाना तो फिर दूसरे कैसे पहचानें ? दूसरो ने तो इस दिशा मे हमारा सदैव विरोध ही किया है और निहित स्वार्थों की पूर्ति के लोभ वश अछूतो का पक्ष लेने के कारण हमें भी एक प्रकार से अछूत करार दे दिया गया।

एक जगह मैं ठहरा हुआ था। पास ही एक हलवाई की दूकान थी। वहाँ एक कुत्ता आया और मुँह लगाने लगा तो हलवाई ने डडा उठाया और कहा—दूर हट सरावगी !' यह शब्द सुनकर मैंने विचारा—यह 'दूर हट सरावगी' क्या चोज है ? और इस हलवाई के मन मे यह

घृण प्रकरण क्यों है ? मेरा मन इतिहास के पन्ने उलट गया। मालूम हुआ कि किसी जमाने में हमने मद्यूतों के पथ में नारा ममाया था और कहा था कि इस्लाम के साथ इन्सान का-सा व्यवहार होना चाहिए। इस पर हमें भी मद्यूत हो करार द दिया गया और सरावगी (श्रावक) को कुत्ते की पशु श्रेणी में रखा गया।

जब आप गहराई में उतरकर इस विषय में सोचगे तो मालूम होगा कि आप अपने को भले ही ऊँचा समझते हो परन्तु दूसरे लोग आपको भी घृणा की दृष्टि से देखते हैं अपवित्र समझते हैं और चौके में बिठाने से परहेज करते हैं। यहाँ तक कि हम साधुओं को भी चौके में नहीं जाने देते। दिल्ली जैसे शहरों से दूर किसी देहात में जाने पर यही व्यवहार देखा जाता है कि—"असम रहिए महाराज हम बाहर ही लाकर दे देंगे।

जब इस प्रकार की विपरीत भावनाएं नित्यप्रति देखने को मिलती हैं तो हम सोचते हैं कि इसमें जनता का दोष नहीं है। हम स्वयं भी तो इन्हीं संकीर्ण भावनाओं के शिकार हैं।

यहाँ तक कि आप जिन्हें नफरत की निगाह से देखते हैं व भी पूर्ण मद्यूत के भेदभाव से भरे हुए हैं। आप छोटी जाति से घृणा करते हैं और वह छोटी जाति भी अपने से छोटी समझी जाने वाली जाति से घृणा करती है। इस दुःखद दृश्य को देखकर हृदय टुकड़े-टुकड़े हो जाता है।

हम देखते हैं कि यह एक ऐसा रोग है, जो ऊपर से नीचे तक फैल गया है, जडो मे जम गया है। फलत इसका पूरी तरह परिमार्जन करने के लिए बहुत वडी क्रान्ति की अपेक्षा है। इस जटिल प्रश्न को हल करने के लिए गाँधीजी को अपना वलिदान देना पडा। गोडसे के साथ उनका कोई व्यक्तिगत द्वेष नही था, किन्तु दूसरी जाति वालो से प्रेम करने के कारण ही उन्हे गोली का शिकार वनना पडा। गाँधीजी ही नही, हमारे अनेक पूर्वजो को भी इसी प्रकार के अनेक आत्म-वलिदान देने पडे हैं।

हमारे अनेक साथी साधुओ मे भी यही विचार घर किये हुए हैं, फलत वे भी इन सामाजिक सकीर्णताओ मे फँसकर जातिवाद का कट्टर समर्थन करते हैं। हाँ, तो हमें उनके विचारो को भी माँजना है।

मैंने इस घृणा और द्वेष की भावना को जातिगत, वर्गगत, सम्प्रदायगत और समूहगत हिंसा का रूप दिया है। मनुष्य को मनुष्य के रूप मे न देखकर जात-पाँत के नाते घृणा और द्वेष की सकुचित दृष्टि से देखना, हिंसा नही तो क्या है?

कभी-कभी मनुष्य अपने दैनिक नीतिमय व्यवहार मे भी उक्त जातीय विचारो के कारण गडवडा जाता है। एक वालक ठोकर खाकर रास्ते मे गिर पडता है और आप उसे उठाने को चलते हैं। जब उसके ब्राह्मण या क्षत्रिय आदि उच्च होने का पता चलता है तो आप उसे खुशी-खुशी उठा लेते हैं, परन्तु जब यह मालूम होता है कि यह तो भगी

का बालक है तो आपका मन दुविधा में पड़ जाता है। आप उसे उठाएँगे या नहीं ? यदि कोई ऐसा उदारमना भाग्यशाली है जो उसे उठा लेता है तो मैं उसे बड़े आदर की दृष्टि से देखूंगा। मैं समझूंगा कि उसकी आँखों में मनुष्यत्व की दृष्टि पैदा हो गई है। किन्तु जहाँ इन्सान की आँखें नहीं हैं वहाँ आदमी गड़बड़ा जाता है और सोचने लगता है कि क्या किया जाय और क्या न किया जाय ?

कोई कष्ट-पीड़ित है और आपत्ति-ग्रस्त है और तुम उसका उद्धार करने चले हो। किन्तु यदि जात-पाँत को पूछकर चले हो तो तुम उसके कष्ट को कभी नहीं देख सकोगे उसकी जात-पाँत को ही देख पाओगे। क्योंकि यह ऐसी विषमता है जिसने हमारे सामाजिक जीवन को एक सिरे से दूसरे सिरे तक विकृत कर दिया है। इस सम्बन्ध में भगवान् महावीर का विचार एकदम स्पष्ट था। वे तो गुणों की पूजा करने वाले गुण-ग्राही थे जाति की पूजा करने वाले नहीं। उनके पास ब्राह्मण आता है और यदि वह योग्य है तो उसका स्वागत होता है क्षत्रिय है और उसमें गुण हैं तो उसका भी आदर होता है और यदि कोई साधारण जाति में जन्म लेने वाला शूद्र या अछूत है किन्तु अहिंसा और सत्य की सुगन्ध उसके जीवन में महक रही है तो शास्त्रकार कहते हैं कि मनुष्य तो क्या देवता भी उसके चरण छूने को लालायित हो उठते हैं। अस्तु, देवताओं ने भी उसके लिए जय-जयकार के नारे लगाए ! और स्वयं भगवान् महावीर ने भी उनका हृदय से स्वागत किया।

हरिकेशी मुनि के सम्बन्ध मे आगमो मे जो सुन्दर वर्णन है, वह जैनो के पास बहुत बडी सम्पत्ति है, एक बडी नियामत है और एक सुन्दर खजाना है। हमने कितनी ही गलतियां की हैं और अब भी उनकी पुनरावृत्ति करते जा रहे हैं, किन्तु हमारे पूर्वज उन गलतियो के शिकार नही बने थे। उन्होने मनुष्य को मनुष्य के रूप मे पहचाना, मनुष्य के गुणो की ही प्रशसा की, धनवान् होने के नाते कभी किसी का आदर नही किया और जात-पाँत के लिहाज से भी कभी किसी का सत्कार-सम्मान नही किया। तभी तो उत्तराध्ययन की उज्ज्वल वाणी चमकी है —

सोवागकुलसभूओ, गुणुत्तरधरो मुणी।
हरिएसबलो नाम, आसी भिक्खू जिइ दिओ ॥—उत्त० १२, १

हरिकेशी मुनि श्रेष्ठ गुणो के धारक और इन्द्रियो पर विजय प्राप्त करने वाले आदर्श भिक्षु थे। उनके गुणो का का उल्लेख करने के साथ ही साथ शास्त्रकार इस बात का भी उल्लेख करने से नही चुके कि वह मुनि 'श्वपाक-चाण्डाल' कुल मे उत्पन्न हुए थे, बल्कि सबसे पहले इसी बात का उल्लेख किया है। यह उल्लेख हमे शास्त्रकार के हृदय तक ले जाता है और इसके द्वारा हम समझ सकते हैं कि शास्त्रकार के मन मे क्या भावना रही होगी। जिनके नेत्र निर्मल हैं, वे इस उल्लेख में सम्पूर्ण भारतवर्ष की और विशेषत जैनो की प्राचीन सस्कृति को भली-भाँति देख सकते हैं।

हरिकेशी मुनि ने पूर्व-सस्कारो के कारण ही चाण्डाल

कुल में जन्म लिया। जीवन-यात्रा में कभी-कभी बड़ी अटपटी घटनाएँ आती हैं सावधान रहने पर भी मनुष्य कदाचित् ठोकर खा ही जाता है और गिर भी पड़ता है किन्तु सच्चा बहादुर वही है जो गिरकर भी उठ खड़ा होता है और होश-हवास को दुरुस्त कर लेता है। हरिकेशी उन्हीं वीरों में से एक थे। कहीं भूल हो गई और गिर गए, किन्तु उन्होंने अपने जीवन का और आत्मा को फिर संभाला और ऊपर उठ गए। जब वे गृहस्थ थे सब ओर से उन्हें अनादर और तिरस्कार मिला। किसी ने भी उनका सम्मान सत्कार नहीं किया। किन्तु जब उन्होंने मन पर झाड़ू दिया उसे साफ किया तो वही श्रेष्ठ गुणों को धारण करने वाले जितेन्द्रिय भिक्षु बन गए।

एक तरफ पण्डित लोग वाद-विवाद करते हैं शास्त्रार्थ करते हैं और जन्मगत जाति की उच्चता का यह दावा करते हैं कि मानव-सृष्टि में केवल ब्राह्मण ही पवित्र और श्रेष्ठ है। शास्त्रार्थ लंबा चलता है और अन्त में हरिकेशी का गुणकृत ब्राह्मणत्व ही श्रेष्ठ प्रमाणित होता है फलतः देव दुन्दुभियाँ बजने लगती हैं और देवगण जय-जयकार की ध्वनि से पृथ्वी और आकाश को गुंजा देते हैं। रत्नों की वर्षा होती है और साथ ही साथ सुन्दर विचारों की भी अमृत वर्षा होती है। उसी जय-घोष के स्वरों में भगवान् महावीर ने कहा है—

सक्ख खु दीसइ तवोविसेसो, न दीसइ जाइविसेस कोवि ।
सोवागपुत्त हरिएससाहुं, जस्सेरिसा इड्ढी महाणुभावा ।।

—उत्तराध्ययन १२, ३७

एक-एक शब्द मे चिरन्तन सत्य की गगा बह रही है । एक-एक्र शब्द में गुणो के प्रति अनुराग रस भरा है । शताब्दियो से इस गाथा मे से अमृत का झरना वह रहा है, किन्तु दुर्भाग्य से अपने भीतर उसे समा लेने की शक्ति हम मे नही रह गई है । हम उसे पढते हैं और आगे चल देते हैं । विचारो के इस अमृत-निर्झर को हम अपने जीवन मे नही उतार पाते हैं । शास्त्रकार कितने प्रभावशाली शब्दो में चुनौती देकर, मानो कह रहे हैं—"प्रत्यक्ष मे तुम देख सकते हो कि विशेषता तप मे है, विशेषता गुण मे है और विशेषता जीवन की पवित्रता में है । जाति मे कोई विशेषता दिखाई नही देती, वह तो केवल उच्चता के अहकार से पैदा होने वाली कोरी कल्पना है । हरिकेशी साधु चाण्डाल का लडका था और उसने चाण्डाल के कुल मे जन्म भी लिया था, किन्तु उसके ऐश्वर्य को देखिए ! उसके यश सौरभ को परखिए कि देवगण भी उसका जय-घोष कर रहे हैं ।"

उत्तराध्ययन की यह पवित्र वाणी आज भी मौजूद है और हमारे पक्ष का पूर्णत समर्थन करती है । जात-पांत के विरुद्ध इससे बडा और क्या प्रमाण चाहिए ? यदि इतने पर भी किसी को समझ नही आती, तो उसके लिए दूसरे प्रमाण भी क्या निरर्थक ही सिद्ध न होगे ?

यदि किसी ने नीची समझी जाने वाली जाति मे जन्म

से भी लिया तो क्या हो गया ? वह उसी जीवन में दूसरी बार फिर जन्म ले सकता है। दूसरा जन्म गुणों के द्वारा लिया जाता है मनन और चिन्तन के द्वारा लिया जाता है। पुरुषार्थ एवं प्रयत्न के द्वारा अपने हाथों अपने जीवन का जो निर्माण होता है वही सबसे बड़ा निर्माण समझना चाहिए। अलंकार की भाषा में यही दूसरा जन्म है।

महाभारत में एक कथा आती है—कर्ण एक बढ़ई का लड़का है यह बात प्रसिद्ध थी। जब वह युद्ध के मैदान में उतरता है तो जन्म-जात क्षत्रिय उसका उपहास करते हैं और चिढ़ाते हैं कि— आप यहाँ कैसे आ पहुँचे। यह तो युद्ध-क्षेत्र है। यहाँ तो तलवारों का काम है लकड़ी छीलने या चीरने का काम नहीं है। आपको तो किसी वन में जाना चाहिए था। इस प्रकार का मजाक सुनकर भी वह दृढ़-संकल्पी और आत्म-विश्वासी वीर कर्ण किंचित भी भय नहीं और घबराया भी नहीं। वह उन जन्म-जात क्षत्रियों को ललकारता है।

हाँ तो कर्ण युद्ध-क्षेत्र में पहुँचकर कहता है—"तुम जन्म-जात क्षत्रिय हो और तलवारों को सदियों से उठाते भी आ रहे हो। और इधर मैंने तो अपने कुल में स्वयं के पुरुषार्थ पर, बस यही एक तलवार उठाई है। किन्तु यही तलवार तुम्हें बतलाएगी कि युद्ध में किसकी तलवार ज्यादा चमकती है। उसने निर्भीक भाव से घोषणा की—

दूसरा प्रश्न यह है कि गोत्र बदला जा सकता है या नही ? मान लीजिए कि किसी को नीच गोत्र मिला है। किन्तु उसने तत्त्व का चिन्तन और मनन किया है और उसके फलस्वरूप उच्च श्रेणी का आचरण प्राप्त किया है, तो उसी जीवन मे उसका गोत्र बदल सकता है या नही ? यदि तर्क द्वारा यह सिद्ध हो जाता है कि गोत्र नही बदल सकता तो मुझे अपने विचारो को समेट कर एक कोने में डाल देना पडेगा। किन्तु यदि गोत्र का बदलना प्रमाणित हो जाता है तो आपको भी अपना विचार बदल देने के लिए तैयार रहना चाहिए। सत्य सर्वोपरि है और बिना किसी आग्रह के हम सबको उसे अपनाने के लिए तैयार रहना चाहिए ।

कल्पना कीजिए—एक उच्चगोत्री है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, अग्रवाल अथवा ओसवाल है, परन्तु आज वह बुरा काम करता है और मुसलमान बन जाता है। हालाँकि मैं मुसलमान को भी घृणा की दृष्टि से नही देखता हूँ, किन्तु रूपक ला रहा हूँ और आपको भी उसी दृष्टि से उस रूपक को समझना चाहिए।

हाँ, तो एक ओसवाल या अग्रवाल यदि मुसलमान बन जाता है तो क्या आप उसे उस बदले हुए दूसरे रूप मे समझते हैं या उसी पहले के रूप मे स्वीकार करते हैं ? आप उसे दूसरे रूप मे स्वीकार करते हैं। अर्थात् वह आपकी निगाहो से गिर गया है और उसमे उच्च गोत्र नही रह गया है। अब आप उसे पहले की तरह अपने साथ बिठाकर

एक साथ भोजन नहीं करते। जब ऐसी धारणा है तो इसका अर्थ यह है कि उच्चगोत्र स्थायी नहीं रहा और वहाँ जन्मगत जातीय धारणा भी नहीं रही। जब तक वह ऊँचाई पर कायम रहा तब तक उच्च बना रहा और जब उसका पतन हो गया और उसने अपने आचरण में एक बड़ी बुराई पैदा करली और तदनुसार किसी दूसरे रूप में चला गया तो वह गोत्र बदलना ही है। पहले वह ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य या और कुछ भी क्यों न रहा हो किन्तु अब तो वह प्रत्यक्ष रूप में बदल गया है और इस कारण उसका गोत्र भी बदल गया है।

अस्तु, जो बात उच्च गोत्र के सम्बन्ध में है वही बात नीच गोत्र के सम्बन्ध में क्यों नहीं स्वीकार करते? जब गोत्रकर्म का एक हिस्सा उच्चगोत्र—बदल जाता है और नीच गोत्र बन जाता है तो दूसरा हिस्सा क्यों नहीं बदल सकता? नीच गोत्र को उच्च गोत्र में बदलने से रोकने वाला कौन है? चाहे जितनी सचाई और पवित्रता को अपनाने पर भी नीच गोत्र बदल नहीं सकता और वह जन्म भर नीचा ही बना रहेगा यह कहाँ का न्यायसंगत सिद्धान्त है? जब उच्च गोत्र स्थायी नहीं रहता है तब फिर नीच गोत्र किस प्रकार स्थायी रह सकता है?

अभिप्राय यही है कि नीच गोत्र और उच्च गोत्र का वास्तविक स्वरूप क्या है? जब मनुष्य बुराई का शिकार होता है तब नीच गोत्र में रहता है और जब अच्छाइयाँ प्राप्त कर लेता है तो वही 'चक्रवर्ती' के नाम से या और किसी अच्छे

सूतो वा सूतपुत्रो वा, यो वा को वा भवाम्यहम् ।
दैवायत्त कुले जन्म, ममायत्त हि पौरुषम् ॥

अर्थात्—"मैं वढई हूँ या वढई का लडका हूँ, तो क्या हुआ ? मैं कोई भी हूँ, तुम्हे इससे क्या प्रयोजन है ? पुराने जन्म के सस्कारो के कारण मैंने कही जन्म लिया है, उसे क्या देखते हो ? अपने पुरुपार्थ और प्रयत्न के द्वारा मैंने अपने जीवन का जो यह नव-निर्माण किया है, यदि साहस रखते हो तो इसे परखिए । तुम लोग जन्म मे क्षत्रिय हो, और मैं पुरुपार्थ-कर्म से क्षत्रिय वना हूँ । रण-क्षेत्र वतला देगा कि वास्तव मे कौन सच्चा क्षत्रिय है ?"

कर्ण की इस ज्वलन्त वाणी को हमे अपने मन में सुरक्षित रख लेना है । कर्ण के इस निर्भीक भाव को हमे अपने अन्त करण की गहराई मे ले जाना चाहिए कि—"कोई किसी भी जाति मे पैदा हुआ हो अथवा रहता हो, किन्तु अपने गुणो के द्वारा वह ऊँचा उठ सकता है और पवित्र बन सकता है ।"

बाल्मीकि पहले किस रूप मे थे ? दस्यु ही थे न । परन्तु जब उनका जीवन बदला तो आखिर उन्हे महर्षि के पद पर प्रतिष्ठित करना ही पडा । हरिकेशी कुछ भी रहे हो, किन्तु जब उन्होने आदरणीय गुण प्राप्त कर लिए तो उनका आदर किया ही गया । आखिर, गुण कब तक ठुकराए जा सकते हैं ? कभी न कभी तो उनकी चमक बाहर आएगी ही, और जीवन में दिव्य प्रकाश पैदा होकर रहेगा ।

जैनों में उच्चगोत्र और नीचगोत्र की बात चलती है। कुछ लोग इस विषय में पूछ लेते हैं और कोई मन में ही पूछते रहते हैं। कोई पूछे या न पूछे, जब हम विचार-क्षेत्र में कूद पड़े हैं तो कभी-कभी कोने में और कभी मैदान में भी विचार कर ही लेते हैं। स्वयं विचार करके और जैन शास्त्रों का अध्ययन करके जो कुछ संचय किया है उस तत्त्व-ज्ञान को स्पष्ट रूप से जनता के सामने रख देना है और उलझी हुई गुत्थियों को सुलझाने का भरसक प्रयत्न करना ही हमारा कर्त्तव्य है।

हाँ तो अब उच्च-गोत्र और नीच-गोत्र के सम्बन्ध में विचार करना है। यदि कोई प्रतिष्ठित माने जाने वाले कुल में पैदा हो गया है तो वह उच्चगोत्रीय कहलाया और यदि अप्रतिष्ठित समझे जाने वाले कुल में उत्पन्न हो गया तो नीचगोत्रीय कहलाने लगा। इस सम्बन्ध में पहली बात जो ध्यान देने योग्य है यह है कि कुल की प्रतिष्ठा क्या सदैव एक-सी रहती है? नहीं वह तो उस कुल के व्यक्तियों के व्यवहार के द्वारा बदलती भी देखी जाती है। एक व्यक्ति का श्रेष्ठ आचरण कुल की प्रतिष्ठा को बढ़ाता है और इसके विपरीत एक व्यक्ति का नीच और गलत आचरण कुल की प्रतिष्ठा में धब्बा लगा देता है सारी प्रतिष्ठा को धूल में मिला देता है। ऐसी स्थिति में किसी भी कुल की अप्रतिष्ठा या प्रतिष्ठा कोई शाश्वत वस्तु नहीं है। वह तो जनता के विचार-कल्पना की चीज है वास्तविक वस्तु नहीं है।

दूसरा प्रश्न यह है कि गोत्र बदला जा सकता है या नही ? मान लीजिए कि किसी को नीच गोत्र मिला है। किन्तु उसने तत्त्व का चिन्तन और मनन किया है और उसके फलस्वरूप उच्च श्रेणी का आचरण प्राप्त किया है, तो उसी जीवन मे उसका गोत्र बदल सकता है या नही ? यदि तर्क द्वारा यह सिद्ध हो जाता है कि गोत्र नहीं बदल सकता तो मुझे अपने विचारो को समेट कर एक कोने मे डाल देना पड़ेगा। किन्तु यदि गोत्र का बदलना प्रमाणित हो जाता है तो आपको भी अपना विचार बदल देने के लिए तैयार रहना चाहिए। सत्य सर्वोपरि है और बिना किसी आग्रह के हम सबको उसे अपनाने के लिए तैयार रहना चाहिए।

कल्पना कीजिए—एक उच्चगोत्री है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, अग्रवाल अथवा ओसवाल है, परन्तु आज वह बुरा काम करता है और मुसलमान बन जाता है। हालांकि मैं मुसलमान को भी घृणा की दृष्टि से नहीं देखता हूं, किन्तु रूपक ला रहा हूँ और आपको भी उसी दृष्टि से उस रूपक को समझना चाहिए।

हाँ, तो एक ओसवाल या अग्रवाल यदि मुसलमान बन जाता है तो क्या आप उसे उस बदले हुए दूसरे रूप मे समझते हैं या उसी पहले के रूप मे स्वीकार करते हैं ? आप उसे दूसरे रूप मे स्वीकार करते हैं। अर्थात् वह आपकी निगाहो से गिर गया है और उसमे उच्च गोत्र नही रह गया है। अब आप उसे पहले की तरह अपने साथ बिठाकर

एक साथ भोजन नहीं करते। जब ऐसी धारणा है तो इसका अर्थ यह है कि उच्चगोत्र स्थायी नहीं रहा और यही अमगत जातीय धारणा भी नहीं रही। जब तक वह ऊँचाई पर कायम रहा तब तक उच्च बना रहा और जब उसका पतन हो गया और उसने अपने आचरण में एक बड़ी बुराई पैदा करली और तदनुसार किसी दूसरे रूप में बना गया तो वह गोत्र बदलना ही है। पहले वह ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य था और कुछ भी क्यों न रहा हो किन्तु अब तो वह प्रत्यक्ष रूप में बदल गया है और इस कारण उसका गोत्र भी बदल गया है।

अस्तु, जो बात उच्च गोत्र के सम्बन्ध में है वही बात नीच गोत्र के सम्बन्ध में क्यों नहीं स्वीकार करते? जब गोत्रकर्म का एक हिस्सा उच्चगोत्र-बदल जाता है और नीच गोत्र बन जाता है तो दूसरा हिस्सा क्यों नहीं बदल सकता? नीच गोत्र को उच्च गोत्र मे बदलने से रोकने वाला कौन है? चाहे जितनी सचाई और पवित्रता को अपनाने पर भी नीच गोत्र बदल नहीं सकता और वह जन्म भर नीचा ही बना रहेगा यह कहाँ का न्यायसंगत सिद्धान्त है? जब उच्च गोत्र स्थायी नहीं रहता है तब फिर नीच गोत्र किस प्रकार स्थायी रह सकता है?

अभिप्राय यही है कि नीच गोत्र और उच्च गोत्र का वास्तविक स्वरूप क्या है? जब मनुष्य बुराई का शिकार होता है तब नीच गोत्र में रहता है और जब अच्छाइयाँ प्राप्त कर लेता है तो वही 'भगतजी' के नाम से या और किसी अच्छे

नाम म प्रसिद्ध हो जाता है।

अब जरा सैद्धान्तिक दृष्टि से भी विचार कीजिए। सिद्धान्त की मान्यता है कि साधु का छठा गुणस्थान है* और छठे गुणस्थान मे नीच गोत्र का उदय नही होता। हरिकेशी नीच जाति म उत्पन्न हुए थे और साधु बन गए। अब प्रश्न यह है कि साधु बन जाने पर वह नीच गोत्र म रहे या नही? यदि वे नीच गोत्र म ही रहे तो उन्हे छठा गुणस्थान नही होना चाहिए और साधु का दर्जा भी नही मिलना चाहिए। किन्तु शास्त्र यह बतलाता है कि वे तो महामहिम मुनि थे और उन्हे छठा गुणस्थान प्राप्त था। छठे गुणस्थान मे नीच गोत्र नही रहता है। इसका अभिप्राय स्पष्ट है कि हरिकेशी नीच गोत्र से बदलकर उच्च गोत्र मे पहुँच चुके थे। तो अब आपको स्वय ही यह फैसला करना पडेगा कि नीच गोत्र भी उच्च गोत्र के रूप मे बदल जाता है। उच्च गोत्र और नीच गोत्र दोनो गोत्र-कर्म को अवान्तर प्रकृतियाँ है। अवान्तर प्रकृतियो का एक-दूसरी के रूप मे सक्रमण हो सकता है। यह बात सिद्धान्त को जानने वाले भली-भाति समझ सकते है।

हरिकेशी मुनि नीच गोत्र की गठरी अपने सिर पर रखकर छठे गुण-स्थान की ऊँचाई पर नही चढे थे। यह बात इतनी ठोस और सत्य है कि जब तक आप शास्त्र को प्रमाण मानने मे इन्कार न कर दे, तब तक इससे भी

---

* आध्यात्मिक विकासक्रम की भूमिकाओ में से एक सर्वविरति रूप पूर्ण चारित्र की भूमिका, जो साधु की भूमिका कहलाती है।

इन्कार नहीं कर सकते। यदि आप शास्त्र के निर्णय को स्थायी रूप से कायम रखना चाहते हैं तो आपको उच्च-गोत्र और नीच-गोत्र के आजीवन स्वामित्व की मान्यता को खत्म करना ही होगा।

दूसरी बात यह है कि उच्च-गोत्र और नीच-गोत्र का छुआछूत के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। छुआछूत तो केवल लौकिक कल्पना मात्र है। जो कष्ट में पड़ा है और बेहोश हो रहा है आप उसके पास खड़े-खड़े टिकुर-टिकुर देखते हैं और अछूत समझकर उसे हाथ नहीं लगा सकते। कोई भी सच्चा सिद्धान्त इस धारणा का समर्थन नहीं करेगा। सच्चे शास्त्र इस निद्य व्यवहार का अनुमोदन कभी नहीं करते। जब हम छुआछूत के सम्बन्ध में विचार करते हैं तो ज्ञात होता है कि छुआछूत की कल्पना के साथ गोत्र-कर्म का कोई सम्बन्ध नहीं है। गाय भैंस घोड़ा हाथी आदि जितने भी पशु हैं उनका शास्त्रों के अनुसार आजन्म नीच-गोत्र रहता है। किसी भी पशु में उच्च-गोत्र नहीं माना गया है। यदि नीच गोत्री होने मात्र से कोई अछूत हो जाता है तो सभी पशु अछूत होने चाहिएँ। गाय और भैंस भी अछूत होने चाहिएँ। किन्तु उनके दूध को तो आप हजम कर जाते हैं और फिर मनुष्य के लिए छुआछूत की बातें करते हैं! घोड़े पर सवार होते हैं और हाथी पर बैठने में भी अपना सौभाग्य मानते हैं! उस समय वे क्यों भूल जाते हैं कि ये पशु नीच-गोत्री हैं और इस कारण अछूत हैं—यदि इन्हें छुएँगे तो धर्म डूब जाएगा और जाति विजाति हो जाएगी।

उसे सम्यग् दृष्टि प्राप्त हो गई है तो वह मनुष्य नहीं बल्कि देवता है। सोमसूर देव उसे देवता कहते हैं। उसके भीतर भी दिव्य ज्योति ठीक उसी प्रकार झलक रही है जैसे राख से ढंके हुए अङ्गार में ज्योति विद्यमान रहती है और भीतर ही भीतर चमकती है।

मिथ्यादृष्टि देवता की तुलना में भी सम्यग्दृष्टि शूद्र कहीं अधिक ऊँचा है। यदि ऐसा न माना जायगा तो सद्गुणों की प्रतिष्ठा समाप्त हो जायगी। लोग जाति और सम्पत्ति को ही पूजने और गुणों की उपेक्षा करने। गुणों की कक्षा नीची हो जाएगी और उनके प्रति आदर का भाव भी समाप्त हो जाएगा।

जिस जाति में गुणों का आदर होता है उसमें सद्गुण सदाचार और ब्रह्मचर्या सर्वत्र पनपती हैं। दुर्भाग्य से हम उच्च-जाति वाले तथाकथित सदाचारी नीच-जाति वालों को समाज सेवा और धर्म साधना में भी अग्रसर नहीं होने देते और उन्हें मजबूर करते हैं कि वे वहीं के वहीं सर्वथा अलग अलग पड़े रहें।

एक बार मैं विहार कर रहा था। धूप कुछ तेज पड़ रही थी फलतः विश्राम कर लेना चाहा। रास्ते में एक तिदरा आया। तिदरे के सामने ही कुछ वृक्ष थे। विश्राम करने के लिए मैं उन वृक्षों की छाया में बैठने लगा तो साथ के एक श्रावक भाई ने कहा—महाराज! आपको छाया में बैठना हो तो आगे बैठिए यहाँ मत बैठिए!

मैंने कहा—यहाँ ऐसी क्या बात है?

कितने आश्चर्य और दुःख की बात है कि पशुओं को छूने वाले, उनका दूध पीने वाले, उन्हें मल-मल कर स्नान कराने वाले और उन पर सवारी करने वाले लोग ही जब मनुष्य का प्रश्न सामने आता है तो नीच-गोत्र की बात कहकर और अछूतपन की कल्पना करके अपने कर्तव्य से भ्रष्ट होते हैं, अपने विवेक का दिवाला निकालते हैं, न्याय और नीति का गला घोटते हैं, और धर्म से दूर भागते हैं। किन्तु सिद्धान्त की जो वास्तविकता है, उसी का सर्वतोभावेन अंगीकार करना, हमारा मुख्य कर्तव्य है।

हाँ, तो मैं कह रहा था कि जैन-धर्म एक ही सत्य-संदेश लेकर आया है और वह सन्देश सद्गुणों का है। चाहे कोई कितना ही पापी क्यों न रहा हो, वह जब तक दुराचारी है तभी तक पापी है। किन्तु ज्यों ही वह सदाचार की श्रेष्ठ भूमिका पर आता है, और उसके जीवन में सदाचार की सुगन्ध फैल जाती है तो वह ऊपर उठता है और उसके लिए मोक्ष का दरवाजा भी खुल जाता है। जैन-धर्म यह कभी नहीं कहता कि मोक्ष ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्य को ही मिलेगा, और शूद्र के लिये मोक्ष के मन्दिर पर कड़ा प्रतिबन्ध है। इस सम्बन्ध में हमारे आचार्य समन्तभद्र ने कहा है —

सम्यग्दर्शनसम्पन्नमपि मातङ्गदेहजम् ।
देवा देवं विदुर्भस्मगूढाङ्गारान्तरौजसम् ॥

—रत्नकरण्डश्रावकाचार,

अर्थात्—अगर कोई चाण्डाल से भी पैदा हुआ है किन्तु

उसे सम्यग् दृष्टि प्राप्त हो गई है तो वह मनुष्य नहीं बल्कि देवता है! तीर्थङ्कर देव उसे देवता कहते हैं। उसके भीतर भी दिव्य ज्योति ठीक उसी प्रकार झलक रही है जैसे राख से ढंके हुए अङ्गार में ज्योति विद्यमान रहती है और भीतर ही भीतर चमकती है।

मिथ्यादृष्टि देवता की तुलना में भी सम्यग दृष्टि शूद्र कहीं अधिक ऊँचा है। यदि ऐसा न माना जायगा तो सद्‌गुणों की प्रतिष्ठा समाप्त हो जायगी। लोग जाति और सम्पत्ति को ही पूजेंगे और गुणों की उपेक्षा करेंगे। गुणों की कक्षा नीची हो जाएगी और उनके प्रति आदर का भाव भी समाप्त हो जाएगा।

जिस जाति में गुणों का आदर होता है उसमें सद्‌गुण सदाचार और अच्छाइयाँ सर्वत्र पनपती हैं। दुर्भाग्य से हम उच्च-जाति वाले तथाकथित सदाचारी नीच-जाति वालों को समाज सेवा और धर्म साधना में भी अग्रसर नहीं होने देते और उन्हें मजबूर करते हैं कि वे वहीं के वहीं सर्वथा अलग अलग खड़े रहें।

एक बार मैं विहार कर रहा था। धूप कुछ तेज पड़ रही थी फलतः विश्राम कर लेना चाहा। रास्ते में एक तिदरा आया। तिदरे के सामने ही कुछ वृक्ष थे। विश्राम करने के लिए मैं उन वृक्षों की छाया में बैठने लगा तो साथ के एक श्रावक भाई ने कहा—महाराज! आपको छाया में बैठना हो तो आगे बैठिए यहाँ मत बैठिए!

मैंने कहा—यहाँ ऐसी क्या बात है?

तब वह बोला—आपको मालूम नही कि यह तिदरा, वृक्ष और कुँआ एक वेश्या की सम्पत्ति से बने हैं। वेश्या, पहले वेश्यावृत्ति करती थी किन्तु बाद मे वह प्रभु की भक्त पुजारिन बन गई और जब ईश्वर-भक्ति मे लग गई तो उसने सोचा कि कुछ परोपकार का काम करूँ। इसी विचार से प्रेरित होकर उसने वेश्यावृत्ति से कमाए हुए अपने धन से ये सब बनवाए हैं। जब ऐसे निकृष्ट धन से बनवाये गए हैं तो फिर आप सरीखे सत को यहाँ नही बैठना चाहिए।

मैंने सोचा—एक तरफ तो यह कहता है कि वेश्या बदल गई, भक्त बन गई और जब उसमे सद्बुद्धि जागृत हुई तो उसने अपने पिछले आचरण के प्रायश्चित्त के रूप मे यह सत्कार्य किया और दूसरी ओर यहाँ बैठने से भी परहेज करने को कहता है ? दुर्भाग्य है हमारे समाज का कि सैकडो लोग उस कुँए का पानी भी नही पीते और तिदरे मे बैठने तथा वृक्ष की छाया मे विश्राम लेने मे भी पाप समझते हैं। ऐसे अभागे लोगो को आप दान और पुण्य भी नही करने देते। क्या उनका दान और पुण्य भी अपवित्र हैं ? बस, आपके ही हाथ की कमाई पवित्र है, चाहे वह जनता का रक्त-शोषण करके ही क्यो न एकत्र की गई हो ?

वास्तव मे वेश्या की कमाई, गलत कमाई थी, किन्तु बाद मे उसके अन्दर जब सद्बुद्धि जागृत हो गई और उसने प्रायश्चित्त के रूप मे सारा धन सत्कर्म मे लगा दिया, तो क्या हमे अब भी उससे घृणा करनी चाहिए ?

वेश्या का पिछला जीवन पापमय अवश्य रहा किन्तु जब उसने अपने जीवन का मोड़ लिया और वह उस पाप से मुक्त भी हो गई तब फिर उससे घृणा करने वाले और उस घृणा की दृष्टि से देखने वालों को क्या कहा जाय ? ईर्ष्या और घृणा यदि पाप है तो वे वर्त्तमान में भी पाप में पड़े हुए हैं और आन्तरिक हिंसा के शिकार हो रहे हैं। विवकशील पुरुषों की दृष्टि में तो उस वेश्या की अपेक्षा भी वे विचार-दरिद्र अधिक दया के पात्र हैं।

हाँ तो अभिप्राय यही है कि जहाँ ईर्ष्या है द्वेष है घृणा है मिथ्या अहंकार है और मनुष्य के प्रति अपमान की हीन भावना है वहाँ हिंसा है। जब हम हिंसा के स्वरूप पर विचार करें तो इस भयानक हिंसा को न भूल जाएँ और जब अहिंसा की साधना के लिए तैयार हों तो पहले आन्तरिक हिंसा को दूर करें चित्त को पूर्णत निर्मल बनाएँ, कम से कम समग्र मानव-जाति को प्रेम एवं मित्रता की उच्च भावना से देखें और तब क्रमश आगे बढ़ते-बढ़ते अहिंसा के वरिष्ठ आराधक बनें।

—: ४ :—

पवित्रता का मूल स्रोत

जब कभी हम अपने जीवन के अन्तरग मे पहुँचते हैं और अपने जीवन के मर्म को छूने की चेष्टा करते हैं तो प्रतीत हुए बिना नही रहता कि जीवन की पगडडियाँ भिन्न-भिन्न नही है। सब की एक ही राह है और वह है—जीवन की पवित्रता। बाहर मे भले ही हम अलग-अलग रूप मे चलते हैं और अलग-अलग रूप मे अपनी मजिल भी तय कर रहे है—सम्प्रदाय के रूप मे, धर्म, मत, पथ और जातियो के रूप मे बाहर की राहे बहुत-सी हैं, किन्तु, जीवन के अन्दर की राह तो एक ही है।

जीवन की पवित्रता के पथ पर जो पथिक हैं वे अपना उत्थान करते हैं। और जो इस राह के राही नही हैं, वे बाहर मे चाहे जैसा जीवन बिताएँ, अन्तरग मे यदि पवित्रता की भावना नही है, तो जीवन-विकास की सही दिशा मे दृढता के साथ कदम नही बढा सकते।

वस्तुत अहिंसा ही पवित्रता की सबसे बडी एव सुनिश्चित पगडडी है। हमे जो मनुष्य-जीवन मिला है वह सुगमता से नही मिला, अपितु पूर्व-जन्म के सचित पुण्य-

कर्मों तथा कठिन साधना के प्रतिफल में मिला है। अतः इसकी सार्थकता के लिए यह विचार जरूरी है कि इसकी उपयोगिता तथा उद्देश्य क्या है? हमें इस जीवन का उपयोग संसार के कल्याण के लिए करना है जनता के दुःख-दर्द को कम करने के लिए करना है अपने जीवन को सद्गुणों की सुगन्ध से पूर्ण कर दुनिया में फैली सामाजिक कुरीतियों की दुर्गन्ध को दूर करने के लिए करना है अथवा हम इस नर जन्म के द्वारा समाज की प्रगति में रोड़े अटकाना है और समाज की कठिनाइयों में अपनी ओर से एक नई बढ़ाकर कठिनाइयों के जाल को सुदृढ़ करना है?

इस सम्बन्ध में भगवान् महावीर का एक ही सुनिश्चित मार्ग है और वह मार्ग यह है कि—'तुमने जो जीवन पाया है उसका उपयोग प्राणि-संसार की अन्तरंग और बाह्य दोनों ही तरह की समस्याओं को सुलझाने के लिए करो। यदि समस्याएं पारिवारिक भूलों से पैदा हुई हैं तो उन भूलों की खोज करो। और यदि वे समाज की भूलें हैं तो उन्हें भी ठीक करो। इसी प्रकार से तुम्हारे देश में या आस-पास के संसार में जो भूलें या गलतियाँ हो गई हों और जिनके कारण मानव-जीवन में कांटे पैदा हो गए हों उनको भी एक-एक करके चुनना और जीवन-मार्ग से अलग करना है। जीवन-मार्ग को स्वयं अपने लिए और दूसरों के लिए भी साफ एवं सरल बनाना ही मनुष्य जीवन का मूल ध्येय है।

इस प्रकार अहिंसा अपनी महती उपयोगिता के अनुसार फूलों की राह है कांटों की नहीं। कहने को तो हमें कठिनाई

मालूम होती है और जब-जब हम अहिंसा के मार्ग पर चलने का प्रयत्न करते है और चलते हैं तो ऐसा मालूम होता है कि यह जीवन की महज सुन्दर राह नही है, किन्तु जीवन यदि चलेगा तो अहिंसा के मार्ग पर ही चलेगा। हिंसा के द्वारा जीवन मे कठिनाइयाँ ही बढती हैं, उसके द्वारा किसी कठिनाई को किसी भी अश मे हल कर सकना बिल्कुल सम्भव नही है। अतएव 'हिंसा' और 'अहिंसा' को आज भली-भाँति समझ लेना है। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए सामाजिक हिंसा का विस्तृत रूप पिछले प्रकरण मे प्रस्तुत किया गया है और आज फिर उसी विषय पर विचार किया जाएगा। हिंसा के विविध रूपो को समझे बिना अहिंसा को पूरी तरह समझा नही जा सकता।

हाँ, तो जैन-धर्म ससार को एक सन्देश देने के लिए आया है कि—'जितने भी मनुष्य है, वे चाहे ससार के एक छोर से दूसरे छोर तक कही भी क्यो न फैले हो, सब मनुष्य के रूप में एक हैं। उनकी जाति और वर्ग मूलत अलग-अलग नही हैं। उनका अलग-अलग कोई समूह नही है। विभिन्न जातियो के रूप मे जो समूह आज बन गए हैं, वे सब विभिन्न प्रकार के उद्योग-धन्धो को लेकर ही बने हैं। आखिर, मनुष्य को जिन्दगी गुजारनी है तो उसे पेट भरने के लिए कोई न कोई उपयोगी धन्धा करना ही पडता है। कोई कपडे का व्यापार करता है, कोई अन्न का व्यापार करता है, कोई दफ्तर जाता है और कोई कुछ और कर लेता है। यह तो जीवन की सामान्य समस्याओ को हल करने के सामान्य तरीके हैं।

किन्तु इन तरीकों के विषय में मनुष्य ने जो पवित्रता और अपवित्रता के भाव बना लिए हैं कि—अमुक जाति पवित्र है और अमुक जाति अपवित्र है यह कितना भ्रम है ? इस सम्बन्ध में मैं तो अपना यही विचार व्यक्त करना चाहूँगा कि यह कोरा मिथ्या अहंकार है और कुछ भी नहीं है।

मनुष्य के जीवन में अपने आपको श्रेष्ठ और ऊँचा समझने की एक वृत्ति है और वह वृत्ति छोटे से छोटे बच्चे में प्रत्येक नौजवान में और बूढ़े में भी एक-सी देखी जाती है। जहाँ वह अपने अभिमान को चोट खाते देखता है वहीं गड़बड़ा जाता है और जब कभी दूसरों के सामने अपना अपमान होते देखता है तो आपे में नहीं रहता। इस प्रकार मनुष्य की प्रकृति में एक भावना विद्यमान है, जो अन्दर ही अन्दर बचपन से ही चली आ रही है। मनुष्य के स्वभाव में अपने आपको श्रेष्ठ समझने का जो अहंभाव है वह चारों ओर से उसका पोषण करना चाहता है। किन्तु यह विचार धारा यदि अपने आप तक ही सीमित है तो बुरी नहीं है।

मेरा ऐसा भी विचार है कि भारतवर्ष के कुछ लोगों में एक बात और पाई जाती है। वे अपने आपको तुच्छ और दीन-हीन समझने की हीन मनोवृत्ति से घिरे रहते हैं। वे अपने में दुनिया भर के पाप और बुराइयाँ समझ कर चलते हैं। इसी भावना का यह दुःखद परिणाम है कि ऐसे लोग जब चलते हैं, तब रोते और गिड़गिड़ाते हुए दिखाई देते हैं। उनमें आत्म-विश्वास नहीं होता। आत्मा की आध्यात्मिक शक्ति के प्रति उनके मन में दृढ़ आस्था का अभाव रहता

हैं। फलत मानव की यह हीन वृत्ति अभीष्ट लक्ष्य की ओर दृढता मे कदम बढाने मे सदैव बाधक होती है।

मनुष्य के भीतर जो 'अहम्' है अथवा 'मैं' है, वही स्वय आत्मा है। आप 'अहम्' को अलग नही कर सकते, 'मैं' को त्याग नहीं सकते। क्योंकि 'अहम्' को त्याग करने का विचार वाला तो आत्मा है, और आत्मा भला आत्मा का त्याग कैसे कर सकता है? त्याग करने वाला और जिसे त्याग करना है, अर्थात्—त्यागी और त्याज्य वहां दोनो एक ही हैं। अतएव अपने 'अहम्' का त्यागना न तो शक्य है, और न वांछनीय ही है। अपने आपको उत्कृष्ट समझने की बुद्धि शुद्ध रूप मे यदि आपके अन्दर उत्पन्न हो जाएगी तो वह आपके जीवन मे अनेक अच्छाइयो का स्रोत बहा देगी। किन्तु जब वही 'अहम्' विकृत और दूषित रूप मे आपके अन्दर उदित होता है तो आपको गिरा देता है। अपने आपको श्रेष्ठ समझने के कारण जब अपनी उच्चता का प्रदशन करने के लिए दूसरो को नीचा समझने की वृत्ति अन्त करण मे उत्पन्न हो जाती है और तदनुसार दूसरो को घृणा की दृष्टि से देखा जाता है, और फलत उनको अपवित्र भी मान लिया जाता है, तो समझ लीजिए कि आपका 'अहम्, शुद्ध रूप मे नही जगा है। वह पूर्णत विकृत और दूषित हो गया है। वह आपके जीवन को ऊंचा नहीं उठाएगा और पवित्र भी नही बनाएगा।

जब आप दूसरो को नीचा समझकर ही अपनी उच्चता मान लेते हैं तो इसका अर्थ यह हुआ कि आपके अन्दर

अपनी कोई उच्चता नहीं है और मनमानी उच्चता पर आपने अपने को संतुष्ट कर लिया है। बस यही संतोष आपका प्रबल शत्रु है। वह आपको आगे बढ़ने से रोकता है और ऊँचा भी नहीं बढ़ने देता। अत निश्चित रूप से समझ लीजिए कि आपके जीवन में उच्चता और अपवित्रता यदि सचमुच आन बसी है तो वह दूसरों को नीच और अपवित्र समझने से कभी नहीं आएगी बल्कि आप स्वय नीचे गिरते जाएँगे और एक दिन अपने को अध पतन के गर्त मे पाएँगे।

जैन-धर्म मनुष्य के सामने सदैव यही सन्देश रखता आया है कि— 'मनुष्य ! तू अपने को पवित्र समझ और श्रेष्ठ मान ! तू संसार मे भूलने भटकने के लिए नहीं आया है ! तेरा जीवन रगते और रगड़ खाते बसने के लिए नहीं है। तू, संसार में बहुत श्रेष्ठ बनकर आया है ! अनन्त-अनन्त पुण्यों का सचय होने पर ही तू ने मानव का रूप पाया है। तुझे मानव-जीवन की जो पवित्रता प्राप्त हुई है वह इतनी महान् और दिव्य है कि देवताओं की पवित्रता भी उसके सामने नगण्य है।

अस्तु, जैन धर्म ने आत्म-विश्वास का यह सन्देश देकर मनुष्य के अन्दर में से तुच्छ, दीन हीन और अपने को कुछ भी न समझने की वृत्ति को निकालने का सफल प्रयत्न किया है और उसके शुद्ध 'अहम्' को जगाया है। हमारे जीवन के चारों ओर जैन-धर्म की एक ही आवाज गूंज रही है—

'अप्पा सो परमप्पा।'

अर्थात्—आत्मा ही परमात्मा है और पवित्र आत्मा ही ईश्वर का साक्षात् रूप है।

इस प्रकार जैन-धर्म ने मनुष्य को एक बहुत बडा आदर्श मत्र यह प्रदान किया है कि—"तू नीचे आने के लिए नही, अपितु ऊपर उठने के लिए है। तेरे भीतर असीम सम्भावनाएँ भरी है, असख्य ऊँचाइयाँ विद्यमान हैं और तू आत्मा से परमात्मा बनने के लिए है। तेरे अन्तरतर मे परमात्मा की दिव्य ज्योति जगमगा रही है। गलतियाँ करके तू ने अपनी अन्त-र्ज्योति पर धूल डाल रखी है। इसलिये वह दिव्य प्रकाश मन्द हो गया है। तेरा काम कोई नई चीज प्राप्त करना नही है। तुझे अपने अन्त पट के ऊपर जमी हुई धूल को ही अलग कर देना है, और ज्यो ही वह धूल अलग होगी, तुझे जो पाना है वह सब अन्दर ही प्राप्त हो जाएगा। वह बाहर से नही मिलेगा। तुझे यदि भगवान् महावीर बनना है तो बन सकता है, और महात्मा बुद्ध, राम या कृष्ण जो भी बनना है वही बन सकता है। बस, अन्त पट पर जमी हुई धूल को विवेक के झाडन से झाड दे। एक कवि ने कहा भी है —

"पास ही रे हीरे की खान,
खोजता उसे कहाँ नादान।"
—निराला

यह बात हमारे सामने प्राय निरन्तर आती रही है कि जैन-धर्म और भारतीय दर्शन ने मानव-जाति के समक्ष बहुत बडी पवित्रता का भाव उपस्थित किया है। मनुष्य अपने अहम् स्वरूप को भूल गया था और अपनी दिव्य ज्योति को

उसने भुला दिया था। जैन-धर्म ने पुकार कर कहा—'तू जीवन की राह का भूला हुआ राही है। सही पगडंडी को पहचान ले और उस पर बढ़ चल फिर भला तेरी मंजिल दूर कहाँ है ?'

वस्तुतः मनुष्य एक राह-भूला राही है। परन्तु उन भूलों की नीची तह में प्रमस्त ज्योतिर्मय चेतना का जो पुञ्ज दबा पड़ा है उससे सदाकदा पवित्रता की मंद्र और मुन्दर ध्वनि उठा करती है। दुर्भाग्य से मनुष्य उस आवाज को सुनकर भी गलत समझ लेता है। वह अपने पुरुषार्थ से और सत् प्रयत्नों से ऊँचा उठने की चेष्टा तो कम करता है किन्तु दूसरों को नीच और उनकी तुलना में अपने को उच्च समझने की उत्कट कामना करता है। इसी भूल ने जात-पाँत की भावना को पैदा किया है। इसी भूल ने एक वर्ग को ऊँचा और दूसरे वर्ग को नीचा समझने की भ्रामक प्रेरणा दी है। दूसरों को नीचा समझ लेने से वास्तव में वे नीचे नहीं हो जाते अपितु नीचा समझने वाला ही अवश्य नीचा बन जाता है क्योंकि वह जीवन की वास्तविक उच्चता को प्राप्त करने का प्रयत्न ही नहीं करता। वह तो अपनी कल्पित ऊँचाई में ही भूला रहता है। अतएव जिसे वास्तव में ऊपर उठना है उसे अपनी यह भूल सुधार लेनी होगी। इसके बिना न तो कोई व्यक्ति अप्ठत्व पा सकता है और न समाज अथवा कोई दश ही उन्नति के शिखर पर पहुँच सकता है।

जैन-धर्म कहता है कि मनुष्य-जाति अपने आप में पवित्र है फलतः सभी मनुष्य पवित्र हैं। जो भूलें हैं गलतियाँ हैं वे

ही अपवित्र है। इसलिये वह दुराचारी से भी घृणा करना नही सिखाता। उसने बताया है कि चोर से घृणा मत करो, अपितु चोरी से घृणा करो। चोर तो आत्मा है और आत्मा कभी बुरा नही होता। जो तत्त्व तुम्हारे अन्दर है, वही चोर के अन्दर भी है। जो अच्छाइयाँ अपने में मानते हो, वही चोर में भी विद्यमान हैं। उसकी अच्छाइयाँ यदि चोरी के कारण छिप गई हैं तो आप अपनी अच्छाइयो को घृणा और द्वेष से छिपाने का, दबाने का क्यो प्रयत्न करते हो ? इसके द्वारा तुम्हारे अन्दर कोई पवित्रता आने वाली नही है। हाँ, यदि आप चोरी को बुरा समझेंगे और चोर को घृणा की नही, किन्तु दया की दृष्टि से देखेंगे तो आप मे अवश्य ही पवित्रता जागृत हो उठेगी।

एक आदमी शराव पीता है। आपकी दृष्टि मे वह गिर जाता है, किन्तु कल शराब छोड देता है और सभ्यता एव शिष्टता के सही मार्ग पर आ जाता है, अपने जीवन को ठीक रूप से गुजारने लगता है तो वह अच्छाई की दृष्टि से देखा जाता है या नही ? अवश्य ही, जव वह बुराई को छोड देता है तो ऊँचो निगाह से देखा जाता है। वास्तव मे शराब बुरी चीज है, अत वह कभी ठीक नही होने वाली है। चाहे वह ब्राह्मण के हाथ मे हो या शूद्र के हाथ मे, महल मे रखी हो या झोपडी मे, बुरी वस्तु, बुरी ही रहेगी। वह पवित्र बनने वाली नही है। किन्तु शराब पीना छोड कर आदमी पवित्र वन सकता है। चोर यदि चोरी करना छोड देता है तो पवित्र बन जाता है। इसी प्रकार दुराचारी भी दुराचार को

त्याग कर पवित्र बन सकता है।

हाँ तो जैन-धर्म ने बताया कि—तेरी घृणा व्यक्ति के गलत कार्यों पर हो व्यक्ति पर नहीं। चोर ने चोरी करना छोड़ दिया है शराबी ने शराब पीना त्याग दिया है और दुराचारी भी दुराचार से दूर हो गया है फिर भी यदि हम उसके प्रति घृणा नहीं त्याग सकते तो समझ लीजिए कि हम अहिंसा के मार्ग पर नहीं चल रहे हैं। अहिंसा की दृष्टि तो इतनी विशाल है कि हम पापी से पापी और दुराचारी से दुराचारी के प्रति भी घृणा का भाव भूल से भी उत्पन्न न होने दे। किन्तु दुर्भाग्य से आज समाज के पास अहिंसा की वह दृष्टि नहीं है फलतः ऐसी बुराइयाँ पैदा हो गई हैं जिनके उन्मूलन के लिए हमें घोर संघर्ष करना पड़ रहा है और यह संघर्ष सफलता प्राप्ति के अन्तिम क्षण तक जारी भी रहेगा।

आज जिधर भी दृष्टि दौड़ाते हैं उधर ही घृणा और द्वेष के अशुभ चिन्ह दिखाई देते हैं। वस्तुतः मन की संकीर्णता ही सबसे बड़ी और व्यापक हिंसा है। मनुष्य मनुष्य से घृणा और द्वेष कर रहा है। यह हमारे वर्ग का है तो हम उस पर प्रेम बरसाएँगे और दूसरे वर्ग का है तो द्वेष भाव प्रदर्शित करेंगे। जात-पाँत के नाम पर प्रान्त के नाम पर और सम्प्रदाय के नाम पर—चारों ओर से हम जीवन में इतनी घृणा प्रसारित कर चुके हैं कि यदि शीघ्र ही उसको दूर न कर सके तो हमारे जीवन का मार्ग प्रशस्त नहीं हो सकेगा।

मैं पूछना चाहूँगा कि मनुष्य जन्म से ऊँचा-नीचा होता

है या कार्य से ? यदि कोई जन्म से श्रेष्ठ होता है तो जैन-दृष्टि से रावण क्षत्रिय था और वैदिक दृष्टि से ब्राह्मण था, अत उसमे जन्मजात पवित्रता और उच्चता विद्यमान थी। किन्तु फिर भी उसे मामाजिक घृणा क्यो मिली ? भारत का इतिहास लिखने वाला प्रत्येक इतिहासकार रावण के प्रति क्यो व्यापक घृणा व्यक्त करता आ रहा है ? अभिप्राय यही है कि जन्म से कोई ऊँचाई नही आती। यही कारण है कि जब भी कभी जन्मजात उच्च कहलाने वाला व्यक्ति गलत मार्ग पर चलता मालूम होता है, भारतीय इतिहासकार उस दुराचार की निंदा करने को तैयार होता है और उस बुराई का तिरस्कार करने में अणुमात्र भी सकोच अनुभव नही करता। इतिहास ने यह नही देखा कि रावण क्षत्रिय था या ब्राह्मण। उसका जन्मजात क्षत्रियत्व या ब्राह्मणत्व सामने नही आया किन्तु उसका कर्म ही प्रकाश मे आया। वही जाचा और परखा गया।

अब दूसरी ओर भी देखिए। बाल्मीकि अपने प्राथमिक जीवन मे लुटेरे थे। उन्होने दूसरो को मारना और दूसरो की जेब टटोलना ही सीखा था। इसके सिवाय उनके सामने जीवन-यापन का दूसरा रास्ता नही था और उसी पर विना किसी हिचकिचाहट के चले जा रहे थे। उनके हाथ खून से भरे रहते थे। किन्तु जब जीवन की पवित्र राह मिली और उन्होने उस पर पदार्पण किया तो अपनी परम्परागत सभ्यता और सस्कृति के नाते भारतीय समाज ने उन्हे ऋषि और महर्षि की पदवी दी और सत-समाज मे उन्हे आदर का स्थान मिला।

जैन-दर्शन के अनुसार हरिकेशी चाण्डाल-कुल में उत्पन्न हुए और सब ओर से उन्हें भर्त्सना और घृणा मिली। वे जहाँ कहीं भी गए अपमान-रूप विष के प्यालों से ही उनका स्वागत हुआ। कहीं भी समभाव-सूचक अमृत का प्याला नहीं मिला। पर जब वे जीवन की पवित्रता के सही मार्ग पर आए तो वन्दनीय और पूजनीय हो गए। देवताओं ने उनके चरणों में मस्तक झुकाया और तिरस्कार करने वाले ब्राह्मणों ने भी उनकी पूजा और स्तुति की।

अर्जुन माली की जीवन-कथा क्या आप से छिपी हुई है ? नर-हत्या जैसा जघन्य कर्म करने वाला और हिंसक वृत्ति में आकण्ठ डूबा हुआ अर्जुन माली एक दिन मुनि के महान् पद पर प्रतिष्ठित होता है भगवान् महावीर उसे प्रेम से अपनाते हैं और वह जीवन की पवित्रता प्राप्त करके महान् विभूति बन जाता है। यह सब किसकी विशेषता थी ? यह विशेषता जन्म की नहीं अपितु कर्म की ही थी।

सन्त जब मिलते हैं तो कई लोग सर्वप्रथम उनकी जाति पूछ बैठते हैं, और कोई बात पूछना उन्हें नहीं सूझता। कोई-कोई उनका खानदान और कुल भी पूछ लेते हैं। पर सोचना यह है कि क्या ये सब बातें साधु से पूछने की हैं ? साधु तो अपनी पहली दुनिया को भूल ही जाता है। उसे स्मरण करने का अधिकार भी नहीं कि वह पहले क्या था ? किस रूप में था ? ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य या शूद्र क्या था ? इन सभी शृंखलाओं से मुक्त होकर उसने नया जन्म लिया है। जब कोई मनुष्य यहाँ जन्म लेता है तो उसे अपने पिछले

जन्म की जाति, खानदान और कुल आदि का स्मरण नहीं रहता। प्रकृति उसे पूर्व जन्म की स्मृति नहीं रहने देती और वर्त्तमान का दृश्य ही उसके सामने खड़ा हो जाता है। इसी प्रकार जब कोई व्यक्ति दीक्षा लेता है तो वह भी एक प्रकार से नया जन्म पाता है, नए क्षेत्र में प्रवेश करता है। नई जिन्दगी पाकर पुरानी जिन्दगी को भुला देता है। वह जिस महल को छोड़कर आया है, यदि उसे अपने दिमाग से नहीं निकाल सका है, और जिस कुल में से आया है, यदि उसे नहीं भुला सका है तो जैन-धर्म कहता है कि उसका नया जन्म नहीं हुआ है, वह साधु नहीं बन सका है। सच्चा साधु दीक्षा लेने के बाद 'द्विजन्मा' हो जाता है। पर आज तो वह उसी पुराने जन्म के संस्कारों में उलझा रहता है। उन्हीं संस्कारों को अपने जीवन पर लादे हुए चल रहा है और जब यही प्रक्रिया चालू है तो जीवन का जो महान् आदर्श आना चाहिए, वह नहीं आ पाता।

*'अप्पाणं वोसिरामि' कहकर साधु ने पुरानी दुनिया के खोल को तोड़ फेंका है। उसके सामने चाहे महल हो, या झोंपड़ी हो दोनों समान हैं। कोई उसे अपमानित करता हो या कोई सम्मान देता हो, दोनों ही उसकी दृष्टि में एक समान हैं। उसके लिए मानापमान की ये सब खाइयाँ कभी की पट चुकी हैं और अब वह इन सब से अतीत हो चुका है। साधु ही एकमात्र उसकी जाति है।

* मुनि दीक्षा लेते समय प्रतिज्ञा के रूप में बोले जाने वाले एक पाठ विशेष का अंश।

वहाँ दूसरी कोई जाति ही नहीं है। किन्तु पूछने वाले वही पुरानी दुनिया की कहानी पूछते हैं और पुराने संस्कारों की याद ताजा करते हैं जिन्हें बिल्कुल भुला देना चाहिए। हम तो यह चाहते हैं कि ऐसी निरर्थक बातों को सारा भारत ही भुला दे। परन्तु यह तो विवेक-बुद्धि पर आश्रित अभी दूर की बात है। वर्तमान में जब साधु भी इन्हें नहीं भुला सके हैं तो फिर दूसरे सर्वसाधारण से क्या आशा की जाय? इसकी पुष्टि में संत कबीर कहते हैं —

> जात न पूछो साधु की पूछ लीजिए ज्ञान।
> मोल करो तलवार का पड़ी रहन दो म्यान॥

अर्थात्—किसी साधु की जाति मत पूछिए कि वह ब्राह्मण है या क्षत्रिय? जाति पूछ कर करोगे भी क्या? यदि पूछना ही है तो उसका ज्ञान पूछो उसका आचरण पूछो और यह पूछो कि जीवन की राह पर चलकर उसने क्या पाया है? उसमें महक पैदा हुई है या नहीं? और जीवन-फूल खिला है या नहीं? वह जीवन का फल महक दे रहा है या नहीं? जब तलवार म्यान में पड़ी है तो तलवार खरीदने वाला तलवार का मोल करता है या म्यान का? लड़ाई तलवार से होगी या म्यान से? म्यान तो म्यान ही रहेगी उसका अपने आपमें क्या मूल्य है? चाहे म्यान सोने की ही क्यों न हो किन्तु यदि उसमें काठ की तलवार रखी है तो उस म्यान की क्या कीमत होगी?

तो कर्त्तव्य की दृष्टि से जैन-धर्म एक ही बात कहता है कि मनुष्य तेरे विचार कितने ऊँचे और अच्छे हैं और तू ने जीवन

की पवित्रता पाकर उसे जीवन मे कितना साकार किया है ? जिसके पास पवित्र विचार का वैभव है और पवित्र आचार की पूँजी है, निस्सन्देह वही भाग्यशालो है और जैन-धर्म उसी को आदरणीय स्थान देता है।

हमारे यहाँ जो बारह भावनाएँ आती है, उनमें एक अशुचि भावना भी हैं। वह भावना निरन्तर चिन्तन के लिए है और वह चिन्तन अपने शरीर के सम्बन्ध मे है। इस भावना मे अपने शरीर के अशुचि स्वरूप का विचार किया जाता है। ब्राह्मण हो या शूद्र, सभी को समान रूप मे इस भावना के चिन्तन का विधान है। शास्त्र मे कही यह नही बतलाया गया कि ब्राह्मण का शरीर शुचि-पवित्र है और उसे इस भावना की कोई आवश्यकता नही है, और सिर्फ शूद्र के लिए ही यह भावना आवश्यक है। मनुष्य-मात्र का शरीर एक-जैसा है। ऐसा कदापि नही कि शूद्र के शरीर मे रक्त हो, और ब्राह्मण के शरीर मे दूध भरा हो या गगाजल हो। यह बात तो इतनी स्पष्ट है कि इसकी सच्चाई आँखो दिखाई देती है। इसी कारण अशुचि भावना का विधान ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य अथवा शूद्र सभी के लिए समान रूप से मान्य बतलाया गया है। फिर भी लोगो के दिलो मे यह मिथ्या अहकार बैठ गया है कि मेरा शरीर पवित्र है, और दूसरे का अपवित्र है। मै शूद्र को छू लूँगा तो मेरा शरीर अपवित्र हो जायगा।

ससार भर मे अपवित्र से अपवित्र और घिनौनी चीज यदि कोई है, तो वह शरीर ही है। दुनिया भर की अशुचि

और मक्खी इस में भरी पड़ी है! यह हड्डियों का ढाँचा और मांस का लोथ चमड़े से ढका हुआ है और मल-मूत्र आदि घृणित पदार्थों का भण्डार है। फिर इसमें पवित्रता कहाँ से आ गई? यह शरीर जब कभी किसी वस्तु को ग्रहण करता है तो उसको भी अपवित्र बना देता है। चाहे भोजन कितना ही पवित्र और स्वच्छ क्यों न हो जैसे ही यह शरीर के सम्पर्क में आता है गन्दा और दूषित बन जाता है और सड़ जाता है। मनुष्य जिस मकान में रहता है उसके चारों तरफ गन्दगी बिखेरता चलता है और वह गन्दगी शरीर के द्वारा ही तो फैलती है। जब मनुष्य शहर में रहता है तो वहाँ के गली-कूचों की क्या स्थिति होती है? इतनी गन्दगी मलिनता और अपवित्रता वहाँ भर जाती है कि एक वर्ग सफाई करते-करते थक जाता है। मनुष्य अपने आचरण से हवा पानी मकान आदि सभी चीजों को दूषित कर देता है और सड़ा देता है। यह सारे कर्म मनुष्य ही करता है। वह जिस ओर चलता है गन्दगी बिखेरता चलता है।

हाँ तो भगवान् महावीर ने अशुचि को अपने शरीर में ही देखा है। मनुष्य के शरीर से बढ़कर कहीं अशुचि नहीं है। अपने शरीर से चिपटी उस अशुचि को न देखकर शरीर को पवित्र मानना भूल है और सिर्फ दूसरे के शरीर को अपवित्र मानकर अपनी शारीरिक पवित्रता के मिथ्या अहंकार को प्रश्रय देना तो जीवन की एक महान् भूल है।

मनुष्य का शरीर अपवित्र है और वह कभी पवित्र नहीं

हो सकता। हजार वार स्नान करके भी आप उसे पवित्र नही वना सकते। एक आदमी कुल्ला करता है। एक वार नही, सौ वार कुल्ला करता है और समझ लेता है कि मेरा मुँह शुद्ध हो गया। उसके वाद उसी मुँह मे कुल्ला भरकर दूसरे पर थूकता है तो लडाई शुरू होगी या नही ? वहाँ तो लाठियाँ वजने लगती हैं और कहा जाता है कि जूठा पानी मुझ पर डाल दिया।

कुल्ला या अन्य उपायो के द्वारा यदि हजार वार मुँह साफ भी कर लिया तो क्या हुआ ? मुँह तो गन्दा ही रहने वाला है, शरीर स्वभाव से ही गन्दा और अपवित्र है। ससार की सारी अपवित्रता इस शरीर मे भरी पडी है। जीवन की वास्तविक पवित्रता तो आपके मन मे और आपकी आत्मा मे ही हो सकती है, शरीर मे नही। जीवन की शुचिता आप अपने आचार और विचार द्वारा पैदा कर सकते है। और जव तक यह वात नही आएगी, आप चाहे हजार वार गगा मे स्नान कर ले और लाख वार सम्मेत शिखरजी की यात्रा कर आएँ, वह पवित्रता आने वाली नही है।

स्नान से होता क्या है ? पानी का काम तो शरीर के ऊपर फैल कर ऊपरी गन्दगी को दूर कर देना है। मन की गन्दगी को दूर करना उसकी शक्ति से सर्वथा वाहर का काम है। शरीर के भीतर की गन्दगी भी उससे साफ नही हो सकती। ऐसी स्थिति मे जैन-धर्म हमारे सामने यह प्रश्न उपस्थित करता है कि तुम आचार-विचार को महत्व देते हो या जात-पाँत को ? यदि जात-पाँत को महत्व देते हो, तव तो

वह महत्त्व शरीर को ही प्राप्त होता है और शरीर सबका समान है। जैसा ब्राह्मण का है वैसा ही शूद्र का है। यदि ब्राह्मण का शरीर पवित्र है तो शूद्र का भी पवित्र है और यदि शूद्र का अशुचि रूप है तो ब्राह्मण का भी अशुचि रूप है।

भारत का वेदान्त दर्शन आत्माओं में कोई भेद नहीं करता। वह प्रत्येक शरीर में अलग-अलग आत्माएं न मानकर, सब आत्माओं को एक इकाई के रूप में ग्रहण करता है। वह सम्पूर्ण विश्व को ब्रह्म का ही स्वरूप मानता है और कहता है —

ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या।
नेह नानास्ति किञ्चन ॥"

अर्थात्— "इस संसार में परब्रह्म ही सत्य है और उसमें कोई अनेक रूपता नहीं है। अलग-अलग जातियों की जो धारणा है वह मोक्ष का मार्ग नहीं यह तो आसुरी मार्ग है। वेदान्त के आचार्यों ने इतनी बड़ी बात कह दी है फिर भी पुरानी वृत्तियाँ अभी तक मर नहीं रही हैं। आचार्य आनन्दगिरि ने बतलाया है कि आचार्य शंकर एक बार बनारस में थे और गंगा में स्नान करके लौट रहे थे। रास्ते में एक चाण्डाल अपने कुत्तों को साथ लिए, मिल गया। रास्ता सकरा था उसी पर वह सामने की ओर से चला आ रहा था। आचार्य शंकर पवित्रता के चक्र में पड़ गए। क्योंकि चाण्डाल की मुख पर कहीं छाया न पड़ जाय इस विचार से वे खड़े हो गए। पर आचार्य के मनोभाव का अध्ययन कर चाण्डाल भी खड़ा हो गया। आचार्य ने कुछ देर इन्तजार किया किन्तु जब

चाण्डाल मार्ग से अलग नही हुआ तो विवश होकर आचार्य ने कहा—"अरे हट जा, रास्ता छोड दे ! तुझे दीखता नही कि मैं स्नान करके आया हूँ, पवित्र होकर आया हूँ और तू रास्ता रोककर खडा हो गया है ।"

चाण्डाल ने कहा—"महाराज, एक बात पूछना चाहता हूँ । आप हटने को कहते हैं, पर मैं हटूँ कैसे ?* मेरे पास दो पदार्थ हैं—एक आत्मा, और दूसरा शरीर । आत्मा चेतन है, और शरीर जड है । तब इनमे से आप किसे हटाने को कहते हैं ? यदि आत्मा को हटाने के लिए कहते हैं तो आपकी आत्मा और मेरी आत्मा—दोनो एक ही समान है । परब्रह्म के रूप मे जो आत्म-ज्योति आपके अन्दर विराजित है, वही मेरे अन्दर भी विद्यमान है । तो फिर मैं आत्मा को कहाँ ले जाऊँ, और कैसे ले जाऊँ ? आत्मा१ तो व्यापक है और सम्पूर्ण ससार मे समान रूप से व्याप्त है । आप उसे हटाने को कहते तो हैं, किन्तु उसे हटाने की बात मेरी कल्पना से बाहर है ।

---

*—अन्नमयादन्नमयमथवा चैतन्यमेव चैतन्यात्,
द्विजवर ! दूरीकर्तुं वाञ्छसि किं ब्रूहि गच्छ गच्छेति ।
—मनीषा पञ्चक

१ आचार्य शकर वेदान्त मत के अनुयायी थे । वेदान्त की मान्यता के अनुसार, समस्त जड-चेतन विश्व, एक आत्म-तत्त्व का ही नाना रूप से प्रसार है । वस्तुत व्यापक आत्म-तत्त्व के अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं । "ब्रह्म सत्य जगन्मिथ्या, नेह नानास्ति किञ्चन ।"

यदि आप शरीर को हटाने के लिए कहते हैं तो शरीर पंच भूतों से बना है और वह जैसा मेरा है वैसा ही आपका भी है। ऐसा तो है नहीं कि मेरा मांस काला हो और आपका गोरा हो। जो रक्त आपके शरीर में बह रहा है वही मेरे में भी बह रहा है। अत यदि आप शरीर को अलग हटने की बात कहते हैं तो वह मेरी समझ मे नहीं आती कि उसे कैसे अलग किया जाय और क्यों अलग किया जाय ?

आचार्य मानस्थमिरि कहते हैं कि जब यह बात शंकर ने सुनी तो वे आश्चर्य में पड़ गए और उन्होने अपने कान पकड़े। बोले—अभी तक वेदान्त की ऊँची-ऊँची बातें केवल कहने मात्र ही थीं। ससार में एकमात्र परब्रह्म की ही सत्ता है' यह उपदेश ससार को तो खूब अच्छी तरह सुनाया पर अपने मन का काँटा आज तक नहीं निकल सका था। मन का विष-विकार नही गया था। उसे आज आपने निकाल दिया। अतएव आप ही मेरे सच्चे गुरु हैं। आपने मेरे नेत्र खोल दिये हैं—

चाण्डालोऽस्तु स तु द्विजोऽस्तु,
गुरुरित्येषा मनीषा मम।

सत्य के चमत्कार को देखिए कि चाण्डाल को मार्ग से हटाने वाले आचार्य शंकर जरा-सी बात सुनते ही सन्मार्ग पर आ गए, मर आप रास्ते पर कब आएँगे ? आपके दिल का काँटा कब निकलेगा ?

इस प्रकार जातीयता के नाम पर ऊँच-नीच की ये

कल्पित दीवारे खडी करना सामाजिक हिंसा है। निश्चित समझिए कि आपके हृदय मे जितनी ज्यादा सकीर्णता तथा घृणा बढती है, उतनी ही अधिक हिंसा घर करती जाती है। कुछ वर्ष पूर्व विदेशी प्रभुत्व से मुक्त होकर भारत ने राजनीतिक स्वतत्रता तो प्राप्त की, परन्तु वह मानसिक सकीर्णताओ से मुक्त नही हो पाया। जिसका दु खद परिणाम हिन्दुस्तान और पाकिस्तान के बँटवारे के रूप में प्रकट हुआ और रक्त की नदी तक वह निकली ? लाखो और करोडो आदमी इधर से उधर आ-जाकर बर्बाद भी हो गए। यह सब अमानुषिकताएँ किसका नतीजा थी ? मैं तो साहसपूर्वक कहता हूँ कि यह एकमात्र घृणा का ही दुष्परिणाम था। और जब तक यह घृणा दूर नही होगी, तब तक हम छ करोड अछूनो से प्रेम नही कर सकेगे और हिन्दू तथा मुसलमान भी साथ-साथ नही बैठ सकेगें। साराश मे यही पर्याप्त होगा कि जब तक हमारे मन और मस्तिष्क मे किसी भी प्रकार की सकीर्णता रहेगी, तब तक सामाजिक हिसा की यह परम्परा चालू ही रहेगी और एक रूप मे नही, तो दूसरे रूप मे वह सामूहिक घृणा उत्पन्न करती रहेगी।

मनुष्य-जाति आज अनेक टुकडो मे बँट गई है और प्रत्येक टुकडा दूसरे टुकडे के प्रति घृणा का भाव प्रदर्शित करता है। आज कोई किसी के आचार-विचार को नही पूछता है, सिर्फ जाति को ही पूछता है और उसी के आधार पर उच्चता और नीचता की काल्पनिक नाप-तौल करता है। इन कल्पनाओ की बदौलत ही भारत मिट्टी मे मिल गया, परन्तु दुर्भाग्य है कि फिर

भी भारतवासियों ने इतिहास से कोई सबक नहीं सीखा।

जिस दिन भारतवासी मनुष्य के आचार-विचार की इज्जत करेंगे मनुष्य का मनुष्य के रूप में आदर करना सीखेंगे और प्रत्येक मनुष्य दूसरे मनुष्य को भाई की निगाह से देखेगा तभी भारत में 'सामाजिक अहिंसा' की प्रतिष्ठा होगी और उस अहिंसा के फलस्वरूप ही सुख और शान्ति का सचार होगा।

भार्गव जी के वक्तव्य का सार

[कविश्री का प्रवचन सुनने के लिए आज श्री मुकुट बिहारीलाल भार्गव एम ए एल-एल बी तथा स्थानीय एम एल ए आदि अनेक प्रतिष्ठित नागरिक उपस्थित थे। कविश्री का प्रवचन समाप्त होने पर भार्गव जी ने मुक्त कंठ से प्रवचन की सराहना और अनुमोदन करते हुए जो वक्तव्य दिया था उसका सार इस प्रकार है —]

अहिंसा प्रेमी बन्धुओ! सौभाग्यवश मैं आज दूसरी बार भी कविश्री का प्रवचन सुनने के लिए उपस्थित हो सका हूँ। जब पहली बार आया था तो एक विशेष उद्देश्य को लेकर आया था और जानता भी था कि मुझे कुछ कहना है। परन्तु आज यह विचार नहीं था। आज तो एक जिज्ञासु की हैसियत से उपाध्यायश्री के प्रभावशाली और ओजस्वी वचनामृत का पान करने के लिए ही उपस्थित हुआ था।

इसलिए मै कोई तैयारी करके नही आया हूँ।

आप सब भाइयो और बहिनो को मैं अपने से अधिक भाग्यशाली मानता हूँ, जिन्हे प्रतिदिन एक विद्वान और एक विशिष्ट विचारक सत के ओजस्वी भाषण से लाभ उठाने का सुअवसर प्राप्त हो रहा है। निस्सन्देह मै कितना अभागा हूँ कि मुझे ऐसा सुअवसर प्रतिदिन नही मिल पाता। ससार के सैकडो झझटो मे फँसा हुआ हूँ, अत इच्छा रखते हुए भी चन्द मिनिट ही यह लाभ उठा पाया हूं।

आज का प्रवचन सुनकर मै कितना मुग्ध हो सका हूँ? यह आत्मानुभूति का विषय है, जिसकी विस्तृत व्याख्या नही की जा सकती। फिर भी एक सामान्य श्रोता के रूप मे आज के प्रवचन का मेरे मन और मस्तिष्क पर जो प्रभाव पडा है, उसके निष्कर्ष मे यही कहना पर्याप्त समझता हूँ कि आज के प्रवचन की शैली कैसी मनोरम है! चिन्तन और मनन कितना गहन है!! भावना कितनी उदात्त है और विचार कितने ऊँचे हैं!!! इस प्रवचन मे जो उपदेश आए हैं, उनकी लडियाँ मेरे हृदय मे अब भी चमक रही हैं और उस चमक मे इतना उपादेय चमत्कार भी है कि उन पर महीनो विचार करूँ और उनसे लाभ उठाने की कोशिश करूँ तो अभीष्ट लाभ को प्राप्त कर सकता हूँ। ऐसे भाषण न केवल व्यक्ति के जीवन को ही, अपितु समाज और समूचे राष्ट्र को भी समान रूप में ऊँचा उठा सकने मे पूर्णत समर्थ हैं। ये मौलिक विचार और इन विचारो को देने वाले कविश्री सरीखे विशिष्ट विचारक हमारे राष्ट्र की अमूल्य निधि हैं। मेरी

धारणा है कि इस प्रकार के प्रवचन सुनने वाले अगर चाहें तो अपने व्यावहारिक जीवन से अल्प दिनों में ही त्याग और बलिदान के अभीष्ट लक्ष्य को प्राप्त कर सकते हैं।

मैंने आज के प्रवचन से जो कुछ ग्रहण किया है उसके लिए मैं कविश्री के प्रति अपार कृतज्ञता प्रदर्शित करता हूँ।

— ५ —

शोषण भी हिंसा है

'आनन्द' श्रावक अपने जीवन के अन्तिम क्षण तक श्रावक ही रहे, साधु नही बने। फिर भी शास्त्र में उनकी जीवन कहानी विस्तार के साथ दी गई है। भगवान् महावीर के चरणों मे पहुँचकर आनन्द ने जो आदर्श साधना की, यद्यपि वह श्रावक-जीवन की ही साधना थी, फिर भी वह इतनी महान् थी कि शास्त्र मे उसका वर्णन करना आवश्यक समझा गया। इसका मुख्य कारण यही है कि गृहस्थ-दशा मे रहकर भी आनन्द ने अपने कर्त्तव्य को शानदार ढग से पूरा किया। उनकी अहिंसा कैसी थी? उनका सत्य कैसा था? उनके जीवन की पवित्रता कितनी उज्ज्वल थी? और दूसरो के साथ उनके व्यवहार के तरीके कैसे थे? यही सौन्दर्य-भरी सुवास आदर्श जीवन की परिचायक है और इसी के लिए शास्त्र मे उनकी गौरव-पूर्ण जीवन-कथा का उल्लेख अनिवार्य समझा गया। इसीलिए आज भी उनके पुनीत जीवन की स्वर्ण वेदी पर, अपार श्रद्धा भक्ति के साथ, वाणी के पुष्प चढाए जाते हैं।

इस विशाल भू-खण्ड पर अतीत काल में न जाने कितने चक्रवर्ती अर्ध चक्रवर्ती राजा-महाराजा और सेठ-साहूकार आए हैं जिन्होंने अपने पराक्रम और वैभव से जमीन को कम्पित किया जिन्होंने झौंपड़ियों के स्थान पर गगनचुम्बी प्रासाद खड़े किए और हजारों-लाखों को अपने चरणों में आजीवन झुकाए रखा। किन्तु, यह सब वैभव होते हुए भी यदि उन्होंने व्यावहारिक जीवन में सत्कर्म नहीं किए और प्रजा-हित की ओर ध्यान नहीं दिया तो उनका कोई उल्लेख नहीं मिलता इतिहास उनके लिए मूक है। हाँ उन्होंने अपने जीवन में जो गलतियाँ की थीं उनका चित्रण अवश्य मिलता है। उसमें यह दिखाने का प्रयत्न किया गया है कि इतने समृद्धिशाली होते हुए भी और इतनी अनुकूलताएँ प्राप्त करके भी उन्होंने अपनी समृद्धि का और अनुकूलताओं का अच्छे ढंग से उपयोग नहीं किया और इस कारण वे नीचे गिर गए।

रामायण जैन और वैष्णव—दोनों धर्मों मे पढ़ी जाती है। उस समय दो प्रबल शक्तियाँ सामने आई। एक राम' के रूप में और दूसरी 'रावण' के रूप म। एक ओर रावण दुनिया के एक सिरे से दूसरे सिरे को थर्राता हुआ—कंपित करता हुआ आता है और दूसरी ओर उधर राम भी एक सुगठित शक्ति के साथ खड़े हो जाते हैं। जिस प्रकार रावण राजा बनकर सामने आता है वैसे ही राम भी राजा के रूप में सामने आते हैं। दोनों ने तीन खण्ड तक अपना साम्राज्य स्थापित किया था। दोनों में इतनी भौतिक समानताएँ

उसका जीवन सुन्दर है और शानदार ढग से गृहस्थ की गाडी चला रहा है, वह भले ही किसी परिस्थिति-विशेष के कारण धन सग्रह नही कर सका हो, किन्तु न्याय और नीति यदि उसके साथ है तो इस दशा मे भी हम उसकी प्रशसा करेगे। ऐसे भी निस्सहाय लकडहारे हो चुके हैं, जिनकी जिन्दगी का निर्वाह होना मुश्किल था, किन्तु उनमे अच्छाइयाँ थी, तभी तो सन्तो ने उनकी गुण गाथा गाई है।

अभिप्राय यही है कि केवल धन होने से ही कोई प्रशसा का पात्र नही बन जाता और न धन के अभाव में निन्दा का ही पात्र बनता है। इसी प्रकार निर्धन होने से ही कोई प्रशसा या अप्रशसा के योग्य नही हो जाता। जहाँ सद्गुणो के पुष्प हैं, वही प्रशसा की सौरभ है। किन्तु धनवान् या चक्रवर्त्ती होने पर भी यदि उनमे गुण नही हैं तो उनकी प्रशसा नही की गई है। एक ओर चक्रवर्त्ती भरत की प्रशसा से ग्रन्थ पर ग्रन्थ भरे पडे हैं, किन्तु दूसरी ओर अर्ध-चक्रवर्त्ती रावण और चक्रवर्त्ती ब्रह्मदत्त जैसे भी हैं जिन्हे अच्छाई की दृष्टि से नही देखा गया, अपितु जीवन पतित होने पर नरक मे जाने का स्पष्ट उल्लेख किया गया है। उनमे प्रशसा-योग्य गुण नही आए, न न्याय एव नीति ही आई और अपने पूरे जीवन मे वे प्रजा के हित का एक भी कार्य नही कर सके।

जैन-साहित्य मे ब्रह्मदत्त चक्रवर्त्ती का वर्णन आता है। ब्रह्मदत्त भोग परायण व्यक्ति था। वह चक्रवर्त्ती के सिंहासन पर बैठकर भी तदनुकूल अपने को ऊँचा नही उठा सका। उसका झुकाव जितना निज के पोषण मे था, उतना प्रजा के

पोषण में नहीं था।

एक दिन जैन-जगत के प्रख्यात महामुनि चित्त ब्रह्मदत्त से मिले। उन्होंने चक्रवर्ती के समक्ष एक आदर्श रखा कि— यदि तुम ज्यादा कुछ नहीं कर सकते तो कम से कम आर्य-कर्म तो करो प्रजा के ऊपर तो दया करो। जिस प्रजा के खून पसीने की गाढ़ी कमाई से तुम वैभवशाली महल खड़े कर रहे हो उस प्रजा पर तो अनुकम्पा करो —

> जइ तसि भोगे चइउं असत्तो,
> अज्जाइं कम्माइं करेह रायं।
> धम्मे ठिओ सव्वपयाणुकम्पी
> तो होहिसि देवो इओ विउव्वी॥
>
> —उत्तराध्ययन १३ ३२

मुनि कहते हैं- 'यदि तुम प्रजा पर करुणा की एक बूंद भी बरसा सके तो भी अगले जीवन में देवता बन सकोगे! नरक और निगोद में नहीं भटकते फिरोगे! इससे तुम्हारी जिन्दगी यहाँ वहाँ सब जगह आराम से कटेगी।

एक राजा अपनी प्रजा के लिए कल्याण-बुद्धि से काम करता है तो वह यहाँ और आगे भी परम अभ्युदय प्राप्त करता है। उसके चक्रवर्ती होने के नाते हम उसकी प्रशंसा या निन्दा नहीं करते हैं। हम तो केवल गुणों की प्रशंसा और दुर्गुणों की कटु आलोचना करते हैं। यदि कोई गरीब चोरी करता है, दुनिया भर की गुण्डागीरी करता है और बुराइयों से काम लेता है, न तो वह अपनी गरीबी को आनन्द पूर्वक स्वीकार करता है, और न विषम परिस्थितियों से

न्यायपूर्वक सघर्ष ही करता है, ऐसी दशा मे हम उसकी प्रशसा कदापि न करेंगे, उसके अन्याय, अनाचार और गुण्डा-पन की घोर निन्दा ही करेंगे।

जैन-धर्म तो एक ही सन्देश लेकर चला है कि—तुमने ससार को क्या दिया है और ससार से क्या पाया है? क्या तुमने मनुष्य के साथ मनुष्योचित व्यवहार किया है? इन्सान होकर भी इन्सान का का-सा उठना, वैठना, वोलना और चलना सीखा है या नही? यदि सीख लिया है और सदाचरण की परीक्षा मे उत्तीर्ण भी हो चुके हो तो इन मनुष्योचित सद्‌गुणो की तुलना मे तुम्हारी निर्धनता को विल्कुल नगण्य मानकर हम तुम्हारा सम्मान करते हैं। इसके विपरीत यदि जिन्दगी मे गरीव या अमीर रहते हुए भी इन्सानियत का पाठ नही सीखा और इन्सान के साथ इन्सान का-सा मानवीय व्यवहार नही सीखा, तो हम सम्राट् और गरीव दोनो से ही कहेगे कि तुम्हारा व्यावहारिक जीवन गलत और दोषपूर्ण है और तुम हमारी ओर से अशमात्र भी प्रशसा प्राप्त नही कर सकते। जैन-धर्म तुम्हारे लिए प्रशसा का एक शब्द भी नही कह सकता। भगवान् महावीर ने साधुओ से कहा है—

जहा पुण्णस्स कत्थइ, तहा तुच्छस्स कत्थइ।
जहा तुच्छस्स कत्थइ, तहा पुण्णस्स कत्थइ॥

—आचारांग, प्र० श्रु०

यदि तुमको एक भाग्यशाली सम्राट्, सेठ या साहूकार मिल जाए तो तुम दृढतापूर्वक, अपने मन मे किसी भी प्रकार का दबाव न रखते हुए, स्पष्ट भाव से उपदेश दे सकते हो,

और यदि कोई निर्धन मिले तो वही उपदेश उसे भी उसी भाव से दो। जिस प्रेम एवं स्नेह से चक्रवर्ती सम्राट् को उपदेश देते हो वही प्रेम और स्नेह किसी गरीब के लिए भी रखो। अपने अन्तःकरण में दोनों के लिए समान प्रेम और समान स्नेह का आदर्श सन्देश लेकर चलो।

हमें समाज से नहीं किन्तु समाज के अन्तःस्थल में बैठे हुए और समाज को सही मार्ग से विचलित कर कुपथ पर ले जाने वाले कुविचारों से लड़ना है।

भगवान् महावीर के युग में ब्राह्मण जाति की समस्या कितनी उलझी हुई थी? जगह-जगह याज्ञिक हिंसा हो रही थी संहार का नंगा नाच हो रहा था और खून की नदियाँ बह रही थी। परन्तु भगवान् महावीर ने ब्राह्मण जाति का अणुमात्र भी विरोध नहीं किया वरन् उस समय फैली हुई कुरीतियों को सुरीति में एवं दुर्नीति को सुनीति मे परिणत करने के लिए स्पष्टोक्ति से काम लिया। उनके पास यदि राजा श्रेणिक या कोणिक आए तो भी और निर्धन लकड़हारे आए तो भी उन्होंने समान भाव और अदम्य साहस के साथ देश में फैली हुई बुराइयों के विरोध में जोरों से आन्दोलन चालू रखा। इसी प्रकार यदि कभी प्रशंसा का अवसर आया तो राजा की भी प्रशंसा की और गरीब की भी की।

ऐसा प्रलोभनीय वर्ग-भेद एक क्षण में भी प्रकट नहीं हुआ कि किसी राजा की राज्य प्रभुता भगवान् महावीर को प्रभावित कर सकी हो और तदनुसार उन्होंने किसी रंक के प्रति मर्यादा-

पूर्ण व्यवहार किया हो । उनकी निर्मल दृष्टि मे किसी भी प्रकार का भेद-मूलक अपवाद अन्तिम क्षण तक पैदा नही हुआ था ।

हमारे जीवन की जो पृष्ठ-भूमि है, वह तो इतनी ऊँची और विराट है, किन्तु उसकी तुलना मे आज हम इतने नीचे आ गए हैं कि उसको अच्छी तरह छू भी नही सकते हैं । आचरण-हीनता के कारण हमारा कद छोटा हो गया है, जबकि सिद्धान्त का कद बहुत ऊँचा है । जैसे बौना आदमी किसी लम्बे कद वाले के पास खडा हो और वह उसके कंधे को नही छू पाता हो, उसी प्रकार हम आज अहिंसा और सत्य को नही छू पा रहे हैं । अतएव मेरे कथन का आशय यही है कि आपके आचरण का जो कद बौना हो गया है, उसे उत्तम विचारो के द्वारा ऊँचा बनाने की आवश्यकता है । शरीर का कद छोटा है या बडा, इससे कोई प्रयोजन नही है ।

एक बार भगवान् महावीर से पूछा गया कि किस कद वाले को मुक्ति प्राप्त होती है ? तो उन्होने कहा—पांच-सौ धनुष का कद वाला भी मोक्ष पा सकता है और एक बौना भी । हाँ, तो भगवान् ने शरीर के कद को कोई महत्व नही दिया , किन्तु विचारो के कद को महत्वपूर्ण और अनिवार्य माना है । यदि कोई साधक शरीर से बौना है किन्तु उसके विचारो का कद ऊँचा हो गया है, ऊँचा उठते-उठते तेरहवें और फिर चौदहवे गुण-स्थान तक पहुँच गया है तो वह अवश्य मुक्त हो जाएगा । इसके विपरीत पाँच-सौ धनुष का शरीर का कद होने पर भी यदि किसी व्यक्ति के विचारो का कद

छोटा है तो उसे मोक्ष नहीं मिल सकता।

अब हम इस विषय पर विचार करते हैं तो ज्ञात होता है कि शास्त्रों की जो अहिंसा और दया है उसका रूप तो बहुत ऊंचा है। किन्तु आजकल की हमारी अहिंसा और दया का अर्थात्—जिस रूप में आज हम अहिंसा या दया का व्यवहार कर रहे हैं और जिस रूप में उसे समझ रहे हैं उसका रूप बहुत छोटा है। किन्तु जब समाज और राष्ट्र के विचारों का रूप शास्त्रीय अहिंसा के रूप की ऊँचाई पर पहुँचेगा तभी वे अपना उत्कर्ष साध सकेंगे।

आज सारे संसार में वर्ग-संघर्ष चल रहा है। यदि अकेला इन्सान है तो उसका मन भी अस्तव्यस्त है और यदि परिवार में दस-बीस आदमी हैं तो वे सब भी बेचैन हैं। सारे समाज में देश में और छोटी या बड़ी प्रजा मे चारों ओर संघर्ष है। प्रत्येक व्यक्ति के मन में अशान्ति की आग सुलग रही है। मानो हम सब बीमार बन गए हैं। प्रत्येक व्यक्ति, प्रत्येक समाज और प्रत्येक राष्ट्र आज इसी बीमारी का अनुभव कर रहा है।

अस्तु, प्रश्न यह है कि इस आग और बीमारी का मूल कारण क्या है? इन्सान के ऊपर जो दुःख और संकट आ पड़ा है वह कहाँ से आया है? और किस मार्ग से आया है? जैन-धर्म अपने विश्लेषण के द्वारा यह निर्णय करता है कि प्रकृति की ओर से ये दुःख नहीं आए हैं। प्रकृति की ओर से आने वाले दुःख कादाचित्क और अल्प होते हैं। जैसे—कभी भूकम्प आ जाता है तो मनुष्य घबरा जाता है कभी वर्षा ज्यादा हो जाती है या सूखा पड़ जाता है तब भी

मनुष्य सत्रस्त हो जाता है । परन्तु ये समस्त घबराहटें मामूली हैं । प्रतिदिन भूकम्प की दुर्घटनाएँ नही हुआ करती और ऐसी दुर्घटनाओ के समय भी यदि आपदा पीडित इन्सान, इन्सान का दिल लेकर किसी उदारमना इन्सान के पास पहुँच जाता है तो वह प्रकृतिजनित दु ख भी भूल जाता है । कभी-कभी इन्सान के ऊपर जगली जानवरो के द्वारा भी दु ख आ पडते है । जैसे—कभी लकडबग्घा बच्चे को उठाकर ले जाता है या भेडिया बकरी-भेड को ले भागता है । परन्तु आजकल इन सारे उपद्रवो पर भी इन्सान ने विजय प्राप्त करली है, क्योकि निर्जन स्थानो पर बडे-बडे नगर बस गए है, आवास की व्यवस्था ठीक-ठीक चल रही है और जगली जानवर विवश होकर जगलो मे अपना मुँह छिपाए पडे हैं । फिर भी आज का मनुष्य दु खो से पीडित है, अत प्रश्न होता है कि ऐसा क्यो हो रहा है ?

मानव-समाज के समस्त दु खो का प्रमुख कारण मनुष्य की दुर्वृत्ति ही है । आज मानव-समाज मे ही अनेक लकडबग्घे और भयकर भेडिए पैदा हो गए हैं । चारो ओर खूँखार भेडिए ही भेडिए नजर आते हैं। उनका शरीर तो मनुष्य का-सा अवश्य है, पर दिल मनुष्य का नही, हिंसक भेडिया का है । मनुष्य मे मनुष्योचित सद्भावना नही रही है । अभिप्राय यही है कि मनुष्य के भीतर जो क्रोध, मान, माया, लोभ आदि वासनाएँ हैं, वे गृहस्थ-जीवन को बिगाड रही है, साधु समाज को भी समाप्त कर रही है और समाज एव राष्ट्र को भी क्षीण कर रही हैं । साराश मे मनुष्य को मनुष्यकृत दु ख ही प्राय सता रहे हैं ।

आप जब कभी दस-पाँच आदमी इकट्ठे बैठकर आपस में बातें करते हैं और कभी किसी से उसके दुःख की बात पूछते हैं तभी आपको दुःख का स्पष्ट अनुभव होता होगा। अपने विचारों की तराजू पर तोलकर देखिए कि प्रकृति-जन्य तथा हिंसक पशुओं द्वारा होने वाले दुःख उनमें से कितने हैं? और मनुष्यों द्वारा पैदा किये हुए दुःख कितने हैं? इस भेद को समझने में अधिक देर नहीं लगेगी कि—मनुष्य ही मनुष्य पर अधिकांश विपत्तियाँ ला रहा है और दुःखों के पहाड़ ढाह रहा है। कोई कहता है—अमुक मनुष्य ने मेरे साथ विश्वासघात किया है! एक बहिन कहती है कि मेरे प्रति सास का व्यवहार अच्छा नहीं है और प्रतिवाद में सास कहती है कि बहू का बरताव अच्छा नहीं है। इसी प्रकार पिता पुत्र की और पुत्र पिता की शिकायत करते हैं। कहीं भाई-भाई के बीच दुर्व्यवहार की दुःखद कहानी सुनी जाती है। इस प्रकार जितने भी आदमियों से बातें करेंगे उन सबसे यही मालूम होगा कि आदमी को आदमी से जितनी शिकायत है उतनी कुदरत और वन-पशुओं से नहीं है। कथन का अभिप्राय यही है कि मनुष्य का मनुष्य के प्रति आज जो व्यवहार है, वह सन्तोषजनक नहीं है और सुखप्रद नहीं है बल्कि असन्तोष अशान्ति और दुःख पैदा करने वाला है।

राम को चौदह वर्ष का वनवास क्यों भोगना पड़ा? मथरा के द्वारा कैकेयी के विचार बदल दिए गए। कैकेयी की भावना दूषित हो गई तदनुसार वह गलत ढंग पैदा

हुआ कि राम को वनवास मिला, और रामायण की कथा लबी होती गई। सारी कहानो आदमी के द्वारा खडी की गई और आदमी के द्वारा ही विस्तृत हुई। राम वन में जाकर रहे तो वहाँ रावण सीता को उठाकर ले गया। इस प्रकार आदमी ने आदमी को चैन से नही बैठने दिया। और जब राम आततायी रावण को जीतकर वापिस अयोध्या लौटे तो उन्होने सीता को वनवास दे दिया। यह सब मनुष्य की ओर से मनुष्य को दु ख देने की एक लबी कहानी है।

इस सम्बन्ध में चाहे कोई कुछ भी कहता हो, किन्तु मैं अपने बौद्धिक विश्लेषण के आधार पर यह कहता हूँ कि राम ने सीता का त्याग करके न्याय नही, अन्याय किया। हाँ, यदि राम स्वय भी सीता को पतित समझते होते तो उनका कार्यं उचित कहा जा सकता था, परन्तु उन्हे तो सीता के सतीत्व पर और उसकी पवित्रता पर पूर्ण विश्वास था। फिर भी उन्होने अपनी गर्भवती पत्नी को भयानक जगल मे छोड दिया। जो राम प्रभावशाली रावण के सामने नही झुके, वे एक नादान धोबी के सामने झुककर इतिहास की बहुत बडी भूल कर बैठे। यदि उन्हें राजा का आदर्श उपस्थित करना ही था तो वह स्वय सिंहासन छोडकर अलग हो जाते। परन्तु मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि इस स्थल पर वे आदश राजा का उदाहरण भी उपस्थित नही कर सके। आदर्श राजा अभियुक्त को अपनी सफाई देने का अवसर देता है, पर राजा राम ने सीता को ऐसा अवसर नही दिया। यहा ता सीना को अभियोग का पता भी नही

समझे दिया जाता और जब पता लगा तो उससे पहले उसे दण्ड दे दिया गया।

बतलाइए,—सीता पर यह दुःख कहाँ से आ पड़ा? राम ने ही तो उस पर यह दुःख लादा है। इस प्रकार आदमी ने ही आदमी पर दुःख लाद दिया। पति ने ही पत्नी को दुर्दिन के दावानल मे झौंक दिया! सीता को कैसे रहस्य पूर्ण ढंग से यात्रा कराने के बहाने लक्ष्मण वन में ले जाते है। वन में पहुँचने पर सीता के परित्याग का जब अवसर आता है तो लक्ष्मण के धैर्य्य का बाँध टूट जाता है—वन पशुओं की वेदनामय और मधुपूर्ण सहानुभूति पाकर उनकी करुणा फूट पड़ती है। आज तक लक्ष्मण रोया नहीं था। संकट में विषमता मे कभी उसने आँसू नहीं बहाया। यहाँ तक कि मेघनाद के द्वारा शक्ति बाण लगने पर भी उसकी आँखों से एक आँसू नहीं गिरा। पर, आज वही धैर्य्य की अचल प्रतिमा सा लक्ष्मण क्यों रो पड़ा? और सीता के पूछने पर जब उसने रहस्य खोला तो सीता भी रो पड़ी। सारा वन रुदन करने लगा पशु और पक्षी भी रोने लगे। उस समय लक्ष्मण ने कहा था —

> 'एते रुदन्ति हरिणा हरित विमुच्य
> हंसाश्च शोकविधुरा करुणं रुदन्ति।
> नृत्यं त्यजन्ति शिखिनोऽपि विलोक्य देवी
> तिर्यग्गता वरममी न परं मनुष्याः ॥'
>
> —कुन्दमाला

अर्थात्—देखो इन हिरणों को! हरी-हरी दूब खाना

फिर भले ही वह व्यापार के रूप मे हो या किसी दूसरे रूप मे ।

कल की एक विचार-सभा मे व्याज के सम्बन्ध में विचार व्यक्त किया जा रहा था कि व्याज का धन्धा आर्य है या अनार्य ? और सामाजिक दृष्टि मे उसमे औचित्य है या नहीं ? यदि औचित्य है तो किस हद तक ? इस सम्बन्ध मे मैंने कहा था कि मैं क्या निर्णय दूँ ? और यदि शास्त्रो के पन्ने भी उलटे जाएँगे तो भी क्या निर्णय मिलने वाला है ? आपके पास आपका हृदय ही महाशास्त्र है। आपका यह हृदय-शास्त्र स्वय इतना विशाल है कि दूसरे समस्त शास्त्र उसमे समा सकते हैं। हमारे समस्त शास्त्र भगवान् महावीर के हृदय से आए हैं। मानव-हृदय विचार-मौक्तिको का विराट सागर है। शुद्ध हृदय के विचार-मौक्तिक ही शास्त्र वन कर चमकते हैं।

जैन-धर्म विवेक को सर्वोपरि स्वीकार करता है। ससार मे जितने भी व्यवसाय चल रहे हैं और जिन्हे आप आर्य-व्यापार मानते है, उनमे भी विवेक की अनिवार्य आवश्यकता है। परन्तु हम धर्म की आत्मा—विवेक की ओर कभी ध्यान नही देते और उसके वाह्य रूप में ही उलझ जाते हैं। अमुक ढग का तिलक लगाना धर्म है, और अमुक तरह का तिलक लगाना अधर्म है। चोटी कटा लेना धर्म है, और न कटवाना अधर्म है।

एक वार एक कनफटा साधु मिला तो उसने कहा—आप भी कान छिदवा लीजिए। विना कान फडवाए साधु कैसे हो गए ? उसका अभिप्राय यही था कि यदि कान फड़वा

किए जायें तभी धर्म है और यदि नहीं फहराए जायें तो धर्म नहीं है। आशय यह है कि हमारे यहाँ आमतौर पर ये धारणाएँ फैली हुई हैं कि यदि अमुक क्रिया अमुक ढंग से की जाय तब तो धर्म है नहीं तो धर्म नहीं है। इसी प्रकार यदि अमुक ढंग के वस्त्र पहने जायें तभी धर्म होगा अन्यथा नहीं। परन्तु जैन-धर्म इन सबसे ऊपर उठकर कहता है कि—विवेक में ही धर्म है। श्रीमद् आचारांगसूत्र में कहा गी गया है—

"विवेगे धम्ममाहिए।"

जैन-धर्म में कहने-सुनने की हिंसा से कोई सम्बन्ध नहीं है, लोक भाषा के सत्य और असत्य से भी सम्बन्ध नहीं है किन्तु विवेक के साथ सीधा और सच्चा सम्बन्ध है। अहिंसा का नाटक तो खेला किन्तु यदि उसमें विवेक को स्थान नहीं दिया गया तो वह अहिंसा नहीं है। विवेक के अभाव में वह पूरी तरह हिंसा बन जायगा और अधर्म कहलाएगा। किसी ने साधुपन ले लिया या श्रावकपन ले लिया किन्तु विवेक नहीं रखा तो क्या वह धर्म हो गया? जन-धर्म के अनुसार जिस क्षेत्र में जितने अंशों में विवेक है उतने ही अंशों में धर्म है और जितने अंश में अविवेक है, उतने ही अंशों मे अधर्म है। जैन-धर्म छापा या तिलक वगैरह में धर्म-अधर्म नहीं मानता। यहाँ तो एक ही तराजू है एक ही मापक है और वह दुनिया से निराला मापक है—विवेक

मै आपसे पूछना चाहता हूँ रुपया क्या है? और इसकी क्या उपयोगिता है? यह तो बोझ की तरह है। एक रुपया

छोडकर ये रो रहे हैं। और ये इस शोक के मारे कैसा करुणक्रन्दन कर रहे हैं। सीता की मुसीबत देखकर मयूरो ने नाचना बन्द कर दिया है। सम्पूर्ण प्रकृति शोक से विह्वल हो रही है। हाय, हम मनुष्यो से तो ये पशु-पक्षी ही अच्छे हैं। कहाँ हमारी निष्ठुरता और कहाँ इनकी दयालुता और कोमलता।

मनुष्य का मनुष्य के प्रति, यहां तक कि पति का पत्नी के प्रति और पिता का पुत्र के प्रति, पुत्र का पिता के प्रति जो अशोभनीय व्यवहार देखा जाता है, उसे देखते हुए लक्ष्मण यदि मनुष्यो की अपेक्षा पशुओ को श्रेष्ठ कहते हैं तो कोई आश्चर्य न होगा। पशु कम से कम एक मर्यादा मे तो रहते हैं। वे अपनी जाति के पशु पर तो अत्याचार नही करते। सिंह कितना ही क्रूर क्यो न हो, पर वह भी अपने सजातीय सिंह को तो कभी नही खाता। एक भेडिया दूसरे भेडिया को तो नही मारता। पर, क्या मनुष्य ने इस पवित्र मर्यादा को कभी स्वीकार करने का स्वप्न मे भी विचार किया है?

दूसरी ओर पशु, जब पशु पर आक्रमण करता है तो वह पर्दे के पीछे से वार नही करता, सीधा आक्रमण कर देता है। किन्तु मनुष्य, मनुष्य को धोखा देता है, भुलावे मे डालता है, विश्वासघात करता है और पीठ मे छुरा भोंकता है।

सच पूछो तो मनुष्य ही मनुष्य के लिए सब से ज्यादा भयंकर है। मनुष्य को मनुष्य से जितना भय है, उतना शायद और किसी भी हिंसक पशु से नही है।

महाभारत का आदि से अन्त तक पारायण कर जाइए।

आपको उसमें क्या मिलेगा ? यही कि एक के हृदय में क्रोध उत्पन्न होता है तृष्णा जागती है और उसी का कुपरिणाम महाभारत के रूप में आता है जिसने सारे भारत को वीरान बना दिया। इस प्रकार हम देखते हैं कि क्या रामायण काल में क्या महाभारत काल में और क्या वर्तमान में केवल मनुष्य ही मनुष्य पर दुःखों और मुसीबतों का पहाड़ लादता रहा है। मनुष्य ही मनुष्य के सामने राक्षस और दैत्य बनकर आता है और उसका मनमाना शोषण करता है।

कहा जाता है कि कुछ अंग्रेज एक चिड़िया-घर देखने गए, वहाँ उन्होंने शेरों और भेड़ियों को गरजते देखा। वे आपस में कहने लगे —इन्होंने न जाने कितनी शताब्दियाँ गुजार दीं फिर भी ये हैवान के हैवान ही रहे। इन्होंने अपनी पुरानी आदतें नहीं छोड़ी। इनका कैसे विकास होगा ? इस प्रकार शेरों और भेड़ियों की आलोचना करते-करते ज्यों ही वे बाहर आते हैं तो देखते हैं कि उनकी जेब काट ली गई है। जिनकी जेब काट ली गई थी वे कहने लगे—हम शेर और भेड़ियों की आलोचना करते-करते नहीं अघाते थे पर उन्होंने जेब काटना तो नहीं सीखा। किन्तु विकास-प्राप्त आदमी ने तो आदमी की जेब काटने की कला भी सीख ली है।

अंग्रेज के उक्त कथन मे भले ही कुछ व्यंग हो किन्तु सूक्ष्म बुद्धि से विचार करने से मालूम होगा कि वह कथन झूठा नहीं है। इन्सान ही इन्सान की जेब काटने को तैयार होता है और इन्सान ही इन्सान का शोषण करता है

फिर भले ही वह व्यापार के रूप मे हो या किसी दूसरे रूप में ।

कल की एक विचार-सभा मे व्याज के सम्बन्ध मे विचार व्यक्त किया जा रहा था कि व्याज का धन्धा आर्य है या अनार्य ? और सामाजिक दृष्टि से उसमें औचित्य है या नही ? यदि औचित्य है तो किस हद तक ? इस सम्बन्ध में मैंने कहा था कि मैं क्या निर्णय दूँ ? और यदि शास्त्रो के पन्ने भी उलटे जाएँगे तो भी क्या निर्णय मिलने वाला है ? आपके पास आपका हृदय ही महाशास्त्र है । आपका यह हृदय-शास्त्र स्वय इतना विशाल है कि दूसरे समस्त शास्त्र उसमे समा सकते हैं । हमारे समस्त शास्त्र भगवान् महावीर के हृदय से आए हैं । मानव-हृदय विचार-मौक्तिको का विराट सागर है । शुद्ध हृदय के विचार-मौक्तिक ही शास्त्र बन कर चमकते हैं ।

जैन-धर्म विवेक को सर्वोपरि स्वीकार करता है । ससार मे जितने भी व्यवसाय चल रहे हैं और जिन्हे आप आर्य-व्यापार मानते है, उनमे भी विवेक की अनिवार्य आवश्यकता है। परन्तु हम धर्म की आत्मा—विवेक की ओर कभी ध्यान नही देते और उसके वाह्य रूप मे ही उलझ जाते हैं । अमुक ढग का तिलक लगाना धर्म है, और अमुक तरह का तिलक लगाना अधर्म है । चोटी कटा लेना धर्म है, और न कटवाना अधर्म है ।

एक वार एक कनफटा साधु मिला तो उसने कहा—आप भी कान छिदवा लीजिए । बिना कान फडवाए साधु कैसे हो गए ? उसका अभिप्राय यही था कि यदि कान फडवा

किए जायें तभी धर्म है और यदि नहीं फड़वाए जायें तो धर्म नहीं है। मालूम यह है कि हमारे यहाँ आमतौर पर ये धारणाएँ फैली हुई हैं कि यदि अमुक क्रिया अमुक ढंग से की जाय तब तो धर्म है, नहीं तो धर्म नहीं है। इसी प्रकार यदि अमुक ढंग के वस्त्र पहने जायें तभी धर्म होगा अन्यथा नहीं। परन्तु जैन-धर्म इन सबसे ऊपर उठकर कहता है कि—विवेक में ही धर्म है। श्रीमद् आचारांगसूत्र में कहा भी गया है—

"विवेगे धम्ममाहिए।"

जैन-धर्म में कहने-सुनने की हिंसा से कोई सम्बन्ध नहीं है बोल चाल के सत्य और असत्य से भी सम्बन्ध नहीं है किन्तु विवेक के साथ सीधा और सच्चा सम्बन्ध है। अहिंसा का नाटक तो खेला किन्तु यदि उसमें विवेक को स्थान नहीं दिया गया तो वह अहिंसा नहीं है। विवेक के अभाव में वह पूरी तरह हिंसा बन जायगा और अधर्म कहलाएगा। किसी ने साधुपन ले लिया या श्रावकपन ले लिया किन्तु विवेक नहीं रखा तो क्या वह धर्म हो गया? जैन-धर्म के अनुसार जिस क्षेत्र में जितने अंशों में विवेक है उतने ही अंशों में धर्म है, और जितने अंश में अविवेक है, उतने ही अंशों में अधर्म है। जैन-धर्म छापा या तिलक वगैरह में धर्म-अधर्म नहीं मानता। यहाँ तो एक ही तराजू है एक ही मापक है और वह दुनिया से निराला मापक है—विवेक

मैं आपसे पूछना चाहता हूँ रुपया क्या है? और इसकी क्या उपयोगिता है? यह तो बोझ की तरह है। एक रुपया

लीजिए, उसे तिजोरी मे वन्द कर दीजिए और कई वर्षों के वाद उसे निकालिए। वह एक-का-एक ही निकलेगा। अनेक वर्ष वीत जाने पर भी दूसरा रुपया उससे पैदा नही हो सकेगा। इस प्रकार रुपया अपने आप मे वाँझ है। जव आप उसे किसी उद्योग-धन्धे मे लगाते हैं, खेती-वाड़ी मे लगाते हैं, या व्याज मे लगा देते हैं, और जव रुपया आदान-प्रदान के फलस्वरूप हलचल मे आता है, तभी वह जिन्दा होता है। इसके विपरीत जव तिजोरी मे कैद रहता है तो मुर्दा वन जाता है। इस प्रकार रुपया दो तरह का है—मुर्दा रुपया, और जिन्दा रुपया।

मेरे कहने का आशय यह न समझ लीजिए कि रुपया सजीव और निर्जीव-दोनो तरह का होता है। यहाँ यह मतलव नही है। कभी-कभी गलतफहमी भी हो जाया करती है। जैसे एक दिन मैंने कहा था कि बुद्ध के शिष्य आनन्द ने चाण्डाल कन्या के हाथ का पानी पिया था, तो किसी ने समझ लिया कि आनन्द श्रावक ने ही पी लिया। बस, हलचल शुरू हो गई।

हाँ, तो रुपए के जीवित होने का अर्थ इतना ही है कि—जव रुपया हलचल मे आता है तो वह व्यक्ति, समाज एव राष्ट्र के लिए 'खाना' लाकर देता है। और मुर्दा होने का अर्थ है कि—जब वही रुपया चारो ओर से हटकर जमीन मे दव जाता है या तिजोरी मे वन्द हो जाता है तो वह किसी व्यक्ति के लिए, समाज के लिए या राष्ट्र के लिये भोजन नही ला सकता। यही रुपए का मुर्दापन है। इसीलिए गृहस्थ उसे चलता-फिरता रखना चाहता है। परन्तु रुपए को क्रिया-

धीस बनाते समय यह ध्यान अवश्य रखना चाहिए कि मेरा रुपया अनीति और अन्याय के मार्ग पर न चले न लगे। पर दुर्भाग्यपूर्ण कठिनाई यही है कि इस बात का ध्यान नहीं रखा जाता।

आपके पास जब एक सेठ आता है और कुछ रुपया चाहता है तो ब्याज की दर कम हो जाती है। किन्तु जब एक साधारण आदमी आता है जिसको रुपए की अनिवार्य आवश्यकता है जो पैसे के अभाव में खिन्न-चित्त और दुखी है और यहाँ तक कि पैसे के बिना उसका परिवार भूखा मर रहा है। उसने व्यापार किया है और उसमें उसे गहरी चोट लगी है। अब उसे पैसे की आवश्यकता पड़ गई है और न मिलने पर उसका परिवार बर्बाद हो सकता है और उसकी आबरू को धक्का लग सकता है। और यदि समय पर रुपया मिल जाता है तो अपनी और अपने परिवार की जिन्दगी बचा सकता है और अपनी इज्जत भी कायम रख सकता है। किन्तु खेद है उसकी आवश्यकता को अनुभव करके आपकी तरफ से ब्याज की दर बढ़ जाती है। इसका स्पष्ट अभिप्राय तो यह हुआ कि धनिकस्वामी हाथी पर तो भार कम लादा जाता है, और मरणासन्न खरगोश पर ज्यादा से ज्यादा लादने की कोशिश की जाती है। इस प्रवृत्ति को आप या कोई भी विवेकशील व्यक्ति, क्या न्यायसंगत कह सकता है?

जैन-धर्म एक बड़ा ही विवेकशील धर्म है। वह हर सत्य को तोलने के लिए अनेकान्त की तराजू लेकर चलता है।

अस्तु, इसी तराजू पर हमे ब्याज के धन्धे को भी तोलना है।

इस प्रसग पर हमे स्मरण रखना चाहिए कि समाज की कुरीतियो के कारण भी अनेक चीजे बुराई बन गई हैं। श्रीमत की अपेक्षा गरीब से दुगुना और तिगुना ब्याज लेना, और एक बार रुपया देकर फिर शोषण के रूप मे ब्याज चालू रखना, ब्याज के धघे की बुराइयाँ हैं। धनिक वर्ग की अर्थ-लिप्सा ने इस ब्याज व्याधि को प्रेरित किया और जब यह बहुत ज्यादा बढ गई तो सरकार को ब्याज के धन्धे पर अकुश लगाने की आवश्यकता अनुभव हुई और उसने अनेक प्रकार के अकुश भी इस पर लगाए हैं। साहूकार एक बार रुपया दे देता है और फिर इतना शोषण करता है कि मूल रकम तो सदैव बनी रहती है और कर्जदार वर्षों तक ब्याज मे फँसा रहता है। ब्याज के रूप मे जब तक किसी समर्थ का "दुग्ध-दोहन किया जाता है, तब तक तो किसी हद तक ठीक है, किन्तु गरीब कर्जदार के रक्त को चूसना, कैसे ठीक कहा जा सकता है ?

"गाय पाली जाती है और उसे भूसा भी खिलाया जाता है। अस्तु, यह तो ठीक है कि कोई भी गोपालक बदले में गोबर ही लेकर सन्तोष नही मान सकता, वह गाय का दूध भी लेना चाहता है। हाँ, तो जहाँ तक गाय से दूध लेने का सवाल है, गोपालक का अपना हक है। और इसमे कोई भी इन्कार नही कर सकता।" परन्तु गाय को दुहते-दुहते जब दूध न रहे तो उसका रक्त दुहना अनुचित ही नही, अनैतिक भी है। ऐसा करने मे न तो आर्यत्व ही है और न इन्सानियत ही, बल्कि स्पष्ट नर-पशुता है।

आपने गाय को सेवा की है उसे खिलाया पिलाया है रहने को जगह दी है यदि वह बीमार हुई तो उसकी सेवा भी की है। इस प्रकार उसकी सुख-सुविधा का सारा उत्तरदायित्व भी आपने अपने ऊपर ले रखा है। और जब उसके दुहने का प्रसंग आता है तब भी सारा का सारा दूध नहीं दुह लेते हो किन्तु उसके बच्चे के पोषण के लिए भी कुछ छोड़ देते हो। यही उदार वृत्ति ब्याज के सम्बन्ध में भी होनी चाहिए। जब आप किसी को ब्याज पर रुपया दें तो अपने हिस्से का ब्याज प्राप्त धन-दूध यथावसर उससे ले सकते हैं परन्तु उसके परिवार के भरण-पोषण के लिए भी कुछ अवसर बचने दें। यहाँ तक तो ब्याज का धंधा अक्षम्य नहीं समझा जाता किन्तु उसके परिवार के लिए यदि आप एक बूंद भी नहीं बचने दें तब तो वह अवश्य ही अक्षम्य हो जाता है।

मैंने सुना है भारत के कुछ प्रान्तों में तो सौ रुपया सैकड़ा तक ब्याज लिया जाता है। फिर भी गरीब रुपया लेने को तैयार हो जाता है। आवश्यकता पड़ने पर वह रुपया ले लेता है पर जब परिस्थितियों से लड़कर भी वह रुपया अदा नहीं कर पाता तो सूदखोर साहूकार उसका मास-घास बाव और घर तक नीलाम करा लेता है। इस तरह गाँव के गाँव बर्बाद हो जाते हैं।

एक भारतीय राजर्षि ने राजा को राज-धर्म बतलाते हुए कहा है —

'हे राजन्! तेरी प्रजा तेरी गाय है। तू उसका दूध दुह सकता है, क्योंकि तू उसकी रक्षा करता है और समय

समय पर उसे अन्याय से बचाता है, और जब लुटेरे उसे लूटते हैं तब तू देश को लूटमार से बचाता है। इस प्रकार जब तू प्रजा की सेवा करता है तो इसका प्रतिफल तुझे टैक्स के रूप मे मिलता है। जब तक दूध आता है, तू अवश्य दुह ले, किन्तु जब दूध के बजाय रक्त आने लगे, तो तुझे दुहने का हक नही है।"

नीतिकार ने यह बात राजा से कही है। राजा तो राजा है, किन्तु व्यापारी उससे भी ऊँचे हैं। कहा जाता है कि पहला नम्बर शाह का है और बाद मे बादशाह का। अभिप्राय यह है कि व्यापारी, सेठ या और भी, लेन-देन का धन्धा करने वाला एक तरह से शाही धधा करता है और समय पडने पर राजा भी उससे भीख माँगता है। इस प्रकार उसके व्यापार के हाथ ऐसे हैं कि व्यापारी का स्तर ऊँचा माना जाता है और राजा का नीचा ।

जब साहूकार को इतना ऊँचा दर्जा मिला है तो उसे सोचना चाहिए कि उसके कर्जदार की क्या हालत है? कर्जदार की आर्थिक स्थिति जब तक ठीक है, तब तक उससे न्याय-नीति पूर्वक अपना हिस्सा लिया जाए। परन्तु जब उसकी स्थिति ठीक न हो, तो उसे और अधिक देना चाहिए तथा व्यवसाय का लाभप्रद उपाय बताना चाहिए, जिससे कि अमुक ढग से कार्य करने पर उसका घर भी बन जाएगा और जब उसका घर बन जाएगा तो आप भी कमा लेगे। यह पद्धति ठीक नही कि किसी को रुपया तो दे दिया, किन्तु फिर कभी यह मालूम ही नही किया कि वह किस अनुचित एव हानिकारक

ढंग पर लगाया जा रहा है। कर्जदार आपत्ति-सागर में से ऊपर उभर कर आ रहा है या अधिकाधिक गहराई में डूबता जा रहा है?

रुपया दिया जाता है तो उसके साथ मानवीय उदारता तथा प्रेम भी दिया जाना चाहिए। और प्रेम-दान का सच्चा अर्थ यह है कि वह कर्जदार भी आपके परिवार का एक सदस्य बन गया है। और जब सदस्य बन गया है तो वह आपका एक अभिन्न अङ्ग बन चुका है। इस तरह जैसे आपको अपने परिवार की चिन्ता रहती है वैसे ही उसकी भी समान रूप से चिन्ता रहनी चाहिए और उसके काम धन्धे आदि के सम्बन्ध में बराबर पूछताछ करते रहना चाहिए।

अभिप्राय यही है कि अन्यान्य व्यापार-धन्धों की तरह ब्याज का धन्धा भी जब तक न्याय और नीति की मर्यादा में रहता है तब तक वह श्रावक के लिए दूषण नहीं कहा जा सकता। परन्तु नीति-मर्यादा को लाँघकर जब वह शोषण का रूप धारण कर लेता है तब वह एक प्रकार से अत्याचार एवं लूट कहलाता है और नीतिशील श्रावक के लिए वह अनैतिक दूषण बन जाता है।

आपने रायचन्द भाई के जीवन की एक घटना सुनी होगी। वह एक बड़े दार्शनिक और योगी पुरुष हो गए हैं। गाँधीजी ने कहा है कि मैंने किसी को अपना गुरु नहीं बनाया किन्तु मुझे यदि कोई गुरु मिले हैं तो वह रायचन्द भाई हैं। रायचन्द भाई पहले बम्बई में जवाहरात का व्यापार करते थे। उन्होंने एक व्यापारी से सौदा किया कि इतना जवा-

हरात, अमुक भाव मे, अमुक तिथि पर देना होगा। इसके लिए जो पेशगी रकम देनी पडती है, वह भी दे दी गई। परन्तु किसी कारणवश जवाहरात का भाव चढने लगा और इतना चढ गया कि बाजार मे उथल-पुथल मच गई। नियत तिथि पर व्यापारी से यदि वह नियत जवाहरात ले लिया जाता तो उसका घर तक नीलाम हो जाता। प्राय दूसरी चीजो मे तेजी-मदी कम होती है, परन्तु जवाहरात मे तो वह लम्बी छलांगे मारने लगती है। बाजार की इस हालत को देखकर व्यापारी सकपका जाता है, और उसके होश-हवाश उडते दिखलाई देते है।

जब बाजार के चढते भावो के समाचार रायचन्द भाई के पास गए और तदनुसार व्यापारी की स्थिति का चित्र सामने आया तो वे उस व्यापारी की दूकान पर पहुँचे। उन्हे आता देखकर व्यापारी सहम गया। उसने सोचा—, जवाहरात लेने आ गए हैं। उसने रायचन्द भाई से कहा—मैं आपके धन का प्रबन्ध कर रहा हूँ। मुझे खुद को चिन्ता है और चाहे कुछ भी हो, आपका रुपया जरूर चुकाऊँगा। भले ही मेरा सर्वस्व चला जाय, पर आपका रुपया हजम नही करूँगा। आप किंचित् भी चिन्ता न करे।

रायचन्द भाई बोले—मैं चिन्ता क्यो न करूँ? मुझे तुमसे अधिक चिन्ता लग गई है। आपकी और मेरी चिन्ता का मुख्य कारण तो यह लिखा-पढ़ी ही है न? फिर क्यो न इसे खत्म कर दिया जाए! और व्यर्थ की चिन्ता से मुक्ति पाई जाए।

व्यापारी दयाभिलाषी भाव से बोला—आप ऐसा क्यों करेंगे ? मैं कल-परसों तक अवश्य अदा कर दूंगा।

उसका इतना कहना समाप्त भी नहीं हुआ था कि रामचन्द्र भाई ने उस इकरारनामे के टुकड़े-टुकड़े कर दिए और फिर इस उदार भाव से वह बोले—

"रामचन्द्र तुम भी सकता है भूल नहीं। मैं भली-भाँति समझता हूँ कि तुम वायदे से बँध गए हो। पर अब परिस्थितियाँ बदल गई हैं और मेरा तुम पर चालीस-पचास हजार रुपया लेना हो गया है। परन्तु मैं यह रुपया लूँगा तो तुम्हारी भविष्य में क्या स्थिति होगी ? मैं तुम्हारी वर्तमान स्थिति से अनभिज्ञ नहीं हूँ। मैं अब एक पाई भी नहीं ले सकता।

यह कहकर रामचन्द्र भाई ने जब कागज का आखिरी पुर्जा भी फाड़ डाला तो वह व्यापारी उनके चरणों में गिर पड़ा और सजल नेत्रों से उसने कहा—आप मानव नहीं मानवता की साक्षात् प्रतिमा हैं ! मनुष्य नहीं देवता हैं !!

इस प्रकार समय पर लेना और देना भी होता है किन्तु कभी-कभी परिस्थिति-विशेष के उग्र रूप धारण करने पर रामचन्द्र भाई की तरह मापके हृदय में दया और करुणा की लहर पैदा होनी ही चाहिए। इस मानवीय उदारता के द्वारा यदि आप किसी भी गिरते हुए भाई को समय पर बचा लेते हैं तो इस रूप में समाज का अनैतिक शोषण बन्द हो सकता है। परन्तु ऐसा होता कहाँ है ? हम तो यही समझते हैं और प्रतिदिन के व्यवहार में देखते भी हैं कि हिंसा और अहिंसा की मीमांसा आज के मानव-समाज के लिए

एक प्रकार से मनोरंजन की बातें हैं। ऐसी अशोभनीय बातों से जैन-धर्म उच्चता के अभीष्ट शिखर पर कदापि नहीं पहुँच सकता, अपितु वर्तमान स्तर से शनैः-शनैः नीचे खिसक कर एक दिन हृदय-हीनता की निम्नतर पृष्ठ-भूमि पर चला जाएगा।

वस्तुतः अहिंसा का सच्चा साधक वही है जो अपने जीवन व्यापार के प्रत्येक क्षेत्र में हर प्रकार की हिंसा से बचने का प्रयत्न करता है। क्या मकान और क्या दुकान, सभी उसके लिए धर्म-स्थान होते हैं। उसके जीवन व्यापार में और प्रत्येक दशा में, एक प्रकार की सुसंगति रहनी चाहिए।

तृतीय खण्ड

कृषि-उद्योग

और

अहिंसा तत्त्व

प्रगति राष्ट्र के जीवन-तरु की,
है उद्योग-प्रगति पर निर्भर।
किन्तु वही उद्योग हितकर,
जिसमे वहे अहिंसा-निर्भर ॥

— १ :—

मानव-जीवन और कृषि-उद्योग

जैन धर्म अति विशाल और प्राचीन धर्म है। उस पर हमें गर्व है कि उसने हजारों ही नहीं लाखों और करोड़ों मानवों का पथ-प्रदर्शन किया है। उसने जनता को जीवन की सच्ची राह बतलाई है। और भूले-भटके अनगिनत पथिकों को जो गलत राह पर चल रहे थे कहा कि—तुम जिस राह पर चल रहे हो वह जीवन की सच्ची राह नहीं है बल्कि वस्तुतः उस सत्य की सीधी राह पर चलने से ही तुम्हारा विकास हो सकेगा और तुम अपनी मंजिल तक पहुँच सकोगे।

हाँ तो तथाकथित जैन-धर्म और उसकी सर्वविदित महत्ता के सम्बन्ध में आज जिस जनता के मन में एक भ्रामक प्रश्न चल रहा है कि—यह केवल आदर्शवादी है या यथार्थवादी भी है? यह आदर्शों के सुनील आकाश में ही उड़ता है या जीवन-व्यवहार की सत्य भूमि पर भी कभी उतरता है?

अनेक बार हम देखते हैं कि आदर्श आदर्श बनकर रह जाते हैं और ऊँचाइयाँ ऊँचाइयाँ ही बनी रहती हैं। व जीवन की गहराइयों को और उसकी समस्याओं को हल करने वाले वास्त

विक समाधान की भूमिका पर नहीं उतरती। कुछ सिद्धान्त ऐसे होते हैं, जो प्रारम्भ में तो बहुत ऊँची उड़ान भरते हैं और आकाश में उड़ते दिखलाई देते हैं, किन्तु व्यावहारिक जीवन के सुनिश्चित धरातल पर नहीं उतरते, क्योंकि उनमें जनता की समस्याओं का उचित समाधान करने की क्षमता नहीं होती।

इसके विपरीत कुछ सिद्धान्त यथार्थवादी होते हैं। वे जनता की आवश्यकताओं का, समस्याओं का सीधे ढंग से समाधान करते हैं। आज दिन बच्चों, बूढ़ों, युवकों और महिलाओं की क्या समस्याएँ हैं? भूखी-नंगी जनता की क्या समस्याएँ हैं। इन सब पर गहराई में उतर कर विचार करना ही उनकी सैद्धान्तिक यथार्थता का सर्वोत्कृष्ट लक्ष्य है।

हाँ, तो समाज फिर किस पृष्ठ-भूमि पर टिकेगा? वह कोरे कथोपकथन और कागजी आदर्शवाद पर जीवित नहीं रह सकता। जब उसे व्यावहारिक यथार्थवाद मिलेगा, तभी जिन्दा रहेगा। इस सम्बन्ध में एक आचार्य ने कहा भी है —

> "बुभुक्षितैर्व्याकरणं न भुज्यते,
> पिपासितैः काव्यरसो न पीयते।"

अर्थात्—एक आदमी भूखा है और भूख के ताप से छटपटा रहा है। ऐसी स्थिति में व्याकरण के महत्वपूर्ण सिद्धान्तों से उसका पेट नहीं भरेगा।

काव्य का रस बड़ा मीठा है। जब कविता पाठ होता है तो लोग मन्त्र-मुग्ध होकर जम जाते हैं और घण्टों तक जमे

रहते हैं अमृत-पान जैसा आनन्द भी अनुभव करते है। किन्तु प्यास से व्याकुल यदि कोई प्यासा वहाँ आए और पानी माँगे किन्तु उससे यह कहा जाय कि— भाई, यहाँ पानी नहीं है। यहाँ काव्य है जोकि बहुत ही मधुर है उसमें अमृत जैसा मधुर रस है। इसी को पीकर अपनी प्यास बुझा लो। तो क्या पानी के प्यासे की प्यास काव्य रस से बुझ सकेगी ? क्या वह काव्य का रस पी भी सकेगा ?

इसीलिए व्यावहारिक जीवन के सम्बन्ध में यथार्थवादी आचार्य कहते हैं कि जीवन-व्यापार की समस्याएँ न तो चमत्कारों से सुलझ सकती है न साहित्य से और न कविताओं से ही। उन्हें सुलझाने के लिए तो कोई दूसरा ही सही हल खोजना पड़ेगा।

दो-चार दिन का भूखा एक आदमी आपके सामने आता है। वह आपसे चार कौर भोजन पाने की इच्छा रखता है और माँग करता है। आप उससे कहते हैं— भाई, इस समय धर्म का भोजन तो तैयार है। दो दिन हो गए है तो दो दिन का उपवास और कर लो। अरे रोटियों में क्या रखा है ? अभी खाओगे अभी फिर भूख लग आएगी। अनादिकाल से खाते आ रहे हो और अनन्त-अनन्त सुमेरु पर्वतों के बराबर रोटियों के ढेर खा चुके हो। फिर भी तुम्हारी भूख नहीं मिटी तो अब चार कौर से क्या मिटने वाली है ? छोड़ो इस पुद्गल की रोटी को। अब धर्म की रोटी से लो जिससे इस लोक की भी भूख बुझेगी और परलोक की भी भूख बुझ जाएगी।

आप ही कहिए, क्या सच्चे धर्म की यही व्याख्या है ? यह धर्म का उपदेश है या उसका मज़ाक ? यह एक ऐसा विचार है, जिससे जनता के मन को साधा नही जा सकता, बल्कि उसके हृदय में काँटा चुभाया जाता है। क्या मानव-जीवन इस तरह चल सकेगा ?

इस प्रकार का कोरा आदर्शवादी दृष्टिकोण वास्तविक नही है। वह जीवन की मूलभूत और ठोस समस्याओ के साथ निष्ठुर उपहास करता है। वह, मर जाने के बाद तो स्वर्ग की वात कहता है, किन्तु जीवित रहकर इस ससार को स्वर्ग बनाने की वात कभी नहीं कहता। मरने के पश्चात् स्वर्ग मे पहुँचने पर ६४ मन का मोती मिलने की वात तो कहता है, परन्तु जिन्दा रहने के लिए दो माशा अन्न के दाने पाने की राह नही दिखलाता। वह स्वर्ग का ढिंढोरा तो पीट सकता है, किन्तु जिस मृत-प्राय प्राणी के सामने ढिंढोरा पीटा जा रहा है, उसे जीवित रहने के लिए जीवन की कला नही सिखलाता। इस प्रकार का हवाई दृष्टिकोण अपनाने वाला धर्म, चाहे वह कोई भी हो, जनता के काम का नही है। आज की दुनिया को ऐसे निस्सार धर्म की आवश्यकता भी नहीं है।

आखिर, कोई धर्म यह तो बताए कि मनुष्य को करना क्या है ? क्या धर्म, प्रस्तुत जीवन की राह नही बतला सकता ? क्या, मौत का रास्ता दिखलाने के लिए ही धर्म का निर्माण हुआ है ?

उधार का भी अपने आप मे मूल्य तो अवश्य है, परन्तु जिस दुकान मे उधार बिक्री का ही व्यापार चलता हो, और

नकद किसी की बात ही न हो क्या वह दुकान अपने को स्थिर रख सकेगी? इसी तरह जो धर्म परलोक के रूप में केवल उधार की ही बात करता है और कहता है कि उपवास करोगे तो स्वर्ग मिल जाएगा! धर्म-ग्रन्थों का अध्ययन और तदनुसार कठोर क्रियाकाण्ड करोगे तो स्वर्ग मिल जाएगा! तीर्थ स्थानों का पर्यटन करोगे तो स्वर्ग मिल जाएगा! किसी से कलह-संघर्ष आदि नहीं करोगे तो मरने के बाद अमुक राज्य का वैभव रूप फल पा जाओगे। परन्तु जो धर्म यह नहीं बतलाता है कि आप या हम कमश: श्रावक और साधु बनकर जो काम कर रहे हैं उनका यहाँ क्या फल मिलेगा? जो धर्म यह नहीं बता सकता कि वर्तमान कर्त्तव्य का पालन करोगे तो स्वर्ग यहीं पर और इस जीवन में ही उतर आयगा— जिससे तुम्हारा समाज परिवार और राष्ट्र स्वयं ही स्वर्ग बन जायगा। फिर उस सारहीन धर्म का साधारण जनता क्या उपयोग करे?

सचाई तो यह है कि स्वर्ग में वे प्राणी ही जाएँगे जिन्होंने अपने सत्कर्म और सदाचार के द्वारा यहीं पर स्वर्ग बना लिया है। जो यहाँ पर स्वर्ग नहीं बना पाए हैं और जो यहाँ पर घृणा भुखमरी और हाहाकार का नारकीय जीवन व्यतीत कर रहे हैं उन्हें किसी धर्म के द्वारा यदि कभी स्वर्ग मिला भी तो वह रो-रोकर ही मिलेगा। हँसते-हँसते कभी नहीं मिलने का।

धर्म-सम्बन्धी व्याख्यान में जो भी प्रकरण चल रहा हो उसे आप केवल सुनने के लिए ही मत सुनिए, अपितु मनन

करने के लिए सुनिए। उसमे कोई वात अमुक ढग से चल रही है और शायद वह वात आप में से वहुतो के गले नही उतर रही है, क्योकि पहले वह आपको दूसरे रूप में सुना दी गई है जो अभी तक गले मे अटकी हुई है। वही पुराना प्लास्टर मेरी आज की वात को आपके गले मे नही उतरने देता है। फिर भी आपको इन वातो पर चिन्तन—मनन करना ही होगा। वस्तुत गम्भीर चिन्तन और मनन नही किया गया है। इसीलिए जैन-धर्म को वदनाम होना पडा है और अपने को 'जैन' कहने और समझने वाले आज के जैनो की आचार-विहीनता तथा विवेक-शून्यता के कुपरिणाम स्वरूप 'जैन-धर्म' के उज्ज्वल मुँह पर कालिख लग गई है।

परन्तु इस दुरवस्था को देखकर हम जैनो को अधीर होकर पतन के प्रवाह मे नही वहना है, वल्कि तत्त्व-ज्ञानियो से सदुपदेश ग्रहण कर भूत की भूल का प्रायश्चित्त करना है, और पतन के प्रवाह पर पवित्रता का प्रतिवन्ध लगाकर सदाचार के माध्यम से वर्त्तमान जीवन का पुनर्निर्माण करना है। ऐसा क्यो? और किसके लिए? अपने निहित स्वार्थों की सिद्धि के लिए नही, वल्कि सम्पूर्ण मानव-समाज की जीर्णता को दूर करने के लिए, और राष्ट्र की अभीष्ट समृद्धि के लिए।

हाँ, तो मध्यकाल मे हमारी चिन्तन-पद्धति विकृत हो गई थी, और उसके कारण जैन-धर्म के उज्ज्वल मुख पर कालिख लग गई है। उसे साफ करने का काम किसी परोक्ष देवी-देवता का नही है, आपका है। आप ही उस कालिख को

दूर कर सकते हैं। भगवान् महावीर के उज्ज्वल सिद्धान्तों पर काम-दोष से या भ्रान्त-बुद्धि से जो धूल जम गई है उसे साफ करने का एकमात्र उत्तरदायित्व आज आप जैन कहलाने वाले भक्तों पर आ पड़ा है।

यदि आप आज भी यही सोचते हैं—अजी क्या है! संसार तो यों ही चलता रहेगा। लोग भूखे मरें तो क्या? खाने को मिले तो खाओ और यदि नहीं भी मिले तो क्या! खाने के लिए काम किया या अन्न पैदा किया तो कर्मों का बंध हो जाएगा। इस प्रकार खाने-पीने की बातों में आत्मा का कल्याण नहीं होना है। ये सब संसार की कपोल कल्पित बातें हैं और संसार की बातों से हमारा सम्बन्ध ही क्या है? जो संसार का मार्ग है वह बंधन का ही मार्ग है, एक प्रकार से नरक का ही रास्ता है।

किन्तु आपको यह भी जानना चाहिए कि जीवन में पेट की समस्या ही बहुत बड़ी समस्या है। जब कभी आपको भूख लगे और भोजन के लिए एक अन्न-कण भी न मिले तब चिन्तन की गहराई में अपनी बुद्धि का गज डालिए उस समय पता लगेगा कि भूखों की क्या शोचनीय अवस्था होती है? उस समय धर्म-कर्म की मरहम पट्टी काम देती है या नहीं? जब मनुष्य भूख की पीड़ा से व्याकुल होता है आँखों के आगे अँधेरा छा जाता है और मृत्यु का नगा नाच होने लगता है उस हालत में समता या दृढ़ता का मरहम लगाने वाला सौ में से एक भी शायद ही निकले अन्यथा सभी घायल होकर सहज में अकाल मृत्यु की भेंट चढ़ जाते

हैं। अस्तु, जैन-धर्म कहता है कि जीवन मे सबसे बडी वेदना भूख की है।

जैन-शास्त्रो मे जो बाईस परीषह आते हैं, उनमे पहला परीषह क्षुधा का है। शेष ताडन या वध आदि क्रूर परीषहो का नम्बर बहुत दूर आता है। स्थूल हिंसा के रूप मे सोचने का जो ढग हमे मिला हुआ है या हमने जो ढग अपना रखा है, उसके अनुसार तो सबसे पहला परीषह वध-परीषह होना चाहिए था। कोई किसी को मार दे या वध कर दे, तो उसके बराबर तो क्षुधा-परिषह नहीं है। फिर वध को पहला परीषह न गिनकर भूख को ही पहला परीषह क्यो गिना है ?

हाँ, तो साहब! आज भी हजारो आदमी ऐसे मिलेगे जो भूख से बुरी तरह छटपटा रहे हैं। वे चाहते हैं कि भूख की ज्वाला मे तिल-तिल करके भस्म होने की अपेक्षा यदि उन्हें कत्ल कर दिया जाय तो अधिक अच्छा हो। घुट-घुटकर रोज-रोज मरने, और एक-एक प्राण छिटकाकर नष्ट होने के बजाय एक साथ मर जाना, वे कही ज्यादा ठीक समझते हैं। वध और क्षुधा परीषह दोनो मे से एक को चुनने को कहा जाय तो वे लोग वध को मजूर करेगे। कई लोग रेलो के नीचे कटकर या कूप-तालाब में गिरकर इसीलिए मरते है कि उनसे अपनी स्त्री और बच्चो की भूख की पीडा नही सही जा सकती। वे भूख की वेदना से छुटकारा पाने के लिए ही मरने की वेदना को सहसा स्वीकार कर लेते हैं। एक महान् आचार्य ने ठीक ही कहा है —

"छुहासमा नत्थि सरीरवेयणा।"

अर्थात्— 'भूख की पीड़ा के समान और कोई पीड़ा नहीं है।

मैं समझता हूँ कि आप इस तथ्य को जल्दी अनुभव नहीं कर सकते हैं क्योंकि आपकी स्थिति दूसरे प्रकार की है। कोई भी व्यक्ति जब तक सुख और समृद्धि की स्थिति में रहता है तब तक वह दुःख की भयंकर स्थिति का ठीक-ठीक अनुभव नहीं कर सकता। किन्तु बंगाल और बिहार के दुष्काल में लोग जब भूख से छटपटाते हुए गिरते थे तो अपने प्राणों से भी अधिक प्यारे बच्चों को दो-दो रुपये में बेचते हुए नहीं हिचकते थे और दो रोटियों के पीछे स्त्रियाँ भी अपने सतीत्व को नष्ट कर देती थीं। इस प्रमाण से आप समझ सकते हैं कि भूख के पीछे दुनिया के भारी से भारी दुष्कृत्य और पाप किये जाते हैं। जब भूख लगती है तो मनुष्य उसकी तृप्ति के लिए क्या नहीं कर गुजरता? करता क्या न करता? आचार्य ने कहा है —

'बुभुक्षितः किं न करोति पापम् ?'

अर्थात्— 'दुनिया में वह कौन-सा पाप है जो भूखा नहीं करता है? धोखा वह देता है, ठगी वह करता है वह सभी कुछ कर सकता है। और तो क्या माता और बहिनें अपनी पवित्रता तक को बेच देती हैं! किस लिए? केवल रोटी के लिए।

भूख वास्तव में एक भयानक राक्षसी है। वह मनुष्य को नृशंस और क्रूर बना देती है। जब वह अपने पूरे जोश में होती है और उसे तृप्त करने के लिये दो रोटी भी नहीं

मिल पाती है, तो पति और पत्नी तक के सम्बन्ध का भी पता नही लगता है। और तो क्या, स्नेहशील माता-पिता भी अपने प्राण-प्यारे बच्चे के हाथ की रोटी छीनकर खा जाते है। जब ऐसी स्थिति है तो आचार्य ठीक ही कहते हैं कि भूखा आदमी सभी पाप कर डालता है।

एक जीवनदर्शी दार्शनिक ने कहा है—

"बुभुक्षित न प्रतिभाति किञ्चित्।"

अर्थात्—"भूख के मारे को कुछ भी नही सूझता है।" निरन्तर की भूख ने उसकी ज्ञान-शक्ति को नष्ट कर दिया है।

वह कौन-सी चीज थी? जिसने मेवाड के ही नहीं, वरन् समूचे भारत के गौरवस्वरूप महाराणा प्रताप को भी अपनी स्वाधीनता की साधना के पथ से विचलित कर दिया था? अपने बच्चो की भूख को सहन न कर सकने के कारण ही तो वे अकबर से सन्धि कर अपनी प्यारी जन्म-भूमि की स्वतन्त्रता को खो देने के लिए विवश हो गए थे। जब प्रताप जैसे दृढ-प्रतिज्ञ और कष्ट सहिष्णु व्यक्ति भी भूख के प्रकोप से अपने सुदृढ सकल्पो से गिरने लगते है और ऐसा काम करने के लिए तत्पर हो जाते है, जिसकी स्वप्न मे भी वे स्वय कल्पना नही कर सकते थे, तो आज के साधारण आदमियो का तो कहना ही क्या है? आजकल तो एक दिन का उपवास भी दैवी प्रकोप जैसा अनुभव किया जाता है।

यदि हम इन सब बातो पर गम्भीरता पूर्वक विचार करे तो पता लगेगा कि भूख वास्तव मे कितनी बडी वेदना है।

आप कहेंगे कि तब वे भगवान् नही बने थे। किन्तु क्या आप यह नही जानते कि उन्हे ऽ मति, श्रुत और अवधि—ये तीन प्रकार के निर्मल ज्ञान प्राप्त थे। उनका अवधिज्ञान लूला-लँगडा या भूला-भटका, अर्थात् विभगज्ञान नही था। वह विशुद्ध ज्ञान था। उस स्थिति मे भगवान् ने जो कुछ भी किया, वह सब क्या था ?

प्रागैतिहासिक काल के युगलियों❀ की जनता को खाना तो जरूरी था ही, पर काम नही करना था। सर्दी से बचने के लिए कपडा या मकान कुछ भी चाहिए, जो आवश्यक ही था, किन्तु वस्त्र या मकान नही बनाना था। जीवन तो जीवन की तरह ही बिताना था, परन्तु पुरुषार्थ की आवश्यकता समझ मे नही आई थी। इसी स्थिति मे चलते-चलते युगलिया-जन भगवान् ऋषभदेव के युग मे आ गए।

ऽ इन्द्रिय और मन के माध्यम से होने वाला ज्ञान 'मति' है। विशिष्ट चिन्तन मनन एव शास्त्र से होने वाला ज्ञान 'श्रुत' है। मूर्तिमान् रूपी पुद्गल पदार्थों का सीमा सहित ज्ञान 'अवधि' है। ये तीनो ही ज्ञान सम्यग् दृष्टि विवेकशील आत्माओ को होते हैं तो ज्ञान कहलाते हैं। और यदि मिथ्यादृष्टि अविवेकी आत्माओ को होते हैं तो अज्ञान, अर्थात् कुज्ञान हो जाते हैं।

❀ जैन-धर्म मानता है कि वर्तमान काल-चक्र की आदि में मानव-जाति वन-सभ्यता में रहती थी। नगर नही थे, उद्योग-धन्धे नहीं थे, किसी प्रकार का शासन भी नही था। सब लोग वृक्षो के नीचे रहते थे और भिन्न-भिन्न कल्पवृक्षो से ही अपनी भोजन वस्त्र आदि की आवश्यकताएँ पूरी करते थे। ये लोग शास्त्र की भाषा में यौगलिक यानी युगलिया कहलाते हैं।

इस युग में कल्पवृक्षों के कम हो जाने से आवश्यकताओं की पूर्ति में गड़बड़ होने लगी, फलस्वरूप जनता भूख से आकुल हो उठी। पेट में भूख की आग सुलगने लगी और तत्कालीन जनता उसमें भस्म होने लगी। उसे देखकर भगवान् के हृदय में अपार करुणा का झरना बह उठा और उन्होंने जनता की भूख की सुलगती समस्या को शान्त किया। इसी सम्बन्ध में आचार्य समन्तभद्र ने कहा है—

'प्रजापतिर्यः प्रथमं जिजीविषु-
शशास कृष्यादिषु कर्मसु प्रजाः।

—बृहत्स्वयंभूस्तोत्र

हाँ तो भगवान् के कोमल हृदय में अपार करुणा का झरना बहा और उन्होंने देखा कि यह सारी जनता भूख की ज्वाला से पीड़ित होकर खत्म हो जाएगी आपस में लड़-झगड़कर मर जाएगी खून की धाराएँ बहने लगेंगी तो भगवान् ने उस अकर्मण्य प्रजा को कर्म की और पुरुषार्थ की नव चेतना दी और अपने हाथों-पैरों से काम लेना सिखलाया। कर्तव्य विमूढ़ प्रजा को कर्मभूमि में अवतरित किया और भुखमरी की समस्या को अपने हाथों सुलझाने की सही दिशा दिखलाई। दूसरे शब्दों में कहें तो कृषि-कर्म करना सिखलाया।

अन्न का दाना और तन का कपड़ा—दोनों कृषि से प्राप्त होते हैं। जिन्दगी की प्रमुख आवश्यकताएँ केवल दो ही हैं—अन्न और कपड़ा। जनता के कोलाहल में यही ध्वनि फूटती है कि 'रोटी' और 'कपड़ा' चाहिए। फ्रांस का सम्राट्

लुई महलो मे आनन्द कर रहा था और हजारो की सख्या मे प्रजाजन भूख से छटपटाते नीचे से आवाज लगाते हुए गुजरे कि—"रोटी दो या गद्दी छोडो !"

यह आवाज सुनकर सम्राट् ने पास मे बैठे हुए महामत्री से पूछा—'क्या जनता ने बगावत कर दी है ?' महामत्री ने कहा—'यह बगावत नही, क्रान्ति है ।' और महामत्री के मुँह से निकले हुए 'शब्द' सारे ससार मे फैल गए कि—'भूख से बगावत नही, इन्किलाब होता है ।'

हाँ, तो भगवान् ऋषभदेव उस भूखी जनता को देखकर कोरे आदर्शवाद मे नही रहे, न उन सब भूखो को उपवास का उपदेश ही दिया, और न साधु बन जाने या सथारा❀ करने की सलाह ही दी । जैसा कि कुछ लोग कहते हैं —

"बलता जीव बिलबिल बोले, साधु जाय किवाड न खोले ।"

मकान मे आग लग गई है । उसके भीतर मनुष्य और पशु बिलबिला रहे हैं, फलत दयनीय कुहराम मच रहा है । ऐसे समय मे पत्थर के दिल भी मोम की भाँति पिघल जाते हैं । किन्तु कुछ महानुभावो का फरमान है कि जलने वाले जीवो को बचाने के लिए उस मकान का दरवाजा नही खोलना चाहिए । यदि कोई साकल खोल देता है तो उसे हिंसा, असत्य आदि पाप लग जाते हैं ।

❀ जब शरीर मरणासन्न हो, और जीवन-रक्षा के लिए कोई भी सात्त्विक उपचार कारगर न हो, तो आमरण उपवास करके अपने आपको परमात्म भाव में लीन कर देना, और प्रसन्न भाव से मृत्यु का वरण करना, जैन-दर्शन में 'सथारा' कहलाता है ।

अब प्रश्न यह है कि ऊपरकथित भयंकर अग्नि काण्ड के समय यदि कोई साधु जी महाराज वहाँ विराजमान हों तो क्या करें? उत्तर मिलता है कि—'संथारा कराएँ, आमरण उपवास कराएँ और उपदेश दें कि—संथारा ले लो और आगे की राह तलाश करो। यहाँ जीने की राह नहीं है!'

मैं समझता हूँ यदि कोई सचमुच मनुष्य है और उसके पास यदि मनुष्य का दिल और दिमाग है, और वह पागल नहीं हो गया है तो कौन ऐसा है जो मरते हुए जीवों को बचाने के लिए साँकल न खोल देगा? और कौन यह कह सकेगा कि संथारा ले लो? क्या यह धर्म का मजाक नहीं है? ये ऐसी शोचनीय स्थितियाँ हैं जिनके लिए प्रत्येक समझदार आदमी यह कहने का साहस जरूर करेगा कि यह मान्यता समाज धर्म और साधुपन का दिवाला निकाल देने वाली निराधार एवं भ्रमजनक मान्यता है।

भगवान् ऋषभदेव इस सिद्धान्त पर नहीं चले कि जो भूखा मर रहा है उससे कहा जाय कि—संथारा कर लो स्वर्ग तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहा है। वहाँ जाकर सुगन्ध लिया करना और तुम्हारी भूख-प्यास की तृप्ति हो जाया करेगी। उन्होंने इस मार्ग को भूल से भी अंगीकार नहीं किया। वे आचार-विचार से यथार्थवादी थे और यथार्थवादी होने के नाते उन्होंने सोचा कि जनता को यदि सही रास्ते पर नहीं ले जाया गया तो वह महा-आरंभ के रास्ते पर चली जाएगी और मांसाहार के पथ पर चलकर घोर हिंसक हो जाएगी। एक बार यदि महा-हिंसा के पथ पर चल पड़ी तो

तो फिर उसे मोडना मुश्किल हो जाएगा। अतएव उन्होने भूख के कारण महा-आरभ की ओर जाती हुई भोली-भाली जनता को अल्प-हिंसा की ओर लाने का प्रयत्न किया। परिणाम यह हुआ कि भगवान् का सन्देश जहाँ-जहाँ पहुँचा और जिन व्यक्तियो ने उसे अपनाया, वे आर्य बन गए। और जहाँ वह सन्देश नही पहुँचा या जिन्होने उस सन्देश को स्वीकार नही किया, वे म्लेच्छ हो गए।

सम्भवत उस आदिकाल मे आप मे से भी कुछ भाई युगलिया रहे होगे, और आपके पूर्वज तो रहे ही हैं। एक दिन सारी भारत-भूमि मे अकर्म-भूमि की परम्परा थी और उस परम्परा के लोगो मे वैर-भाव नही था, घृणा नही थी, द्वेष नही था। वहाँ के पशु भी ऐसे थे कि किसी को बाधा और पीडा नही पहुँचाते थे। जहाँ के पशु भी ऐसे सात्विक वृत्ति वाले हो, तो फिर वहाँ के आदमी पशुओ को मारकर क्यो खाने लगे ? भगवान् ऋषभदेव ने उसी वृत्ति को कृषि आदि के रूप मे कायम रखा और मासाहार का प्रचलन नही होने दिया।

अभिप्राय यह है कि जहाँ-जहाँ कृषि की परम्परा चली और अन्न का उत्पादन हुआ, वहाँ-वहाँ आर्यत्व बना रहा और महारभ न होकर अल्पारभ का प्रचलन हुआ। परन्तु जहाँ कृषि की परम्परा नही चली, वहाँ के भूखे मरते लोग क्या करते ? तब आपस मे वैर जगा, और क्षुधाजन्य क्रूरता के कारण पशुओ को मारकर खाने की प्रवृति चालू हो गई। तात्पर्य यही है कि—'कृषि' अहिंसा का उज्ज्वल प्रतीक है।

जहाँ भी कृषि अग्रसर हुई है वहाँ के जन-जीवन में उसने अहिंसा के बीज डाले हैं। और जहाँ कृषि है वहाँ पशुओं की जरूरत भी अनिवार्यतः रहती है फलतः उनका पालन भी स्वाभाविक है। इस प्रकार कृषि अहिंसा के पथ का विकास करती रही है। कृषि के द्वारा प्रवाहित होने वाली अहिंसा की धारा मनुष्यों के अतिरिक्त पशुओं की ओर भी बही है। इस प्रकार जहाँ-जहाँ खेती गई वहाँ वह अहिंसा के सिद्धान्त को लेकर गई। और जहाँ कृषि नहीं गई वहाँ *अहिंसा का सिद्धान्त भी नहीं पहुँचा।*

मेक्सिको के निवासी मछली आदि के शिकार के सिवाय कोई दूसरा काम-धन्धा नहीं कर पाते हैं। कल्पना कीजिए—यदि कोई जैन सज्जन वहाँ पहुँच जाए, तो देखेगा कि लोगों के हाथ रात-दिन खून से किस तरह रंगे रहते हैं क्योंकि जानवरों का मांस चमड़ा चर्बी आदि का उपयोग किये बिना उनके लिए कोई दूसरा साधन ही नहीं है। ऐसी स्थिति में यदि वह जैन उन्हें जैन-धर्म का कुछ सन्देश देना चाहे उस हिंसा को रोकना चाहे और यह कहे कि—मछली हिरन शूकर वगैरह किसी जीव को मत मारो तो वे लोग क्या कहेंगे ? तब वे उससे पूछेंगे कि—फिर हम खाएँ क्या ? और जब यह प्रश्न सामने आएगा तो वह क्या उत्तर देगा ? कल्पना कीजिए, यदि आप स्वयं वहाँ पहुँच गए हों तो क्या उत्तर देंगे ? यदि आप उन्हें अहिंसक बनाना चाहते हैं तो क्या उपाय करेंगे ? क्या आप उन्हें सदा के लिए आमरण संथारे के रूप में 'वोसिरे-वोसिरे' करा देंगे ? यदि नहीं

तो वे भूखे जीवित रहकर क्या करेंगे—क्या खाएँगे ? तब यह प्रश्न कैसे हल होगा ? यदि जीवन के लिए कोई समुचित व्यवस्था नही करेंगे तो आप पागल बनकर ही लौटेंगे न ?

हम साधुओ को नाना प्रकार की रुचि और प्रवृत्ति वाले आदमी हर जगह मिलते रहते हैं। कोई वनस्पति-भोजी मिलते हैं तो कभी कोई मासाहारी भी मिल जाते हैं। जब मासाहारी मिलते हैं और हम उनसे मासाहार का त्याग कराना चाहते है तो उनसे उनकी अपनी भाषा मे यही कहना होता है कि—"प्रकृति की ओर से धान्य का कितना विशाल भण्डार भरा मिला है।" यदि कोई कर्त्तावादी मिलता है तो उससे कहा जाता है कि—"ईश्वर ने कितनी शानदार फल, फूल आदि सुन्दर चीजें अर्पण की हैं। ये सब चीजे ही इन्सान के खाने की हैं, मास नही।" यह कोई आवश्यक नही है कि यही शब्द कहे जाएँ, पर एकमात्र आशय यही रहता है कि उन मासाहारियो को किसी प्रकार समझाया जाए। साधु-भाषा के नाते यद्यपि हम लोग बहुत कुछ बचकर बोलते हैं, फिर भी घूम-फिरकर आखिर बात तो यही कही जाती है कि—त्रस जीव की हिंसा करना, पशुओ को मारना 'महा-आरभ' है और उसके बजाय खेती-बाडी से जीवन निर्वाह करना 'अल्पारम्भ' है।

इस प्रकार समझा-बुझाकर मैंने सैकडो आदमियो को को मास खाने का त्याग करवाया है। दूसरे साधु भी इसी प्रकार की भावपूर्ण भाषा बोलकर मासाहारियो की हिंसा-वृत्ति छुडवाते हैं। इस सम्बन्ध मे आचार्यों ने भी शास्त्रो में यही

कहा है कि— जबकि संसार में इतने अधिक निरामिष खाद्य पदार्थ उपलब्ध हैं और वे सभी इन्सान के खाने की चीजें हैं। फिर भी जो पदार्थ खाने के योग्य नहीं हैं वे क्यों खाए जाते हैं? तो अभिप्राय यही है कि फल फल धान्य आदि वनस्पति के उपयोग से ही मांस भक्षण जैसे महापाप को रोका जा सकता है और ये सब खाद्य-पदार्थ कृषि के बिना उपलब्ध नहीं होते।

अपने अहिंसात्मक अमूल्य महत्व के नाते कृषि कितनी सुन्दर चीज है। फिर भी अनेक व्यक्ति कृषि को भी महारंभ कहते हैं जबकि कृषि 'अहिंसा' का आदर्श लेकर चली है। उसने मानव-जाति को क्रूर वन्य पशु होने से रोका है वन-वासी भील होने से बचाया है और उसमें आदर्श नागरिकता के बीज डाले हैं। उससे मनुष्य की सामाजिक उन्नति हुई है और जहाँ कृषि नहीं फैली वहाँ के लोग घोर हिंसक मांस-भक्षी और नरमांस भक्षी तक बन गए हैं।

उपरकथित मान्यता के सम्बन्ध में सम्भव है प्रगतिवादी कहलाने वाले आज की पीढ़ी के लोग कुछ और कहते हों किन्तु आपको सूक्ष्म दृष्टि से देखना चाहिए कि जैन-धर्म क्या कहता है? आप तो श्रेष्ठ बने हैं उच्च बने हैं और अन्य मानव बेचारे भील बन गए हैं इसका क्या कारण है? जैन सिद्धान्त के अनुसार परमात्मा ने आपको उच्च और उन्हें नीच नहीं बनाया है बल्कि जिनको जीविका के साधन अच्छे मिल गए, वे 'आर्य' बन गए और श्रेष्ठ कहलाने लगे। किन्तु जिन्हें अच्छे साधन नहीं मिले वे म्लेच्छ बन गए। कर्म-

भूमि से पहले अकर्म-भूमि पर निवास करने वाले जुगलियो में 'आर्य' और 'म्लेच्छ' का मूलत कोई वर्ग-भेद नही था ।

हाँ, तो भगवान् ऋषभदेव ने तत्कालीन अभावग्रस्त यौगलिक जनता को 'महारभ' से 'अल्पारभ' की ओर मोडा, 'महा-सघर्ष' से 'अल्प-सघर्ष' की दिशा दी, और उनके दिलो मे दया की पावन गगा प्रवाहित की ।

जैन-शास्त्रो मे प्रस्तुत पचम काल के बाद आगे आने वाले आशिक प्रलय रूप छठे आरक का वर्णन है कि उसके आरभ मे सब वनस्पति एव वृक्ष आदि समाप्त हो जाएँगे । उस समय के मनुष्य भागकर गुफाओ मे चले जाएँगे और वहाँ अति दयनीय स्थिति मे जीवन यापन करेंगे । भोजन के लिए कन्द, मूल, पत्र, पुष्प, फल, अन्न कुछ भी प्राप्त न होगा , अत मत्स्य मास के आहार पर ही जीवन-निर्वाह करना होगा । धर्माचरण के रूप मे कुछ भी शेष न रहेगा । एक प्रकार से वन्य पशुओ की भाँति मानव-जाति की स्थिति हो जाएगी । वर्तमान काल-चक्र के अनन्तर जब उत्सर्पिणी काल का भी पहला आरक इसी दु ख पूर्ण अवस्था मे गुजर जाएगा और दूसरे आरक का आरभ होगा तब मेघ बरसेंगे, निरन्तर जल-वृष्टि होगी । और पृथ्वी, जो उक्त आरको मे लोहे के उत्तप्त गोले के समान गरम हो गई थी, शान्त हो जाएगी और फिर सारी वसुन्धरा वनस्पति-जगत् से हरी-भरी हो जाएगी ।

यह वर्णन मूल आगमो का है, कोई कल्पित कहानी नही है । उस समय गुफाओ मे रहने वाले मानव बाहर निकलेंगे । मासाहार के कारण जिनके शरीर मे कुष्ठ और खजली आदि

अनेक बीमारियाँ हो चुकी होंगी वे जब बाहर निकलकर स्वच्छ एवं शीतल हवा में विचरण करेंगे वनस्पति का शुद्ध आहार करेंगे और इससे जब उनके शरीर में ताजगी आएगी तो सारी बीमारियाँ स्वतः दूर हो जाएँगी।

भगवान् महावीर कहते हैं कि तब वे सब लोग जन समुदाय को एकत्र करेंगे और यह कहेंगे कि—देखो हमारे लिए प्रकृति की महती कृपा हो गई है और अत्यन्त सुन्दर एवं रुचिकर फल फूल तथा वनस्पतियाँ पैदा हो गई हैं। आज से हम सब प्रण करें कि कभी कोई मांस नहीं खाएँगे। और यदि कोई मास खाएगा तो हम अपने पर उसकी अपवित्र छाया का भी स्पर्श नहीं होने देंगे।*

अब आप विचार कीजिए कि वनस्पति के अभाव में क्या हुआ? महारंभ ने क्या जन्म लिया? और उन वृक्षों फलों वनस्पतियो और खेती-बाड़ी के रूप में जो सात्विक पदार्थ प्रकट हुआ उसने क्या किया? स्पष्ट ही है कि उसने यह आदर्श कार्य किया कि जो मांसाहार जनता में चल रहा था उसे छुड़ा दिया। यह प्रसग जैन परम्परा में सर्वसम्मत है और आगम के मूल पाठ मे इस बात का स्पष्ट उल्लेख है।

हाँ तो हम देखते हैं कि खेती-बाड़ी इधर (कर्म-भूमि के प्रारम्भ में) भी महारंभ से बचाती है और जब उत्सर्पिणी का काल चक्र शुरू होता है तब भी वही महारंभ से बचाती है। पत्र पुष्प फल और अन्न आदि वनस्पतियाँ आखिर किसके

---

*देखिए, जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति—दूसरा वक्षस्कार

प्रतीक है ? वे अल्पारंभ के उज्ज्वल प्रतीक हैं और महारंभ को रोकने के प्रामाणिक चिह्न हैं।

हाँ, तो इस प्रकार इधर और उधर—दोनों ही काल-चक्र में जब वनस्पतियाँ पैदा हो जाती हैं और खेती विकसित होती है तो मानव-समाज महाहिंसा से बच जाता है।

जब ऐसा महान् आदर्श चल रहा है, प्रत्येक अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी में ऐसा ही हुआ करता है, तो हम विचारते हैं कि क्या जैन-धर्म फल एवं अन्न के उत्पादन को महारंभ कहता है ? क्या, भगवान् ऋषभदेव ने जनता को महारंभ का कार्य सिखाया था ? क्या, उन्होंने नरक में ले जाने वाला कार्य सिखाया था ? वस्तुतः बात ऐसी नहीं है। हम आवेश में यह बात नहीं कर रहे हैं। हमारे मन में किसी प्रकार के एकान्त का आग्रह नहीं है, अपितु हमारा जो चिन्तन है और शास्त्रों को गहराई से अध्ययन करने के बाद हमारी जो सुनिश्चित धारणाएँ बनी हैं, उन्हीं को आज हम आपके सम्मुख प्रस्तुत कर रहे हैं।

जैन-धर्म इतना आदर्शवादी तथा यथार्थवादी धर्म है कि उसने अन्तरङ्ग की बातों को भली-भाँति समझा और तदनुसार कहा है कि यदि किसी क्षुधार्त को अन्न का एक कण दे दिया तो मानो, उसे प्राणों का दान दे दिया —

"अन्नदानं महादानम्।"

स्थानांग आदि शास्त्रों में नौ प्रकार के विभिन्न पुण्यों का वर्णन है। उनमें भी सबसे पहले 'अन्न-पुण्य' बतलाया गया है और नमस्कार-पुण्य को सबसे आखिर में डाल दिया

गया है क्योंकि जब पहले अन्न पेट में पड़े तो पीछे नमस्कार करने की सूझे। जब पेट में अन्न ही नहीं होता और उसके लिए हृदय तड़फता रहता है तो कौन किसको नमस्कार करता है ?

अतः पुण्य-साधना के द्वार पर सबसे पहले अन्न-पुण्य ही खड़ा है और दूसरे सब पुण्य उसके पीछे चले आ रहे हैं। अतः अन्न के उत्पादन को भी महारंभ और नरक का मार्ग बताना बुद्धि का विकार नहीं तो और क्या है ?

वैदिक-धर्म के उपनिषदों और पुराणों का मैंने गूढ़ अध्ययन किया है। उपनिषद् कहते हैं—'अन्नं वै प्राणाः' अर्थात्—'अन्न प्राण है। इस सम्बन्ध में सुविख्यात सन्त नरसी मेहता ने भी कहा है—

> "भूखे भजन न होहि गुपाला
> यह लो अपनी कंठी माला।"

कोई भूखा रहकर यदि माला पकड़ेगा भी तो कब तक पकड़े रहेगा ? भूख के प्रकोप से वह तो हाथ से छूटकर ही रहेगी। इसीलिए सन्त नरसी ने ठीक ही कहा है कि—गोपाल अब भूखे से भजन नहीं होगा ! लो यह अपनी कण्ठी और लो यह माला भी सँभालो। अब तो रोटी की माला जपूँगा और सबसे पहले उसी के लिए प्रयत्न करूँगा।

इस प्रकार वैदिक-धर्म 'अन्न को प्राण' कहता है और जैन-धर्म अन्न के दान को 'सबसे बड़ा दान'—सर्वप्रथम दान मानता है और भूख के परीषह की पूर्ति को पहला स्थान बतलाता है। इस तरह से एक-से-एक कड़ियाँ जुड़ी हुई

हैं। इस अन्न की प्राप्ति कृषि से ही होती है, और इसी कारण भगवान् ऋषभदेव ने युग की आदि मे जनता को कृषि-कर्म सिखाया और बताया। जैन-शास्त्रो मे कही भी साधारण गृहस्थ के लिए कृषि को त्याज्य नही कहा गया है।

कृषि-कर्म को महारभ वतलाने वाले भी एक दलील पेश करते हैं। किन्तु वह दलील अपने आप में कुछ नही, केवल दो शब्द है—'फोडी-कम्मे' जो पन्द्रह कर्मादानो में आते हैं। इस दलील को जव मै सुनता हूँ तो मेरे आश्चर्य का ठिकाना नही रहता। 'फोडी-कम्मे' का वास्तव में क्या अर्थ था और क्या समझ लिया गया है।

मैं चुनौती देकर भी कह सकता हूँ कि 'फोडी-कम्मे' का अथ खेती नही है। उसका अर्थ कुछ और है, और उस पर आपको तथा मुझको गम्भीरता से विचार करना है। गम्भीर चिन्तन करने पर उसका अथ और अधिक स्पष्ट हो जाएगा।

समग्र प्रमाणभूत जैन-साहित्य मे कही एक शब्द भी ऐसा नही है कि जहाँ कृषि को महारभ वतलाया गया हो। पन्द्रह-पन्द्रह सौ वर्षों के पुराने आचार्य हमारे सामने हैं। उन्होने 'फोडी-कम्मे' का ऐसा सारहीन अर्थ कही नही लिखा, जैसा कि आप समझते हैं। यह भ्रामक अर्थ कुछ दिनो से चल पडा है, जिसे धक्का देकर निकाल दिया जाएगा और उसके सही अथ की पुन प्रतिष्ठा करनी होगी। जो गलत धारणाएँ आज दिन प्रचलित हैं, उन्होने हमे न इधर का रखा है, न उधर का रहने दिया है।

पन्द्रह कर्मादानों में 'रसवाणिज्जे' भी आता है। उसका अर्थ समझ लिया— घी और दूध का व्यापार करना और जिसने यह व्यापार किया वह महारंभी हो गया। ऐसा कहने वाले शायद शराब को भूल गए। शब्दार्थ के अनुसार मुर्दे की चीज को तो भूल गए और घी-दूध के बहिष्कार में लग गए।

कुछ साथियों ने 'असईजण-पोसणिया कम्मे' का अर्थ कर दिया है—'असंयत अर्थात्— 'असंयमी जनों की रक्षा करना महारंभ है! किन्तु इसका वास्तविक अर्थ है— वेश्याओं या दुराचारिणी स्त्रियों के द्वारा अनैतिक व्यापार करके आजीविका उपार्जन करना। परन्तु उन लोगों ने इसकी व्याख्या करते हुए कहा—किसी गरीब को भूखे कुत्ते को और यहाँ तक कि अपने माता-पिता को भी रोटी देना महान् पाप एवं अनाचार है! क्योंकि वे भी असंयमी ही ठहरे! इस तरह इसे भी पन्द्रह कर्मादानों में शामिल कर दिया है।

लेकिन इन सब सारहीन अर्थों को और भ्रामक धार गाओं को बहिष्कार का धक्का मिलना ही चाहिए। जब तक हम ऐसा नहीं करेंगे तब तक जैन-धर्म को न तो स्वयं ही सही रूप में समझ सकेंगे और न दूसरों को ही समझा सकेंगे। 'फोडी-कम्मे' की सम्भी चर्चा के लिए इस अवसर पर समय का अभाव है। कभी उपयुक्त अवसर मिलने पर इस गूढ़ विषय पर विस्तृत और स्पष्ट प्रकाश डाला जाएगा।

—: २ :—

अन्न का महत्त्व

कुछ दिनो से बरावर 'अहिंसा' का ही प्रकरण चल रहा है। विस्तार के साथ अहिंसा पर प्रवचन करने का अभिप्राय यही है कि आप लोग अपने जीवन की सही दिशा और सही राह को प्राप्त करले और इधर-उधर को भुलाने वाली पगडडियो से वचते हुए जन-कल्याण के सीवे निष्कटक मार्ग पर आगे वढ सके।

'अहिंसा' आत्मा की खुराक है, तो 'रोटी' शरीर की खुराक है। जब आत्मा और शरीर साथ-साथ रह सकते हैं, तो अहिंसा और रोटी भी साथ-साथ क्यो नही रह सकती हैं ? यदि ये दोनो साथ-साथ न रह सकें, तो इसका अर्थ यह हुआ कि या तो हमे आत्मा की खुराक से वचित रहना चाहिए, अथवा शरीर को खुराक देना छोड देना चाहिए। इन दोनो में से आप किस प्रयोग को पसन्द करेगे ? यदि आप शरीर को ही खिला-पिला कर पुष्ट करना चाहते हैं, और आत्मा को मरने देना चाहते हैं तो फिर जीवन का, और खासकर इन्सान के जीवन का कुछ अर्थ ही नही रह जाता। मनुष्य और पशु के जीवन मे फिर अन्तर ही क्या रह जाता

है ? और यदि आप आत्मा को खुराक देना चाहते हैं और अहिंसा की साधना करना चाहते हैं तो आपको रोटी से वंचित होना पड़ेगा और रोटी से वंचित होने का अर्थ है—जीवन से और प्राणों से वंचित होना। यदि आप जीवन से वंचित होना चाहते हैं तो फिर अहिंसा की आराधना कौन से साधन के द्वारा करोगे ?

तब हमारे सामने दूसरा विकल्प उपस्थित होता है कि आत्मा और शरीर, जैसे साथ-साथ रहते हैं क्या उसी प्रकार अहिंसा और रोटी साथ-साथ नहीं रह सकती ? इसी प्रश्न पर हमें गहराई से विचार करना होगा। जहाँ तक साधु-जन का सम्बन्ध है उसके सामने कोई समस्या खड़ी नहीं होती क्योंकि उन्हें गृहस्थों के घर से सीधा भोजन भिक्षा के द्वारा प्राप्त हो जाता है। परन्तु गृहस्थों के लिए यह बात सुगम नहीं है। वे भिक्षा मांग कर अपना निर्वाह नहीं कर सकते। यदि सभी गृहस्थ भिक्षाजीवी बन जाएँ, तो उन्हें भिक्षा मिलेगी भी कहाँ से ? अतएव रोटी के लिए उन्हें कोई न कोई आजीविका स्वरूप धन्धा करना ही पड़ता है। परन्तु गृहस्थ का वह आजीविका पूरक धन्धा गृहस्थ की अहिंसा के विरुद्ध न हो ऐसा कोई उपयुक्त साधन खोज निकालना चाहिए।

यों तो जीवन की वर्तमान भूमिका में रोटी चाहिए या नहीं ? यह प्रश्न अधिक महत्त्व नहीं रखता। रोटी चाहिए, यह तो सुनिश्चित है। किन्तु रोटी कैसी चाहिए, किस रूप में चाहिए, और वह कहाँ से आनी चाहिए ? यही प्रश्न महत्त्वपूर्ण

है। रोटी के साथ महारंभ-स्वरूप महा-हिंसा आई है, या सद्गृहस्थ के अनुकूल अल्पारंभ-स्वरूप अल्प-हिंसा आई है? वह मर्यादित सात्विक प्रयत्न से आई है या बहुत बड़े अत्याचार और अन्याय के द्वारा आई है? रोटी तो छीना झपटी, लूटमार और डाका डालकर भी आ सकती है, और बेईमानियाँ करके भी आ सकती है। किन्तु वह रोटी, जिसके पीछे अन्याय और अनीति है—बुराई, छल-कपट, और धोखा है, वह आत्मा की खुराक के साथ कदापि नहीं रह सकती। वह रोटी, जो खून से सनी हुई आ रही है और जिसके चारों ओर रक्त की बूँदें पड़ी हैं, उसे एक अहिंसक कभी नहीं खा सकता। वह रोटी, उस खाने वाले व्यक्ति का भी पतन करेगी और जिस परिवार में ऐसी रोटी आती है, उस परिवार का, समाज का और राष्ट्र का भी पतन करेगी। वहाँ न तो साधु का धर्म टिकेगा, और न गृहस्थ का ही धर्म स्थिर रह सकेगा। वहाँ धार्मिक जीवन की कड़ियाँ टूट-टूट कर बिखर जाएँगी।

और जहाँ ये दाग कम से कम होंगे, वहाँ वह रोटी अमृत-भोजन बनेगी, जीवन का रस लेकर आएगी और उसमें आत्मा और शरीर—दोनों का सुखद पोषण होगा। न्याय और नीति के साथ, विचार और विवेक के साथ, किन्तु महारंभ के द्वार से नहीं, अपितु अल्पारंभ के द्वार से आने वाली रोटी ही पवित्रता का रूप लेगी और वही अमृत-भोजन की यथार्थता को सिद्ध करेगी। वह अमृत का भोजन मिठाई के रूप में भले ही न मिले, वह चाहे रूखा-सूखा टुकड़ा ही सही, तब भी वह अमृत का भोजन है। क्यों?

इसलिए कि उस रूखी-सूखी रोटी को प्राप्त करने के लिए जो उद्योग किया गया था वह न्याय नीति और सदाचार से पूर्ण था।

चाहे दुनिया भर का सुन्दर भोजन थालियों में सजा है किन्तु यदि विवेक और विचार नहीं है सिर्फ पेट भरने की ही भूमिका है तो वह कितना ही स्वादिष्ट और मधुर क्यों न हो वह अमृत भोजन नहीं है बल्कि विष-भोजन है। भारत की और जैन-संस्कृति की ऐसी ही परम्पराएँ रही हैं। दूसरे धर्मों को पढ़ें तो ज्ञात होगा कि उनकी भी यही परम्परा रही है।

इस प्रकार हिंसा और अहिंसा अल्पारम्भ और महारम्भ छोटी हिंसा और बड़ी हिंसा जीवन के चारों ओर फैली हुई हैं। हमें उसी में से मार्ग तलाश करना है। हमें देखना है कि हम आत्मा और शरीर—दोनों को एक साथ खुराक किस प्रकार पहुँचा सकते हैं ? हमें कौन-सा मार्ग लेना है कि जिससे न तो आत्मा का आघात पहुँचे और न शरीर का ही हनन करना पड़े ?

रोटी तक पहुँचने के लिए हमारे सामने दो रास्ते हैं। पहला मार्ग वह है—जहाँ महारंभ के द्वार में से गुजर कर जाना होता है जिससे खुद के भी और दूसरों के भी हाथ खून से सनते जाएँ और रोटी की तलाश में जिधर भी निकले हिंसा का नग्न नृत्य दिखलाई पड़े। दूसरा मार्ग है—गृहस्थ के अनुरूप अहिंसा का जिसके अनुसार अल्प-हिंसा से विवेक और विचार के साथ चलकर जीवन निर्वाह के लिए रोटी

प्राप्त कर ली जाय और अन्याय-अत्याचार न करना पड़े, भयानक हत्याकाण्ड भी न करना पड़े। ये दोनो मार्ग आपके समक्ष साकार रूप मे उपस्थित है। अब निर्दिष्ट प्रश्न पर विचार करना है कि आपको किस रास्ते पर जाना चाहिए? कौन-सा मार्ग आर्य-मार्ग है, और कौन-सा अनार्य-मार्ग है?

उपयोगिता के नाते कान सुनने के लिए है। उनसे गदी गाली भी सुनी जा सकती है, ससार के बुरे सगीत भी सुन सकते हैं, जिनसे मन और मस्तिष्क मे विकार उत्पन्न होते हैं। पारस्परिक निन्दा की असगत बाते भी सुनी जा सकती हैं। और वह आध्यात्मिक सगीत भी सुना जा सकता है, जो विकार वासनाओ मे एक जलती चिनगारी-सी लगा देता है उन्हे भस्म कर देता है। इस स्थिति मे इन्द्रियो के उपयोग के सम्बन्ध मे विवेक के साथ क्या कुछ निर्णय नही करना चाहिए?

मुँह का उपयोग किया जाता है, एक ओर किसी दीन-दुखिया को ढाढस बधाने के लिए, प्रेम की मधुर वाणी बोलने के लिए, और दूसरी तरफ कठोर गाली देने के लिए और दूसरो का तिरस्कार व निन्दा करने के लिए भी। हाँ, तो मुँह बोलने के लिए मिला है। परन्तु उससे क्या शब्द बोलने चाहिएँ, और किस अवसर पर बोलने चाहिएँ? यह निर्णय तो करना ही पडेगा।

ससार मे रहते हुए कानो से सुना भी जाएगा, मुँह से बोला भी जाएगा, और इसी प्रकार खाया-पिया भी जायगा। परन्तु धर्म-शास्त्र का उपयोग तो केवल इसीलिए है कि उसके सहारे हम यह विवेक प्राप्त करें कि हमे—क्या

घुमना चाहिए, क्या बोलना चाहिए और क्या खाना-पीना चाहिए ?

स्वर्ग में जब कोई जीव देव-रूप में उत्पन्न होता है तो सैकड़ों-हजारों देवी-देवता उसके अभिनन्दन हेतु खड़े हो जाते हैं। वहाँ चारों ओर से एक ही प्रश्न सुनाई पड़ता है और उस प्रश्न का उत्तर उस नए देवता को देना पड़ता है। वह प्रश्न है —

"किं वा दच्चा किं वा भुच्चा ?

अर्थात्—तुम क्या देकर आए हो और क्या खाकर आए हो ?

स्वर्ग मे उत्पन्न होते समय पूरी तरह सांस भी न ले सकोगे और पहली अँगड़ाई लेकर उठोगे ही तुम से यह प्रश्न पूछा जाएगा कि क्या खाकर आए हो ? तब इस सम्बन्ध मे विचार पूर्वक उत्तर देना ही होगा कि मैं न्याय-नीति के अनुसार अपना और अपने परिवार का भरण-पोषण करके आया हूँ। मैंने महा-हिंसा के द्वारा रोटी नहीं पाई है। एक विवेकशील गृहस्थ के रूप में श्रावक के योग्य जो भी खाया और खिलाया है वह महारम्भ के द्वारा नहीं किन्तु अल्पारंभ के द्वारा खाया और दूसरों को खिलाया है। यही उपयुक्त उत्तर वहाँ देना होगा।

मोक्ष और स्वर्ग की जो चर्चा होती है वास्तव मे वह मोक्ष और स्वर्ग की चर्चा नहीं अपितु जीवन-निर्माण की और सुनिश्चित मार्ग को ढूंढने की चर्चा है। वह चर्चा है— जीवन में अमृत का मार्ग खोजने की।

हाँ, तो प्रस्तुत प्रश्न के सम्बन्ध मे भी विवेक की आवश्यकता है। खेती-बाडी के रूप मे जो धन्धे हैं, वे किस रूप मे हैं और किस प्रकार के हैं ? भगवान् ऋषभदेव ने कहा है कि—"अनार्य मार्ग से रोटी मत पैदा करो। जहाँ दूसरो का खून वहाया जाता है, विना विवेक-विचार के और महा-रौद्रभाव से वहाया जाता है, वे सव अनार्य कर्म हैं। शिकार खेलना, मांस खाना, जुआ खेलना आदि, सव अनार्य कर्म हैं। इन अनार्य कर्मा के द्वारा जो रोटी आती है, वह रोटी नही, अपितु रोटी के रूप में पाप आता है। वह पाप तो जीवन का पतन ही करेगा।

" हमारे यहाँ 'प्रासुक' कामो की वडी चर्चा चला करती है। 'प्रासुक' वे काम कहलाते हैं, जिनमे हिंसा न हो, या अत्यल्प हो। दो जुएवाज आमने-सामने वैठे हैं। ताश का पत्ता उठाकर फेंका कि वस हार-जीत हुई और हजारों इधर से उधर हो गए। ऊपर-ऊपर से तो ऐसा मालूम होता है कि इसमें कोई हिंसा नही हुई। यदि दुकान करते हैं तो हिंसा होती है, दफ्तर जाते हैं तो हिंसा होती है। जीविका के लिए जो कुछ भी कार्य करते हैं, तो भी हिंसा हुए विना नही रहती। किन्तु जुआ खेलना ऐसा 'प्रासुक' काम है कि उसमे हिंसा नही है। वहुतो की ऐसी धारणा है, परन्तु विचार करना चाहिए कि यह महारंभ है या अल्पारंभ ? नीति है या अनीति है ? आप विचार करें या न करे, इस सम्वन्ध मे शास्त्रो ने तो निर्णय किया है और स्पष्ट वताया है कि—सात दुर्व्यसनो मे जुआ खेलना पहला दुर्व्यसन

है। मांस खाने और मद्य पीने की गणना बाद में की गई है सबसे पहले जुए की ही गर्दन पकड़ी गई है। यद्यपि जुआ खेलने में बाहर से कोई हिंसा दिखाई नहीं देती परन्तु अन्दर में हिंसा का कितना गहरा दूषण है जो दूर-दूर तक न जाने कितने परिवारों को उजाड़ देता है सिर्फ एक पत्त के रूप में। जुआरी का अन्तःकरण कितना कलुषमय रहता है कितना व्याकुल रहता है और जुए की बदौलत कितनी अनीति और कितनी बरबादी जीवन में प्रवेश करती है इन समस्त दूषण पक्षों को आप चाहे न देख सकते हो परन्तु शास्त्रकार की दूरदर्शी सूक्ष्म दृष्टि से यह सब कुछ छिपा नहीं है।

इस प्रकार हम देखते है कि ससार के सोचने का ढग कुछ और होता है और शास्त्रकारों का दृष्टिकोण कुछ और ही ढग का होता है।

हाँ तो कथन का आशय यही है कि अन्न अपने आप मे जीवन की बहुत महत्त्वपूर्ण आवश्यकता है। कपडे की भी आवश्यकता है और दूसरी चीजों की भी आवश्यकता है परन्तु पेट भरने की आवश्यकता सबसे पहली है। अन्न इतना महत्त्वपूर्ण है कि यदि ससार भर का धन एक तरफ पड़ा है और अन्न एक तरफ पड़ा है तो तराजू में अन्न का पलड़ा भारी रहेगा और दूसरी चीजों का हल्का।

जैनाचार्यों ने सम्राट् विक्रमादित्य का जीवन चरित्र लिखा है। एक बार सम्राट् हाथी पर सवार होकर निकल रहे थे। मंत्री और सेनापति पास मे बैठे थे। जब अनाज

की मंडी में से सवारी निकली तो सम्राट् ने अपने मंत्री से कहा—'कितने हीरे बिखरे पड़े हैं !'

मंत्री ने इधर-उधर आँख घुमाकर अत्यन्त सावधानी के के साथ देखा, किन्तु उसे कहीं हीरे नजर नहीं आए। तब वे बोले—अन्नदाता, हीरे कहाँ हैं ?

सम्राट् ने कहा—तुम्हें मालूम ही नहीं कि हीरे कहाँ पड़े हैं ? इतना कहकर सम्राट् उछल कर हाथी से नीचे उतर और धूल में से अन्न के उन बिखरे कणों को उठाकर बड़े प्रेम से खा गए।❀ फिर सम्राट् ने कहा—अन्न के ये दाने पैरों के नीचे कुचलने के लिए नहीं हैं। इन हीरों का महत्त्व-पूर्ण स्थान मुँह के सिवाय और कहाँ है ? यही उनके लिए तिजारी है और सुरक्षित स्थान है।

सम्राट् ने फिर कहा—"जो देश अन्न का अपमान करता है उसके विषय में जितनी लापरवाही करता है, वह उतनी ही हिंसा करता है उतनी ही दूसरों की रोटियाँ छीनता है, और दूसरों का गला घोंटता है।" और कहते हैं—वह अन्न-पूर्णा देवी साक्षात् रूप में प्रकट हुई और बोली—"राजन्, तुमने मेरा इतना आदर किया है अतः तुम अपने जीवन में कभी अन्न की कमी महसूस नहीं करोगे। तुम्हारे देश में अन्न का भण्डार अक्षय रहेगा।'

शास्त्रों में कहा भी गया है —

[illegible] नि [illegible]।'

अर्थात्— [illegible], अवहेलना और

❀ [illegible]

तिरस्कार न करो। यही कारण है कि भारत की संस्कृति में जूठन छोड़ना पाप समझा जाता है। यानी जितना भोजन आवश्यक हो उतना ही लिया जाए और जूठन छोड़कर नालियों में व्यर्थ न बहाया जाए। जो जूठन छोड़ते हैं वे अन्न देवता का जान-बूझकर अपमान करते हैं।

इस तरह अन्न का एक-एक दाना सोने के दाने से भी महँगा है। सोने के दानों के अभाव में कोई मर नहीं सकता परन्तु अन्न के दानों के बिना हजारों नहीं लाखों ने छटपटा कर प्राण दे दिये हैं। परिस्थितियाँ आने पर ही अन्न का वास्तविक महत्त्व मालूम होता है। जिनके यहाँ अन्न का भण्डार भरा है वे भले ही अन्न की कद्र न करें। परन्तु एक दिन ऐसा भी आता है जब कि भंडार खाली होते हैं और अन्न अपनी कद्र करा लेता है।

यदि अन्न रहेगा—तो धर्म ज्ञान विज्ञान सभी जीवित रहेंगे और यदि अन्न न रहा—तो वे सब भी काफूर हुए बिना न रहेंगे। आप भली भाँति जानते हैं कि जैन-साहित्य (मूल आगम-साहित्य) का बहुत-सा भाग विच्छिन्न हो गया है। वह कहाँ चला गया और कैसे चला गया? इस सम्बन्ध में आपने सुना होगा कि सुदूर अतीत में बारह वर्ष का घोर अकाल पड़ा था। उस समय अन्न के एक-एक दाने के लिए मनुष्य मरने लगे थे। उस समय पेट का प्रश्न ही सब से बड़ा और महत्त्वपूर्ण बन गया था और उसके सामने स्वर्ग और मोक्ष तक के प्रश्न गौण हो गए थे। जैन इतिहास कहता है कि वह विशाल आगम-साहित्य अन्न के अभाव में तत्का-

लीन भूख की भयानक ज्वालाओ मे भस्म हो गया।

उस दुर्भिक्ष के सम्बन्ध मे यहाँ तक सुना गया है कि—लोग हीरे और मोतियो के कटोरे भर कर लाते थे। वह कटोरा अन्न के व्यापारी को अर्पण करते और हजारो मिन्नतें करते थे, और साथ ही आँसुओ के मोती भी अर्पण कर देते थे। तब कही मोतियो के बराबर ज्वार के दाने मिलते थे। उन्ही दानो पर किसी तरह गुजारा किया जाता था। जब ऐसी भयानक स्थिति थी तो वह ज्ञान, विज्ञान, विचार और विवेक कहाँ ठहरता ? बडे-बडे सन्त, त्यागी और वैरागी, जिनको जाना था, वे तो सथारा करके आगे की दुनिया मे चले गए। परन्तु जो नही जा सके, वे लोग भूख के मारे घबरा गए। तनिक उस समय की परिस्थिति पर विचार तो कीजिए। जो साधक एक दिन बडी शान से साम्राज्य को भी ठुकरा कर आए थे, आज वे ही अन्न के थोडे-से दानो के अभाव मे—रोटी न मिलने पर—डगमगाते दिखाई देते हैं।

वास्तव मे यह जीवन का जटिल प्रश्न है। जब इसका ठीक तरह से अध्ययन करेंगे, तभी तो हमे सही राह मिलेगी। अन्यथा चिन्तन के अभाव मे सही दिशा नही मिल सकती। सही चिन्तन करने पर आपको स्पष्टतया मालूम हो जाएगा कि वास्तव मे भाग्यशाली वही है, जिसकी अन्न-सम्बन्धी आवश्यकता पूर्ण हो जाती है, और जिसकी यह आवश्यकता पूर्ण नही होती, उसके भाग्य का कोई अर्थ नही रहता।

परन्तु आजकल लोगो ने पुण्य की कसौटी दूसरी ही बना रखी है। वे जीवन के पुण्य को हीरे, जवाहरात, सोने

और चाँदी से तोलते हैं। जहाँ हीरों का ज्यादा ढेर लगा हो वहाँ ज्यादा पुण्य समझा जाता है। परन्तु जब पुण्य का इस अर्थवाद की तराजू पर तोलना शुरू किया तभी जीवन में सबसे पहले गड़बड़ शुरू हुई। अस्तु, आपको विचारना है कि इस सम्बन्ध में शास्त्रकार क्या कहते हैं आप क्या कहते हैं और हमारे दूसरे साथी क्या कहते हैं?

थोड़ा-सा विचार कीजिए और गम्भीर होकर सोचिए। एक गृहस्थ है उसके यहाँ खेती-बाड़ी का धन्धा होता है। वह कठोर परिश्रम के द्वारा रोटी कमाता है और गरीब होते हुए भी न्याय-नीति की मर्यादा में रहता है। दूसरा परिवार एक कसाई का है। उसके यहाँ प्रतिदिन हजारों पशु काटे जाते हैं और इस धन्धे के कारण उसके यहाँ हीरे और जवाहरात के ढेर लगे हैं। अब यदि किसी को जन्म लेना है तो इन दो परिवारों में से किस परिवार में जन्म लेना पुण्य है? उसका धर्म उसे किधर ले जाएगा? अच्छा जन्म वह किसान के यहाँ लेगा या कसाई के यहाँ? धर्मनिष्ठ किसान गरीब तो है परन्तु शास्त्रकार की तत्त्वदर्शी दृष्टि में असली पुण्य उसी दरिद्रनारायण की झोंपड़ी में है और वही पुण्यानुबन्धी सच्चा पुण्य है—जो यहाँ भी प्रकाश देता है आगे भी प्रकाश देता है और उसी प्रकाश से सारी वसुधा प्रकाशमान होती है।* मारवाड़ी भाषा में कहते हैं—'उससे सुखे सुखे मोक्ष प्राप्त होता है।

*देखिए, उत्तराध्ययन सूत्र १, १७

लीन भूख की भयानक ज्वालाओ मे भस्म हो गया ।

उस दुर्भिक्ष के सम्वन्ध मे यहाँ तक सुना गया है कि—लोग हीरे और मोतियो के कटोरे भर कर लाते थे । वह कटोरा अन्न के व्यापारी को अर्पण करते और हजारो मिन्नते करते थे, और साथ ही आँसुओ के मोती भी अर्पण कर देते थे। तब कही मोतियो के बराबर ज्वार के दाने मिलते थे । उन्ही दानो पर किसी तरह गुजारा किया जाता था । जब ऐसी भयानक स्थिति थी तो वह ज्ञान, विज्ञान, विचार और विवेक कहाँ ठहरता ? बडे-बडे सन्त, त्यागी और वैरागी, जिनको जाना था, वे तो सथारा करके आगे की दुनिया मे चले गए । परन्तु जो नही जा सके, वे लोग भूख के मारे घबरा गए । तनिक उस समय की परिस्थिति पर विचार तो कीजिए । जो साधक एक दिन बडी शान से साम्राज्य को भी ठुकरा कर आए थे, आज वे ही अन्न के थोडे-से दानो के अभाव में—रोटी न मिलने पर—डगमगाते दिखाई देते हैं ।

वास्तव मे यह जीवन का जटिल प्रश्न है । जब इसका ठीक तरह से अध्ययन करेगे, तभी तो हमे सही राह मिलेगी । अन्यथा चिन्तन के अभाव मे सही दिशा नही मिल सकती । सही चिन्तन करने पर आपको स्पष्टतया मालूम हो जाएगा कि वास्तव मे भाग्यशाली वही है, जिसकी अन्न-सम्बन्धी आवश्यकता पूर्ण हो जाती है, और जिसकी यह आवश्यकता पूर्ण नही होती, उसके भाग्य का कोई अर्थ नही रहता ।

परन्तु आजकल लोगो ने पुण्य की कसौटी दूसरी ही बना रखी है । वे जीवन के पुण्य को हीरे, जवाहरात, सोने

और चाँदी से तोलते हैं। जहाँ हीरों का ज्यादा ढेर लगा हो वहाँ ज्यादा पुण्य समझा जाता है। परन्तु जब पुण्य को इस अर्थवाद की तराजू पर तोलना शुरू किया तभी जीवन में सबसे पहले गड़बड़ शुरू हुई। अस्तु, आपको विचारना है कि इस सम्बन्ध में शास्त्रकार क्या कहते हैं, आप क्या कहते हैं और हमारे दूसरे साथी क्या कहते हैं?

थोड़ा-सा विचार कीजिए और गम्भीर होकर सोचिए। एक गृहस्थ है, उसके यहाँ खेती-बाड़ी का धन्धा होता है। वह कठोर परिश्रम के द्वारा रोटी कमाता है और गरीब होते हुए भी न्याय-नीति की मर्यादा में रहता है। दूसरा परिवार एक कसाई का है। उसके यहाँ प्रतिदिन हजारों पशु काटे जाते हैं और इस धन्धे के कारण उसके यहाँ हीरे और जवाहरात के ढेर लगे हैं। अब यदि किसी को जन्म लेना है तो इन दो परिवारों में से किस परिवार में जन्म लेना पुण्य है? उसका धर्म उसे किधर ले जाएगा? अगला जन्म वह किसान के यहाँ लेगा या कसाई के यहाँ? धर्मनिष्ठ किसान गरीब तो है परन्तु शास्त्रकार की तत्त्वदर्शी दृष्टि में असली पुण्य उसी दरिद्रनारायण की झोंपड़ी में है और वही पुण्यानुबन्धी सच्चा पुण्य है—जो यहाँ भी प्रकाश देता है, आगे भी प्रकाश देता है और उसी प्रकाश से सारी वसुधा प्रकाशमान होती है।* मारवाड़ी भाषा में कहते हैं—'उससे सुखे सुखे मोक्ष प्राप्त होता है।

---

*देखिए, उत्तराध्ययन सूत्र ३, १७

पापाचार के द्वारा रुपए, पैसे, अठन्नियाँ और चवन्नियाँ ज्यादा मिल गई तो किस काम की ? यदि रूखी-सूखी रोटी विवेक, विचार और नीति के साथ मिल जाती है, तो वही पुण्य का सीधा मार्ग है। दुनिया भर के अत्याचारो के बाद और निरीह प्राणियो का खून बहाकर अगर हीरे और मोती मिल भी जाएँ तो हमारे यहाँ वह पुण्य का मार्ग नही माना जाता है।

अब आप क्या निर्णय करते हैं ? किस परिवार में जन्म लेना पसन्द करते हैं ? हमारे यहाँ एक श्रावक ने, जोकि एक बडे विचारशील हो चुके हैं, यह कहा है कि मुझे अन्याय और अत्याचार के सिंहासन पर यदि चक्रवर्ती का साम्राज्य भी मिले तो उसे ठुकरा दूँगा और अनन्त-अनन्त काल तक उसकी कल्पना भी नही करूँगा। मेरे सत्कर्मों के फलस्वरूप, मेरी तो यही भावना है कि मुझे अगला जन्म लेना ही न पडे। यदि जन्म लेना ही पडे तो मैं किसी ऐसे परिवार मे ही जन्म लूँ, जहाँ विवेक हो, विचार हो, न्याय और नीति हो, फिर चाहे उस परिवार मे जूठन उठाने का ही काम मुझे क्यो न करना पडे!

वस्तुत यही निर्णय ठीक है और आदर्श-जीवन का प्रतीक है। आपके पूर्वजो का यह आदर्शपूर्ण निर्णय, भारत की मूल सस्कृति का द्योतक है और यह वह प्रतीक है जिसे जैन-धर्म ने अपना गौरव माना है। इसमें जो उमग, उत्साह और आनन्द है, वह अन्यत्र कहाँ ?

मै आप से पूछता हूँ—दो यात्री चले जा रहे हैं। बहुत बडा मैदान है, सैकडो कोसो तक गाँव क[illegible]

दोनों यात्री भयङ्कर रास्ते से गुजर रहे हैं। उन दोनों को भूख लग आई। भूख के मारे छटपटाते हुए, व्याकुल होते हुए चले जा रहे हैं। अकस्मात् उस समय वे एक तरफ दो थैले पड़े हुए देखते हैं। उन्हें देखकर वे अपने को भाग्यशाली समझते हैं और आपस में फैसला करते हैं कि यह थैला तेरा और वह मेरा। अर्थात्—वे दोनों उन थैलों का बँटवारा कर लेते हैं। वे दोनों थैला के पास पहुँचते हैं और अपने अपने थैले को खोलते हैं। एक में भुने चने निकलते हैं और दूसरे में हीरे और मोती। अब आप ही निर्णय दीजिए कि वास्तव में भाग्यशाली कौन है? यहाँ किसके पुण्य का उदय हुआ है? जिसे जवाहरात का थैला मिला है वह उन्हें लेकर अपने सिर से मार लेता है और कहता है कि इनकी अपेक्षा यदि दो मुट्ठी चने मिल जाते तो ही अच्छा था! उनसे प्राण तो बच जाते! ऐसी स्थिति में जीवन रक्षा की दृष्टि से उन हीरों और मोतियों का क्या मूल्य है?

जिसे अन्न का थैला मिला वह बाग-बाग हो जाता है कि न जाने किस जन्म का पुण्य आज काम दे गया है।

इसके लिए मैं तो यही कहूँगा कि शास्त्र का भी टटोलने की जरूरत नहीं है सिर्फ जीवन का ही टटोलने की जरूरत है और जीवन-सम्बन्धी यथार्थवादी दृष्टिकोण के अध्ययन की अनिवार्य आवश्यकता है।

भारतीय संस्कृति के एक आचार्य ने कहा है कि—"अन्न की निन्दा करना पाप है। जूठन छोड़ना हमारे यहाँ हिंसा है क्योंकि वह अन्न का अपमान है और हम

खाना पुण्य है। कम खाना पुण्य तो अवश्य है, परन्तु खाने को कम मिलना क्या है? आपके सामने तीन चीजें हैं—ज्यादा खाना, कम खाना और कम खाने को मिलना। ज्यादा खाने के विषय में तो आपने कह दिया कि ग्रन्थकारो के कथनानुसार ज्यादा खाने वाला अगले जन्म मे अजगर बनता है। और कम खाना धर्म माना जाता है। अपने यहाँ ऊनोदर तप माना गया है जो कि अनशन के बाद आता है, वह बडा उत्कृष्ट तप है। तपो मे एक के बाद दूसरा, और दूसरे के बाद तीसरा सूक्ष्म होता जाता है, अर्थात्—उत्तरोत्तर महत्त्वपूर्ण होता जाता है। एक आचार्य ने कहा है कि अनशन की तुलना मे ऊनोदर तप विशेष महत्त्व रखता है। इसका क्या कारण है? अनशन तप के समय बिल्कुल ही नही खाया जाता, खाने की तरफ ध्यान ही नही दिया जाता, परन्तु ऊनोदर में कम खाया जाता है। खाने के लिए बैठना और जब स्वादिष्ट मिष्टान्नो के खाने का आनन्द अनुभव हो तो भी अधूरा खाना मुश्किल होता है। भोजन करते समय भोजन के रस को बीच में ही छोड देना, भोजन बिल्कुल ही न करने की अपेक्षा अधिक त्यागवृत्ति मांगता है। यह एक बडा एव पवित्र परिवर्तन है, आध्यात्मिक क्रान्ति है। इस प्रकार का कम खाना हमारे यहाँ धर्म माना गया है।

---

*जैन-धर्म में अनशन आदि बारह तप माने गए हैं, उनमें ऊनोदर दूसरे नम्बर पर है। ऊनोदर का अर्थ है—जितनी भूख हो, उससे भी कुछ कम खाना। अर्थात्—पेट को थोडा खाली रखना।

परन्तु खाने को कम मिलना क्या है? इसे पाप माना गया है। भारतीय संस्कृति कहती है कि कम खाना तो धर्म है किन्तु खाने की मात्रा कम मिलना पाप है। जिस देश के बच्चों बूढ़ों महिलाओं और नौजवानों को खाना नहीं मिलता है उस देश की व्यवस्था करने वालों के लिए यह एक बड़ा गुनाह है। कम खाने की शिक्षा अवश्य दी गई है,'पर खाना कम क्यों मिलना चाहिए? खाने की मात्रा कम मिलना अपनी व्यवस्था को दोषपूर्ण सिद्ध करता है और अपने में एक पाप को प्रकट करता है। और यह पाप ऐसी बुराई है जो हमारी दूसरी बुराइयों को पैदा करती है।

इस विवेचन से यह स्पष्ट है कि धर्म को पुण्य को या सत्कर्म को हीरों और मोतियों से तोलना गलत बात है। पर दुःख तो इस बात का है कि गलत राह को सही मान लिया गया है। पुण्य और पाप को जीवन की उपयोगिता व और उपयोगिताओं की पूरक आवश्यकताओं से तोलना चाहिए। जीवन की किसी भी अनिवार्य आवश्यकता की परिपूर्ति हीरे-जवाहरात की विद्यमानता से नहीं हो सकती। चाँदी सोने की 'रोटियाँ' खाकर, मोतियों का 'शाक' बनाकर और हीरे का 'पानी' पीकर कोई अपने प्राणों की रक्षा नहीं कर सकता। प्राणों की रक्षा तो केवल अन्न ही कर सकता है। अमीर हो या गरीब दोनों को ही अन्न की सीधी-सच्ची राह पर चलना होगा। आखिर, जीवन तो जीवन की ही राह पर चलेगा। इस सम्बन्ध में एक आचार्य ने कहा है —

'पृथिव्यां त्रीणि रत्नानि जलमन्नं सुभाषितम्।
मूढैः पाषाण-खण्डेषु, रत्न-संज्ञा विधीयते।।'

सहित अयोध्या वापिस आए तो परिवार के लोग तथा राज्य के बड़े-बड़े सेठ साहूकार उनके स्वागत के लिए दौड़ पड़े। हजारों की संख्या में जनता अभिनन्दन के लिए वहाँ जा पहुँची। रामचन्द्रजी ने सबसे क्षेम कुशल पूछते समय एक ही प्रश्न किया—घर में सब ठीक है धान्य की कमी तो नहीं है?

कुछ लोग रामचन्द्रजी के प्रश्न का मर्म नहीं समझ सके। उन्होंने सोचा— मालूम होता है महाराज भूल गए हैं। तभी तो यह नहीं पूछा कि रत्न भंडार तो भरे हैं? और यह भी नहीं पूछा कि घर में कितना धन है? वरन् यह पूछा कि घर में धान्य की कमी तो नहीं है। महाराज के अन्तर में आजकल रोटी ही समाई हुई है।

अस्तु, उपस्थित लोगों ने हँसते हुए कहा—'महाराज आपकी कृपा है। अन्न की कुछ कमी नहीं है। अन्न के के भंडार इतनी विशाल मात्रा में भरे पड़े हैं कि वर्षों खाएँ तब भी खाली नहीं हों। उक्त कथन में स्पष्ट ही परिहास की ध्वनि सुनाई दे रही थी।

लोगों की इस भ्रान्त धारणा को समझने में रामचन्द्र जी को देर नहीं लगी। उन्होंने सोचा—जिनके पेट भरे हुए हैं उनकी निगाह अन्न से हटकर अन्यत्र भटक गई है। इसीलिए ये सब लोग मेरे प्रश्न के महत्त्व को नहीं समझ सके और मुस्कराने लगे हैं।

स्वागत अभिनन्दन के बाद रामचन्द्रजी अयोध्या में आ गए। एक दिन राज्य-भर में यह सन्देश प्रसारित किया

यह संस्कृत पद्य है, मैंने हिन्दी में उसका अनुवाद इस प्रकार किया है —

' भूमण्डल में तीन रत्न हैं, पानी अन्न-सुभाषित वाणी ।
पत्थर के टुकड़ों में करते, रत्न-कल्पना पामर प्राणी ॥"

वास्तव में इस पृथ्वी पर तीन ही रत्न चमक रहे हैं—जल, अन्न और सुभाषित वाणी । नदी, तालाब या नहर में जो जल वह रहा है, उसकी एक-एक बूँद की तुलना मोतियों और हीरों से भी नहीं की जा सकती । यदि कोई तोलता है तो वह गलती करता है । अन्न का एक-एक दाना चमकता हुआ रत्न है, जिसकी रोशनी हीरों की चमक को भी मात करती है । तीसरा रत्न है—सुभाषित वाणी , अर्थात्—मीठा बोल । ऐसा बोल, जो लगे हुए घाव पर मरहम का काम करे, प्रेम का उपहार अर्पण कर दे । बेगानों को अपना बना दे और जब मुँह से निकले तो ऐसा लगे कि मानो फूल झर रहे है , ऐसा सुभाषित भी एक रत्न है ।

जो मूढ है—यहाँ आचार्य 'मूढ' शब्द का प्रयोग कर रहे है तो मुझे भी करना पड रहा है, अर्थात्—अज्ञानी हैं, वे पत्थर के टुकडों में रत्नों की कल्पना करते हैं । किन्तु पूर्वोक्त तीन रत्न ही वास्तविक रत्न है, और ये चमकते हुए पत्थर के टुकडे उनके समकक्ष कहाँ ?

रामायण काल की एक घटना है, जिसमे बहुत ही सुन्दर तथ्य का वर्णन है ।* जब रामचन्द्रजी चौदह वर्ष का वनवास समाप्त कर रावण-बध के बाद सीता तथा वानरो

*देखिए, उपदेश—तरंगिणी

सहित अयोध्या वापिस आए तो परिवार के साथ प्रजा राज्य के बड़े-बड़े सेठ साहूकार उनके स्वागत के लिए दौड़ पड़े। हजारों की संख्या में जनता अभिनन्दन के लिए वहाँ आ पहुँची। रामचन्द्रजी ने सबसे क्षेम-कुशल पूछते समय एक ही प्रश्न किया—घर में सब ठीक है धान्य की कमी तो नहीं है?

कुछ लोग रामचन्द्रजी के प्रश्न का मर्म नहीं समझ सके। उन्होंने सोचा— मालूम होता है महाराज भूल आए हैं। तभी तो यह नहीं पूछा कि रत्न-भंडार तो भरे हैं? और यह भी नहीं पूछा कि घर में कितना धन है? वरन् यह पूछा कि घर में धान्य की कमी तो नहीं है। महाराज के अन्तर में आजकल रोटी ही समाई हुई है।

अस्तु, उपस्थित लोगों ने हँसते हुए कहा— महाराज आपकी कृपा है। अन्न की कमी नहीं है। अन्न के भंडार इतनी विशाल मात्रा में भरे पड़े हैं कि कहाँ खाएँ, तब भी खाली नहीं हों। उक्त कथन में स्पष्ट ही परिहास की ध्वनि समाई दे रही थी।

लोगों की इस भ्रान्त धारणा को समझने में रामचन्द्र जी को देर नहीं लगी। उन्होंने सोचा—जिनके पेट भरे हुए हैं उनकी निगाह अन्न से हटकर अन्यत्र भटक गई है। इसीलिए ये सब लोग मेरे प्रश्न के महत्त्व को नहीं समझ सके और मुस्कराने लगे हैं।

स्वागत अभिनन्दन के बाद रामचन्द्रजी अयोध्या में आ गए। एक दिन राज्य-भर में यह सन्देश प्रसारित किया

यह संस्कृत पद्य है, जिसका हिन्दी में उसका अनुवाद इस प्रकार किया है —

"भूतल में तीन रत्न हैं, पानी अन्न-सुभाषित वाणी।
पत्थर के टुकड़ों में करते, रत्न-कल्पना पामर प्राणी॥"

वास्तव में इस पृथ्वी पर तीन ही रत्न चमक रहे हैं— जल, अन्न और सुभाषित वाणी। नदी, तालाब या नहर में जो जल बह रहा है, उसकी एक-एक बूँद की तुलना मोतियों और हीरों से भी नहीं की जा सकती। यदि कोई तोलता है तो वह गलती करता है। अन्न का एक-एक दाना चमकता हुआ रत्न है, जिसकी रोशनी हीरों की चमक को भी मात करती है। तीसरा रत्न है—सुभाषित वाणी, अर्थात्—मीठा बोल। ऐसा बोल, जो लगे हुए घाव पर मरहम का काम करे, प्रेम का उपहार अर्पण कर दे। बेगानों को अपना बना दे और जब मुँह से निकले तो ऐसा लगे कि मानो फूल झर रहे हैं ऐसा सुभाषित भी एक रत्न है।

जो मूढ हैं—यहाँ आचार्य 'मूढ' शब्द का प्रयोग कर रहे हैं तो मुझे भी करना पड़ रहा है, अर्थात्—अज्ञानी हैं, वे पत्थर के टुकड़ों में रत्नों की कल्पना करते हैं। किन्तु पूर्वोक्त तीन रत्न ही वास्तविक रत्न हैं, और ये चमकते हुए पत्थर के टुकड़े उनके समकक्ष कहाँ ?

रामायण काल की एक घटना है, जिसमें बहुत ही सुन्दर तथ्य का वर्णन है।* जब रामचन्द्रजी चौदह वर्ष का वनवास समाप्त कर रावण-वध के बाद सीता तथा वानरों

*देखिए, उपदेश—तरंगिणी।

रामचन्द्र जी बोले—क्या हुआ ? एक-एक हीरा लाखों के मूल्य का है और कुछ रत्न तो सर्वथा अनमोल हैं। आप सोच-विचार में क्यों पड़े है ? भोजन कीजिए न ?

प्रजाजन बोले—महाराज अनमोल तो अवश्य हैं। इनसे जेब ही भरी जा सकती है परन्तु पेट नहीं भरा जा सकता। पेट तो पेट के तरीके से ही भरेगा।

राम ने फिर कहा—बड़ी सुन्दर चीज है! ऐसी चीजें देखने में भी कम आती हैं। ये तो पेट के लिए ही हैं।

प्रजाजन कहने लगे—महाराज इन्हें पेट में डालें भी कैसे ? यह पेट की नहीं जेब की खुराक है।

अब रामचन्द्रजी ने असली मर्म खोला। बोले—उस दिन जब मैंने प्रश्न किया था कि—घर में धान्य की कमी तो नहीं है ? तब आप लोग धन के प्रमोद में हँसने लगे थे। आपकी आँखों में तो धन का ही महत्त्व है! आपको तो हीरे और मोती ही चाहिए! धान्य की जरूरत ही क्या है ? बस धन मिल गया तो ठीक है उसी से जीवन पार हो जाएगा।

इसके बाद रामचन्द्रजी ने फिर कहा—अब आप भली भाँति समझ गए होंगे! धन से पहला नम्बर धान्य का है। धान्य मिलेगा तो धन कमाने के लिए हाथ उठेगा और धान्य नहीं मिला तो एक कौड़ी कमाने के लिए भी हाथ नहीं उठ सकता। आपके संकल्प गलत रास्ते पर चले गए हैं अतः सही स्थिति को आप नहीं समझ सके हैं। अन्न की उपेक्षा जीवन की उपेक्षा है। अन्न का अपमान करने वाला राष्ट्र भी अपमानित हुए बिना नहीं रह सकता। जिस देश के लोग

गया कि महाराज रामचन्द्रजी वनवास की अवधि पूरी करके सकुशल लौट आए हैं, अत नगर-निवासियो को प्रीतिभोज देना चाहते है। सारी प्रजा को निमन्त्रण दे दिया गया। अमुक समय निश्चित कर दिया गया और तदनुसार सब प्रजाजन आ पहुँचे।

निमन्त्रण सभी को प्रिय होता है। साधारण घर का मिले तो भी लोगो को वह बडी चीज मालूम होती है फिर कही सम्राट् के घर का मिल जाए, तब तो कहना ही क्या है? आज जवाहरलाल नेहरू के यहाँ यदि किसी को एक गिलास सादा पानी ही क्यो न मिल जाए, फिर देखिए, वह अभिमान की तीरकमान से कैसी तीरदाजी दिखाता है।

हाँ, तो नियत समय पर सब लोग भोजन के लिए आ गए और पगत बैठ गई। रामचन्द्रजी ने कहा—"भैया, हम अपने हाथो से परोसेगे।" हीरे और मोतियो की भरी हुई डलियाँ आई। राम ने एक-एक मुट्ठी सब की थाली मे परोस दिए।

हमारी भारतीय परम्परा यह है कि भोजन कराने वाले की आज्ञा मिलने पर ही भोजन आरम्भ किया जाता है। लोगो ने सोचा कि हीरे आदि तो पहले-पहल भेंट-स्वरूप परोसे गए हैं, भोजन तो अब आएगा। परन्तु रामचन्द्रजी ने हाथ जोडकर विनम्र निवेदन किया—"भोजन आरम्भ कीजिए।"

लोग पशोपेश मे पड गए कि खाएँ क्या? खाने को तो कोई चीज परोसी ही नही गई!

रामचन्द्र जी बोले—क्या हुआ? एक-एक हीरा लाखों के मूल्य का है और कुछ रत्न तो सर्वथा अनमोल हैं। आप सोच-विचार में क्यों पड़े हैं? भोजन कीजिए न?

प्रजाजन बोले—महाराज अनमोल तो अवश्य हैं। इनसे जेब ही भरी जा सकती है परन्तु पेट नहीं भरा जा सकता। पेट तो पेट के तरीके से ही भरेगा।

राम ने फिर कहा—बड़ी सुन्दर चीज हैं! ऐसी चीजें देखने में भी कम आती हैं। ये तो पेट के लिए ही हैं।

प्रजाजन कहने लगे—महाराज इन्हें पेट में डालें भी कैसे? यह पेट की नहीं जेब की खुराक है।

अब रामचन्द्रजी ने असली मर्म खोला। बोले—उस दिन जब मैंने प्रश्न किया था कि—घर में धान्य की कमी तो नहीं है? तब आप लोग धन के प्रमाद में हँसने लगे थे। आपकी आँखों में तो धन का ही महत्त्व है! आपको तो हीरे और मोती ही चाहिए! धान्य की चकरत हो क्या है? बस धन मिल गया तो ठीक है उसी से जीवन पार हो जाएगा।

इसके बाद रामचन्द्रजी ने फिर कहा—अब आप भली भाँति समझ गए होंगे! धन से पहला नम्बर धान्य का है। धान्य मिलेगा तो धन कमाने के लिए हाथ उठेगा और धान्य नहीं मिला तो एक कौड़ी कमाने के लिए भी हाथ नहीं उठ सकता। आपके मकान गलत रास्ते पर चल गए हैं अतः सही स्थिति का भान नहीं समझ सके हैं। अन्न की उपमा जीवन की उपमा है। अन्न का अपमान करने वाला राष्ट्र भी अपमानित हुए बिना नहीं रह सकता। जिस देश के मान

अन्न को हीन दृष्टि से देखने लगें, फिर वह देश दुनिया के द्वारा हीन दृष्टि से क्यों न देखा जाए ?

अन्न की समस्या जीवन की प्रमुख समस्या है। इसीलिये भगवान् ऋषभदेव जब इस संसार में अवतीर्ण हुए और उन्हें भूखी जनता मिली तो धर्म का उपदेश देने से पहले उन्होंने आजीविका का ही प्राथमिक उपदेश दिया और उसमें कृषि ही एकमात्र ऐसी आजीविका थी, जिसका साक्षात् सम्बन्ध उदर पूर्ति से था। हजारों आचार्यों ने उनके उपदेश को ऊँचा उठा लिया और कहा कि उन्होंने इतना पुण्य प्राप्त किया कि हम उसकी कोई सीमा बाँधने में असमर्थ हैं। भगवान् ने जो आय-वृत्ति सिखलाई, उसका वर्णन आचार्यों ने भी किया है और मूल-सूत्रकारों ने भी किया है।

इस सम्बन्ध में लोग शायद यह कह सकते हैं कि उस समय भगवान् गृहस्थ थे, इसीलिये उन्होंने गृहस्थ का मार्ग सिखा दिया। बात तो ठीक ही है, सभी विचारक कृषि को गृहस्थ का और संसार का मार्ग कहते हैं। कौन कहता है कि वह मोक्ष का मार्ग है ? परन्तु प्रश्न तो नीति और अनीति का है। गृहस्थ की आजीविका दोनों तरह से चलती है। कोई गृहस्थ न्याय-नीति से अपना जीवन-निर्वाह करता है, और कोई अनीति से—जुआ खेलकर, कसाई खाना खोलकर, शिकार करके, चोरी करके, या ऐसा ही कोई दूसरा अनैतिक धन्धा करके निर्वाह करता है। आप इनमें से किसे अपेक्षाकृत अच्छा समझते हैं ?

जहाँ न्याय और नीति है, वहाँ पुण्य है। भगवान् ने तो

संसार को नीति ही सिखाई, अनीति नहीं। यदि शिकार खेलना सिखा देते तो वह भी एक आजीविका का मार्ग था परन्तु वह अनीति का मार्ग है। अतएव भगवान् ने जनता को अन्याय का मार्ग जान-बूझकर नहीं सिखाया।

जम्बूद्वीप-प्रज्ञप्ति सूत्र में जहाँ युगलियों की जीवन-लीला का वर्णन है और उसी में यह उल्लेख भी है कि—भगवान् ने उन्हें तीन कर्म सिखलाए साथ में यह भी कहा है—

"पयाहियाए उवदिसइ।

अर्थात्—प्रजा के हित के लिए, उनके कल्याण के लिए ये सब कलाएँ सिखलाई।

भगवान् के द्वारा उन कलाओं का सिखाया जाना रिपट पड़े की हरगङ्गा' नहीं था। एक बूढ़ा सर्दी के मौसम में गङ्गा के किनारे किनारे जा रहा था। उसका पैर फिसल गया और वह गङ्गा में गिर पड़ा। जब गिर पड़ा तो कहने लगा—हर गंगा हर गंगा। इसी को 'रिपट पड़े की हर गंगा' कहते हैं। सर्दी के कारण गंगा-स्नान करने की इच्छा नहीं थी किन्तु जब गंगा में गिर ही पड़े तो गंगा-स्नान का नाटक खेलने लगे।

हाँ तो भगवान् के द्वारा इस तरह बिना समझे-बूझे कलाएं नहीं सिखाई गईं। उन्होंने विवेक को साथ में लेकर और विचार के मापक से नीति को सही दृष्टिकोण से नापकर प्रजा के कल्याण की कल्पना की थी। लोगों को नरक के द्वार पर पहुँचाने के लिए नहीं वरन् कल्याण के मार्ग पर

अन्न को हीन दृष्टि से देखने लगे, फिर वह देश दुनिया के द्वारा हीन दृष्टि से क्यो न देखा जाए ?

अन्न की समस्या जीवन की प्रमुख समस्या है। इसीलिये भगवान् ऋपभदेव जव इस ससार मे अवतीर्ण हुए और उन्हे भूखी जनना मिली तो धम का उपदेश देने से पहले उन्होने आजीविका का ही प्राथमिक उपदेश दिया और उसमे कृपि ही एकमात्र ऐसी आजीविका थी, जिसका साक्षात् सम्वन्ध उदर पूर्ति से था। हजारो आचार्यों ने उनके उपदेश को ऊँचा उठा लिया और कहा कि उन्होने इतना पुण्य प्राप्त किया कि हम उसकी कोई सीमा बाँधने मे असमर्थ हैं। भगवान् ने जो आर्य-वृत्ति सिखलाई, उसका वर्णन आचार्यों ने भी किया है और मूल-सूत्रकारो ने भी किया है।

इस सम्बन्ध मे लोग शायद यह कह सकते हैं कि उस समय भगवान् गृहस्थ थे, इसीलिये उन्होने गृहस्थ का माग सिखा दिया। बात तो ठीक ही है, सभी विचारक कृपि को गृहस्थ का और ससार का माग कहते हैं। कौन कहता है कि वह मोक्ष का मार्ग है ? परन्तु प्रश्न तो नीति और अनीति का है। गृहस्थ की आजीविका दोनो तरह से चलती है। कोई गृहस्थ न्याय-नीति से अपना जीवन-निर्वाह करता है, और कोई अनीति से–जुआ खेलकर, कसाई खाना खोलकर, शिकार करके, चोरी करके, या ऐसा ही कोई दूसरा अनैतिक धन्धा करके निर्वाह करता है। आप इनमे से किसे अपेक्षाकृत अच्छा समझते हैं ?

जहाँ न्याय और नीति है, वहाँ पुण्य है। भगवान् ने तो

— ३ :—

श्रावक और स्फोट कर्म

हिंसा और अहिंसा का प्रश्न इतना जटिल है कि जब तक गहराई में पहुँच कर हम इस पर विचार नहीं कर लेते तब तक उसकी वास्तविक रूप रेखा हमारे सामने नहीं आ सकती। प्राय देखा जाता है कि लोग शब्दों को पकड़ कर बस पड़ते हैं फलत: उनके हाथ में किसी तत्त्व का केवल एक छोखा मात्र ही रह जाता है और उसका रस प्राय: निचुड़ जाता है। जिस फल का रस निचुड़ जाता है और केवल ऊपरी छोखा ही रह जाता है उसका कोई मूल्य नहीं होता। वह तो केवल भार है। हिंसा और अहिंसा के सम्बन्ध में भी आजकल यही दृश्य देखा जाता है। प्राय लोग हिंसा-अहिंसा के शब्दों को ऊपर-ऊपर से पकड़ कर बैठ गए हैं इस कारण उक्त शब्दों के भीतर का मर्म उनकी समझ में नहीं आ सका।

हिंसा और अहिंसा का वास्तविक मर्म समझाने के लिए बहुत दिनों से सामूहिक प्रवचन एवं व्यक्तिगत चर्चाओं द्वारा स्पष्ट प्रयत्न किए जा रहे हैं। किन्तु इन प्रयत्नों का उपयोग

अग्रसर करने के लिए , मानव को दानव बनाने के लिए नहीं, वरन् इन्सान की इन्सानियत को कायम रखने के लिए, कृषि आदि आदर्श कलाओं का सत् शिक्षण दिया था ।

— २ —

श्रावक और स्फोट कर्म

हिंसा और अहिंसा का प्रश्न इतना जटिल है कि जब तक गहराई में पहुँच कर हम इस पर विचार नहीं कर लेते तब तक उसकी वास्तविक रूप रेखा हमारे सामने नहीं आ सकती। प्रायः देखा जाता है कि लोग शब्दों को पकड़ कर चल पड़ते हैं फलतः उनके हाथ में किसी तत्त्व का केवल एक छोला मात्र ही रह जाता है और उसका रस प्रायः निचुड़ जाता है। जिस फल का रस निचुड़ जाता है और केवल ऊपरी छोला ही रह जाता है उसका कोई मूल्य नहीं होता। वह तो केवल भार है। हिंसा और अहिंसा के सम्बन्ध में भी आजकल यही दृश्य देखा जाता है। प्रायः लोग हिंसा-अहिंसा के शब्दों को ऊपर-ऊपर से पकड़ कर बैठ गए हैं इस कारण उक्त शब्दों के भीतर का मर्म उनकी समझ में नहीं आ सका।

हिंसा और अहिंसा का वास्तविक मर्म समझाने के लिए बहुत दिनों से सामूहिक प्रवचन एवं व्यक्तिगत चर्चाओं द्वारा स्पष्ट प्रयत्न किए जा रहे हैं। किन्तु इन प्रयत्नों का उपयोग

केवल मनोरञ्जन के रूप मे नही करना है। हमारा मूल आशय तो यह है कि अहिंसा की स्पष्ट रूप-रेखा जनता के सामने प्रस्तुत की जानी चाहिए और जब तक वह सही रूप मे नही आएगी, तब तक हम धर्म के प्रति, समाज के प्रति और राष्ट्र के प्रति भी प्रामाणिक नही हो सकेंगे। अतएव बारीकी से सोचना चाहिए कि हिंसा और अहिंसा का वास्तविक रूप क्या है ?

यह एक लम्बी चर्चा है। प्राय लोग जब इस प्रश्न पर विचार करने के लिए शास्त्रो के पन्ने पलटते है तो पहले से ही कुछ सकल्प रख कर चलते हैं। और जब इस तरह चलते है तो उनका सकल्प एक ओर टकराता है और शास्त्रो की आवाज दूसरी ओर सुनाई देती है। ऐसी स्थिति मे प्राय सकल्प की आवाज तो सुन ली जाती है और शास्त्रो की आवाज के स्वर दूर जा पडते हैं। परन्तु इससे सचाई हाथ नही आती, वास्तविकता का पता नही चलता, सिर्फ आत्म-सन्तोष मात्र थोडे-से कल्पित विश्वास को पोषण मिल जाता है। अतएव यह आवश्यक है कि किसी भी तत्त्व पर विचार करते समय हमारी बुद्धि निष्पक्ष हो, क्योंकि तटस्थ बुद्धि के द्वारा ही सच्चा निर्णय प्राप्त हो सकता है।

एक न्यायाधीश है। वादी और प्रतिवादी उसके न्यायालय मे उपस्थित हैं। किन्तु न्यायाधीश यदि किसी एक के पक्ष में पहले से ही बुद्धि को स्थिर कर लेता है तो वह जज की कुर्सी या न्याय के सिंहासन का उत्तरदायित्व पूरी तरह नही निभा सकता। आपको ज्यो ही यह बात मालूम पडती है, आप उस

न्यायालय को छोड़कर दूसरे न्यायालय में जाने की प्रार्थना करते हैं। यद्यपि यह ठीक है कि फैसला किसी एक का ही पक्ष में होगा किन्तु निर्णय देने से पहले ही मन में निर्णय कर लिया जाता है और दिमाग में पहले ही पक्ष-विशेष का भाव भर लिया जाता है तो न्याय का उत्तरदायित्व ठीक-ठीक अदा नहीं किया जा सकता। पक्षपात के पक्ष में कर्त्तव्य के कदम बिना मन रह नहीं सकते। ठीक यही बात शास्त्र के सम्बन्ध में भी है। अतः जब हम किसी भी शास्त्रीय विषय पर गहराई से विचार करने के लिए उद्यत हों तो पहले अपनी बुद्धि को निष्पक्ष अवश्य बना लें और तटस्थ भाव जरूर रखें। यदि निष्पक्ष बुद्धि रखकर चलेंगे तो सिद्धान्त और जीवन को सही-सही परख सकेंगे और साथ ही समाज एवं राष्ट्र के प्रति अपने कर्त्तव्यों को भी समझ सकेंगे। अन्यथा व्यर्थ ही शास्त्रों की गठरी सिर पर लादे रहेंगे और अपने जीवन को भी नहीं परख सकेंगे। इस सम्बन्ध में आचार्य हरिभद्र ने एक बड़ी ही सुन्दर बात कही है —

> आग्रही बत निनीषति युक्तिं तत्र यत्र मतिरस्य निविष्टा।
> पक्षपात-रहितस्य तु युक्तिर्यत्र तत्र मतिरेति निवेशम्॥

जब कदाग्रही और पक्षपाती मनुष्य किसी सिद्धान्त पर विचार करता है तब वह शास्त्रों को दलीलों को तथा युक्तियों को भी खींचकर घसीटता हुआ वहीं ले जाता है जहाँ उसकी बुद्धि ने पहले से ही कदम जमा लिया है। ऐसे लोग शास्त्र के आशय तथा औचित्य का भी नहीं रख पाते। बस उनका मुख्य ध्येय यही होता है कि किसी प्रकार मेरी

मनगढन्त धारणा को पुष्टि मिले। किन्तु जो पक्षपात से रहित होता है वह अपनी धारणा को वही ले जाता है, जहाँ युक्ति या शास्त्र का कथन उसे ले जाने की प्रेरणा देते हैं।

पक्षपात किसे कहते हैं ? पक्ष का अर्थ 'पख' है। पक्षी जब उडता है तो उसके दोनो पख ठीक और सम रहने चाहिएं। तभी वह ठीक तरह से गति कर सकता है, ऊँची उडान भर सकता है और लम्बे-लम्बे मैदानो को शीघ्रता से पार कर सकता है। किन्तु यदि उस पक्षी का एक पख टूट जाय तो वह उड नही सकता। इसी प्रकार जहाँ पक्षपात हुआ, और मनुष्य एक पक्ष का सहारा लेकर चला तो वहाँ सिद्धान्त, विचार और चिन्तन ऊपर नही उठ सकते, बल्कि वे रेंगते दिखाई पडेंगे। तो पक्षपात का स्पष्ट अर्थ है—सत्य के पख टूट जाना। आवश्यकता इस बात की है कि जब हम सिद्धान्त के किसी विषय पर विचार करें तो अपना दिल और दिमाग साफ रखे और गम्भीर विचार-मथन के द्वारा सत्य का जो मक्खन निकले, उसे ग्रहण करने को सदैव तैयार रहें।

पहले हमारी बुद्धि विकसित थी तो हम आग्रह को, अहकार को और किसी भी व्यक्ति-विशेष को महत्व न देकर केवल सत्य को ही महत्व देते थे और सत्य की ही पूजा करते थे। जहाँ सत्य की पूजा होती है, वहाँ ईश्वर की प्रतिष्ठा है। किसी देवालय में नारियल चढा देना, नैवेद्य चढा देना या मस्तक झुका देना सच्ची ईश्वरोपासना नही है, किन्तु मन-वचन-कर्म से सत्य की पूजा करना ही ईश्वर की सच्ची आराधना है।

जो मनुष्य तटस्थ भाव से मानने लगता है और अपनी बद्धमूल मान्यताओं के आग्रह को ठुकरा देता है और उसके बदले में सामने आने वाले सत्य के समक्ष नतमस्तक हो जाता है, वही मर्म को पा सकता है वही अपने जीवन को कृतार्थ कर सकता है। चाहे वह तरुण हो या बूढ़ा गृहस्थ हो या साधु वह अपने आप में बहुत ऊपर उठ सकता है। उसके जीवन की गति ईसरोम प्रगति है। वह अपनी महत्ता को अधिकाधिक ऊँचाई पर ले जाता है और गिरावट की ओर अग्रसर नहीं होता।

परन्तु सत्य का मार्ग सुगम नहीं है। वह बड़ा कठिन पेचीदा और टेढ़ा है। इतना कठिन और टेढ़ा कि जिसके लिए भारत के एक सन्त ने कहा है —

> "क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया,
> दुर्गं पथस्तत् कवयो वदन्ति।"
> —कठोपनिषद्

अर्थात्—छुरे की धार पर चलना कठिन है। जिस मार्ग में छुरे बिछे हों और तलवारों की नोकें ऊपर को उठी हों उस मार्ग पर चलने वाला नृत्य करने वाला कितनी सावधानी से कितनी बड़ी तैयारी के साथ एक-एक कदम रखता है और कितनी तटस्थता रखता है और आखिर नृत्य को पूरा कर ही जाता है। परन्तु सत्य का मार्ग छुरे की धार से भी तेज और टेढ़ा है और विद्वान् उसे दुर्गम भी बताते हैं। बड़े-बड़े विद्वान् भी वहाँ चलते चलते धीरज छोड़ देते हैं।

किन्तु इसमे किसी से घृणा या द्वेष करने की आवश्यकता नही है। यह तो मार्ग ही ऐसा है कि डिग जाना, फिसल जाना या विचलित हो जाना कोई बडी बात नही है। गीता मे योगिराज कृष्ण ने भी कहा है —

"कि कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिता ।"

अर्थात्—कर्म क्या है, और अकर्म क्या है ? धर्म क्या है, और अधर्म क्या है ? पुण्य क्या है, और पाप क्या है ? इसके निष्पक्ष निर्णय मे बडे-बडे विद्वान भी भ्रमित हो जाते हैं।

अतएव इस मार्ग पर पांडित्य का भार लादकर भी नही चला जा सकता। इस पर तो सत्य की दृष्टि लेकर, अपने आपको सत्य के चरणो मे समर्पित करके ही चला जा सकता है। यदि व्यर्थ के पाडित्य का भार लादकर चलेगे तो निष्पक्ष निर्णय नही कर सकगे। सत्य के प्रति गद्गद् भाव और सहज भाव लिए हुए साधक चलेगा तो सम्भव है उसे सत्य का पता लग सकना है। इसके अभाव मे विद्वान भी सत्य की झाँकी नही पा सकता।

आपका अध्ययन कितना ही अल्प क्यो न हो, यदि सत्य को ही आपने अपना लक्ष्य बना लिया है और सहज भाव से उसे ग्रहण करने के लिए आप तैयार हैं तो अवश्य ही आप सत्य के निकट पहुँच सकते हैं। इसके विपरीत बडे-बडे विद्वान् भी अहकार और पाण्डित्य के प्रमाद को साथ लेकर सत्य के द्वार तक नही पहुँच सकते।

इस सम्बन्ध मे हमारे आचार्यों ने श्रेष्ठ-से श्रेष्ठतर बाते कह दी है, वे अधिक ऊँचाई पर हैं, परन्तु हमारे विचारो के

हाथ इतने छोटे हैं कि हम ऊँचाई को छू भी नहीं सकते ।

परन्तु सत्य के महत्त्व के सामने बड़े से बड़ा व्यक्तित्व भी हीन है । हम व्यक्ति का महत्त्व तो दे देते हैं किन्तु विचार करने से विदित होगा कि उसे वह महत्त्व सत्य के द्वारा ही मिला है । अपने आप में व्यक्ति का क्या महत्त्व है ? वह तो हड्डी और मांस का स्थूल ढाँचा है । परन्तु जब वह सत्य की पूजा के लिए सन्मार्ग पर चल पड़ता है सत्य की ही परिधि में रहता है और सत्य के साम्राज्य में ही विचरण करता है तभी उसकी पूजा की जाती है उसका स्वागत और सम्मान किया जाता है । वह पूजा वह आदर और वह सम्मान उसकी सुन्दर मानव आकृति का नहीं अपितु उसकी सत्य-निष्ठा का है ।

कल्पना कीजिए—एक लम्बा आदमी सीधा दण्डायमान खड़ा होता है और उसका सिर यदि मकान की छत से छू जाता है तो उसकी हड्डियों की ऊँचाई देखने वालों को तमाशा जरूर बन सकती है पर वह हमारी श्रद्धा एवं भक्ति का पात्र नहीं हो सकता । किन्तु जीवन की सार्थकता के लिए विचारों की और सत्य की जो ऊँचाई है वही आदर एवं सम्मान की उपादेय वस्तु बनती है । यह ऊँचाई तमाशे की वस्तु नहीं अपितु चरणों में झुकने और समर्पित होने की श्रद्धा की वस्तु है ।

इसीलिए हमारे आचार्यों ने यह कहा है कि—आप व्यक्ति को क्यों महत्त्व देते हैं ? हमारे गुरु ने ऐसा कहा या वैसा कहा इस प्रकार कहकर आप एक ओर तो साक्षी

आए हैं हम उन सब के विचारों का तटस्थ वृत्ति से अध्ययन करते हैं उन सब की वाणी का चिन्तन मनन और विश्लेषण करते हैं। जिसके विचार सत्य की निष्पक्ष कसौटी पर खरे उतरते हैं, उसी के विचारों को निःशंक भाव से स्वीकार करते हैं और उसी का आदर-सम्मान भी करते हैं।

ऐसा मालूम पड़ता है कि आचार्य ने भगवान् को भी परीक्षा की तराजू पर रख दिया है। कदाचित् आचार्य उस सत्य को तोल रहे हैं जो सदियों से और सहस्राब्दियों से बराबर तोला जा रहा है। यदि इस तराजू पर किसी सम्प्रदाय विशेष को तोला जाए तो वह तोल पर पूरा नहीं उतरता है। क्योंकि जितने भी सम्प्रदाय हैं उनमें प्रायः सत्य की अपेक्षा स्वार्थ की प्रधानता होती है अतः जहाँ स्वार्थ की प्रधानता है वहाँ सत्य का साक्षात्कार दुर्लभ है। अस्तु, एकमात्र सत्य को ही लक्ष्य-बिन्दु मान कर तोलने चलोगे तो वही तोल ठीक होगा।

आखिर आपको सोचना चाहिए कि आप भगवान् महावीर की पूजा क्यों करते हैं? उनका सत्कार और सम्मान क्यों करते हैं? आखिर, उनमें ऐसा क्या चमत्कार है जो हम अपने को उनके चरणों में समर्पित करते हैं। उनके जीवन का जो परम सत्य है वही तो उनकी पूजा और उनका सत्कार सम्मान करवाता है। भगवान् की पूजा उनके गुणों की पूजा है। इस पूजा से उनके शरीर का रूप सौन्दर्य का और बाह्य ऐश्वर्य का कोई सम्बन्ध नहीं है।

भारत के एक बड़े आचार्य ने तो स्वयं भगवान् के ही

चलाते हैं और दूसरी ओर सत्य, जो तटस्थ भाव से सन्मार्ग का निर्देशन कर रहा है, उसकी पुकार तक नही सुनते। इस शोचनीय स्थिति को देखकर दुःख होता है कि यह कैसी गडवड चल रही है। अतएव हमे भली-भाँति समझ लेना चाहिए कि सत्य का महत्त्व सर्वोपरि है और उसकी तुलना मे व्यक्ति का जो महत्त्व है, वह केवल सत्य की ही बदौलत है। सम्प्रदाय का, समाज का और व्यक्ति का महत्व एकमात्र सत्य के ही पीछे है। सत्य का वडप्पन ही व्यक्ति को वडप्पन देता है।

इस सम्बन्ध में जैनाचार्य हरिभद्र वहुत वडी वात कह गए है। आचार्य हरिभद्र वडे ही वहुश्रुत विद्वान् हो चुके हैं, जिनकी विद्वत्ता को महाकाल की काली छाया भी धुंधला नही वना सकी। उनकी अमर वाणी हम आपके आमने रख रहे हैं। वे कहते हैं—

"पक्षपातो न मे वीरे, न द्वेष कपिलादिषु।
युक्तिमद्वचन यस्य, तस्य कार्य परिग्रह ॥"

भगवान् महावीर के प्रति हमें पक्षपात नही है। वे हमारी जाति-विरादरी के नही और सगे-सम्वन्वी भी नही है। किन्तु सत्याचरण और कठिन साधना से आखिरकार वे भगवान् के पद पर प्रतिष्ठित हो चुके है, अत उनकी वाणी के सम्वन्ध मे हम जो भी विचार करते हैं, वह किसी तरह का पक्षपात लेकर नही। और कपिल आदि जो अन्य महर्षि हो चुके हैं, उनके प्रति हमे लेशमात्र भी द्वेष और घृणा नही है। जो भी सत्य के उपासक आज तक प्रकाश में

आए हैं हम उन सब के विचारों का तटस्थ वृत्ति से अध्ययन करते हैं उन सब की वाणी का चिन्तन मनन और विश्लेषण करते हैं। जिसके विचार सत्य की निष्पक्ष कसौटी पर खरे उतरते हैं उसी के विचारों को निश्चक भाव से स्वीकार करते हैं और उसी का आदर-सम्मान भी करते हैं।

ऐसा मालूम पड़ता है कि आचार्य ने भगवान् को भी परीक्षा की तराजू पर रख दिया है। कदाचित् आचार्य उस सत्य को तोल रहे हैं जो शतियों से और सहस्राब्दियों से बराबर तोला जा रहा है। यदि इस तराजू पर किसी सम्प्रदाय-विशेष को तोला जाए तो वह तोल पर पूरा नहीं उतरता है। क्योंकि जितने भी सम्प्रदाय हैं उनमें प्रायः सत्य की अपेक्षा स्वार्थ की प्रधानता होती है अतः जहाँ स्वार्थ की प्रधानता है वहाँ सत्य का साक्षात्कार दुर्लभ है। अस्तु, एक-मात्र सत्य को ही लक्ष्य-बिन्दु मान कर तोलने चलोगे तो वही तोल ठीक होगा।

आखिर आपको सोचना चाहिए कि आप भगवान् महावीर की पूजा क्यों करते हैं? उनका सत्कार और सम्मान क्यों करते हैं? आखिर उनमें ऐसा क्या चमत्कार है जो हम अपने को उनके चरणों में समर्पित करते हैं। उनके जीवन का जो परम सत्य है वही तो उनकी पूजा और उनका सत्कार सम्मान करवाता है। भगवान् की पूजा उनके गुणों की पूजा है। इस पूजा से उनके शरीर का रूप सौन्दर्य का और बाह्य ऐश्वर्य का कोई सम्बन्ध नहीं है।

भारत के एक बड़े आचार्य ने तो स्वयं भगवान् के ही

चलाते हैं और दूसरी ओर सत्य, जो तटस्थ भाव से सन्मार्ग का निर्देशन कर रहा है, उसकी पुकार तक नही सुनते। इस शोचनीय स्थिति को देखकर दु ख होता है कि यह कैसी गडबड चल रही है। अतएव हमे भली-भाँति समझ लेना चाहिए कि सत्य का महत्त्व सर्वोपरि है और उसकी तुलना मे व्यक्ति का जो महत्त्व है, वह केवल सत्य की ही बदौलत है। सम्प्रदाय का, समाज का और व्यक्ति का महत्व एकमात्र सत्य के ही पीछे है। सत्य का बडप्पन ही व्यक्ति को बडप्पन देता है।

इस सम्बन्ध में जैनाचार्य हरिभद्र बहुत बडी बात कह गए है। आचार्य हरिभद्र बडे ही बहुश्रुत विद्वान् हो चुके हैं, जिनकी विद्वत्ता को महाकाल की काली छाया भी धुँधला नही बना सकी। उनकी अमर वाणी हम आपके आमने रख रहे हैं। वे कहते हैं—

"पक्षपातो न मे वीरे, न द्वेप कपिलादिपु ।
युक्तिमद्वचन यस्य, तस्य कार्य परिग्रह ॥"

भगवान् महावीर के प्रति हमें पक्षपात नही है। वे हमारी जाति-विरादरी के नही और सगे-सम्बन्धी भी नही हैं। किन्तु सत्याचरण और कठिन साधना से आखिरकार वे भगवान् के पद पर प्रतिष्ठित हो चुके हैं, अत उनकी वाणी के सम्बन्ध मे हम जो भी विचार करते हैं, वह किसी तरह का पक्षपात लेकर नही। और कपिल आदि जो अन्य महर्षि हो चुके हैं, उनके प्रति हमे लेशमात्र भी द्वेष और घृणा नही है। जो भी सत्य के उपासक आज तक प्रकाश में

भाए हैं हम उन सब के विचारों का तटस्थ वृत्ति से अध्ययन करते हैं उन सब की वाणी का चिन्तन मनन और विश्लेषण करते हैं। जिसके विचार सत्य की निष्पक्ष कसौटी पर खरे उतरते हैं, उसी के विचारों को निर्द्वन्द्व भाव से स्वीकार करते हैं और उसी का आदर-सम्मान भी करते हैं।

ऐसा मालूम पड़ता है कि आचार्य ने भगवान् को भी परीक्षा की तराजू पर रख दिया है। कदाचित् आचार्य उस सत्य को तोल रहे हैं जो सदियों से और सहस्राब्दियों से बराबर तोला जा रहा है। यदि इस तराजू पर किसी सम्प्रदाय-विशेष को तोला जाए तो वह तोल पर पूरा नहीं उतरता है। क्योंकि जितने भी सम्प्रदाय हैं उनमें प्रायः सत्य की अपेक्षा स्वार्थ की प्रधानता होती है अतः जहाँ स्वार्थ की प्रधानता है वहाँ सत्य का साक्षात्कार दुर्लभ है। अस्तु, एक-मात्र सत्य को ही लक्ष्य-बिन्दु मान कर तोलने चलोगे तो वही तोल ठीक होगा।

आखिर आपको सोचना चाहिए कि आप भगवान् महावीर की पूजा क्यों करते हैं ? उनका सत्कार और सम्मान क्यों करते हैं ? आखिर उनमें ऐसा क्या चमत्कार है जो हम अपने को उनके चरणों में समर्पित करते हैं। उनके जीवन का जो परम सत्य है वही तो उनको पूजा और उनका सत्कार सम्मान करवाता है। भगवान् की पूजा उनके गुणों की पूजा है। इस पूजा से उनके शरीर का रूप सौन्दर्य का और बाह्य ऐश्वर्य का कोई सम्बन्ध नहीं है।

भारत के एक बड़े आचार्य ने तो स्वयं भगवान् के ही

मुँह से कहलाया है —

"तापाच्छेदान्निकपात्सुवर्णमिव पण्डितै ।
परीक्ष्य भिक्षवो ! ग्राह्य, मद्वचो न तु गौरवात् ।"

भगवान् ने अपने सभी शिष्यो को सम्बोधन करते हुए कहा था—"हे भिक्षुओ ! मेरे वचनो को भी परीक्षणात्मक दृष्टि से सत्य की कसौटी पर जाँचो, और परखो। अच्छी तरह से जाँचने और परखने के पश्चात् यदि वे तुम्हे ग्रहण करने योग्य प्रतीत हो तो ग्रहण करो। केवल मेरे वडप्पन के कारण ही मेरे वचनो को मत मानो। सत्य के पक्ष को प्रधानता न देकर केवल गुरु के पक्ष पर ही अडे रहना किसी प्रकार उचित नही है, क्योकि व्यक्ति-विशेप का व्यक्तित्व सत्य के अस्तित्व से किसी भी अश मे ऊँचा नही है।

देखिए, कितनी निष्पक्ष एव आदर्श वात कही है ! जो सत्य का निर्णय करने चले हैं, वे व्यक्ति-विशेप को अधिक महत्व नही देते, अपितु सत्य को ही अधिक महत्व देते हैं। सत्य की प्रधानता के सम्वन्ध मे स्पष्ट रूप से कहा भी गया है —

"न तेन वृद्धो भवति येनास्य पलित शिर ।"

अर्थात्—"सिर के बाल पक जाने से ही कोई वडा नही हो जाता। वडा वह है, जिसके विचार स्पष्ट हो गए हैं, फिर भले ही वह वय की अपेक्षा छोटा ही क्यो न हो। जिसके विचारो मे कोई स्पष्टता नही आई है, यदि उसका सारा सिर बगुले की तरह सफेद भी हो जाए, तब भी वह वडा नही कहा जा सकता।

जो चर्चा चल रही है. उसके सम्बन्ध मे सही निर्णय

पर पहुँचने के लिए इतनी विस्तृत भूमिका देना आवश्यक ही है। तभी हम सत्य के किनारे पर पहुँच सकेंगे।

अब प्रश्न यह है कि—क्या हिंसा और अहिंसा अपने आप में दो अलग-अलग चीज हैं? जैन-धर्म क्या सिखाता है? वह हिंसा से अहिंसा की ओर जाने की राह बतलाता है या अहिंसा से हिंसा की ओर जाने को? जैन धर्म अन्धकार से प्रकाश की ओर ले जाता है या प्रकाश से अन्धकार की ओर? जो धर्म अथवा धर्मोपदेशक प्रकाश से अन्धकार की ओर ले जाता है—वह धर्म नहीं हो सकता न वह गुरु ही हो सकता है और न भगवान् ही। यदि आप इस बात को स्वीकार करते हैं तो आपको यह भी स्वीकार कर लेना चाहिए कि भगवान् ऋषभदेव तत्कालीन जनता को अन्धकार से प्रकाश की ओर ले गए थे प्रकाश से अन्धकार की ओर कदापि नहीं।

यह माना कि भगवान् ऋषभदेव ने प्रारम्भ में जो कुछ भी शिक्षा दी वह गृहस्थ अवस्था में दी थी। परन्तु उस समय उन्हें कौन-सा सम्यक्त्व* प्राप्त था? शास्त्रों के अनुसार उन्हें क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त था। इसका अर्थ यह है कि

---

*जैन-दर्शन में विचार-शुद्धि की विकास-भूमिका को सम्यक्त्व कहते हैं। इसके क्षायिक क्षयोपशम आदि अनेक भेद हैं। जब विचार-दर्शन सर्वथा शुद्ध होता है, चित्त-वृत्ति सर्वथा पवित्र होती है, तब क्षायिक सम्यक्त्व होता है। यह विचार-शुद्धि की सर्वोत्कृष्ट भूमिका है। क्षयोपशम में जैसे अतिचार दूषण लग जाते हैं वैसे क्षायिक में नहीं लगते। यह सर्वथा निर्दुष्ट है।

उनकी विचार-सृष्टि मे लेशमात्र भी मैल नही था। जहाँ कही भी थोडी-बहुत मलिनता होती है, वहाँ क्षयोपशम-सम्यक्त्व होता है। मलिनता की न्यूनाधिकता के कारण क्षयोपशम सम्यक्त्व अनेक प्रकार का होता है, परन्तु क्षायिक सम्यक्त्व पूरी तरह पवित्र और निर्मल होता है। और जहाँ पूर्णता है, वहाँ भेद नही होता। यही कारण है कि मतिज्ञान आदि क्षायोपशमिक ज्ञानो के जहाँ सैकडो भेद गिनाए गए हैं, वहाँ क्षायिक-ज्ञान अर्थात्—'केवल-ज्ञान' एक ही प्रकार का बताया गया है।

इसी प्रकार क्षायोपशमिक सम्यक्त्व के भी असख्य भेद हैं, जबकि क्षायिक सम्यक्त्व अखण्ड है। आखिर क्षायिक सम्यक्त्व मे यह विशिष्टता क्यो आई ? यदि इसमे मिथ्यात्व मोहनीयजन्य विकारो का जरा भी मैल होता तो अवश्य ही किसी न किसी अश मे भेद प्रकट हो जाता। जहाँ अपूर्णता है, वहाँ भिन्नता अनिवार्य है और जहाँ अभिन्नता एव अखण्डता है, वहाँ पूर्णता विद्यमान है। क्षायिक सम्यक्त्व की भूमिका इतनी विशुद्ध है कि वहाँ दर्शन-सम्बन्धी विकारो का मैल अणुमात्र भी नही है। और जब मैल नही रहा तो वह अखण्ड-निर्विकल्प हो जाता है।

हाँ, तो भगवान् को निर्मल क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त था। आप तनिक अनुमान कीजिए कि उसके लिए कितनी अनुकम्पा होनी चाहिए ? सम, सवेग, निर्वेद, अनुकम्पा और आस्तिक्य, ये सब सम्यक्त्व के ही लक्षण हैं। किन्तु जो गुण सब से अधिक चमकता हुआ है और जिससे सम्यक्त्व की परख की

जाती है वह है अनुकम्पा'।

भगवान् के हृदय में कितनी दया कितनी करुणा और कितनी अनुकम्पा थी ? उनके अन्तःकरण में करुणा का सागर लहरा रहा था। वे जो भी प्रवृत्ति करते उसमें भले ही अनिवार्य हिंसा हो परन्तु उस हिंसा के पीछे भी करुणा छिपी रहती थी। कदाचित् आप कहेंगे कि अन्धकार और प्रकाश को एक किया जा रहा है ? किन्तु ऐसा नहीं है। हिंसा तो अशक्य परिहार स्वरूप आचार में होती है परन्तु विचार में तो दया और करुणा का निर्मल झरना बहता रह सकता है।

अस्तु, कथन का आशय यही है कि दूसरे सम्यक्त्व में तो विचार-सम्बन्धी आंशिक मैल चल सकता है परन्तु क्षायिक सम्यक्त्व में अणुमात्र भी नहीं चल सकता। भगवान् ऋषभदेव की प्रवृत्ति क्षायिक सम्यक्त्व की भूमिका से आरम्भ हुई है। और जहाँ क्षायिक सम्यक्त्व है वहाँ असीम अनुकम्पा है। ऐसा तो कभी हो ही नहीं सकता कि सम्यक्त्व तो प्रकट हो परन्तु अनुकम्पा प्रवाहित न हो ? यह कदापि सम्भव नहीं है कि सूर्य हो परन्तु प्रकाश न हो मिश्री की डली हो किन्तु मिठास न हो। ऐसी असंगत बात कभी बनने वाली नहीं है। तो निष्कर्ष यही निकला कि सम्यक्त्व के साथ अनुकम्पा का अविच्छिन्न सम्बन्ध है अर्थात्—अनुकम्पा के बिना सम्यक्त्व टिक नहीं सकता। अनुकम्पा के अभाव में सम्यक्त्व की कल्पना भी नहीं की जा सकती।

अब इस दृष्टि से विचार करेंगे तो स्पष्ट अनुभव होगा

उनकी विचार-सृष्टि मे लेशमात्र भी मैल नही था। जहाँ कही भी थोडी-बहुत मलिनता होती है, वहाँ क्षयोपशम-सम्यक्त्व होता है। मलिनता की न्यूनाधिकता के कारण क्षयोपशम सम्यक्त्व अनेक प्रकार का होता है, परन्तु क्षायिक सम्यक्त्व पूरी तरह पवित्र और निर्मल होता है। और जहाँ पूर्णता है, वहाँ भेद नही होता। यही कारण है कि मतिज्ञान आदि क्षायोपशमिक ज्ञानो के जहाँ सैकडो भेद गिनाए गए हैं, वहाँ क्षायिक-ज्ञान अर्थात्—'केवल-ज्ञान' एक ही प्रकार का बताया गया है।

इसी प्रकार क्षायोपशमिक सम्यक्त्व के भी असख्य भेद हैं, जबकि क्षायिक सम्यक्त्व अखण्ड है। आखिर क्षायिक सम्यक्त्व मे यह विशिष्टता क्यो आई ? यदि इसमे मिथ्यात्व मोहनीयजन्य विकारो का जरा भी मैल होता तो अवश्य ही किसी न किसी अश मे भेद प्रकट हो जाता। जहाँ अपूर्णता है, वहाँ भिन्नता अनिवार्य है और जहाँ अभिन्नता एव अखण्डता है, वहाँ पूर्णता विद्यमान है। क्षायिक सम्यक्त्व की भूमिका इतनी विशुद्ध है कि वहाँ दर्शन-सम्बन्धी विकारो का मैल अणुमात्र भी नही है। और जब मैल नही रहा तो वह अखण्ड-निर्विकल्प हो जाता है।

हाँ, तो भगवान् को निर्मल क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त था। आप तनिक अनुमान कीजिए कि उसके लिए कितनी अनुकम्पा होनी चाहिए ? सम, सवेग, निर्वेद, अनुकम्पा और आस्तिक्य, ये सब सम्यक्त्व के ही लक्षण हैं। किन्तु जो गुण सब से अधिक चमकता हुआ है और जिससे सम्यक्त्व की परख की

जाती है वह है 'अनुकम्पा ।

भगवान् के हृदय में कितनी दया कितनी करुणा और कितनी अनुकम्पा थी ? उनके अन्तःकरण में करुणा का सागर लहरा रहा था । वे जो भी प्रवृत्ति करते उसमें भले ही अनिवार्य हिंसा हो परन्तु उस हिंसा के पीछे भी करुणा छिपी रहती थी । कदाचित् आप कहेंगे कि अन्धकार और प्रकाश को एक किया जा रहा है ? किन्तु ऐसा नहीं है । हिंसा तो असक्य परिहार स्वरूप आचार में रहती है परन्तु विचार में तो दया और करुणा का निर्मल झरना बहता रह सकता है ।

अस्तु, कथन का आशय यही है कि दूसरे सम्यक्त्व में तो विचार-सम्बन्धी आंशिक मैल जम सकता है परन्तु क्षायिक सम्यक्त्व में अणुमात्र भी नहीं जम सकता । भगवान् ऋषभदेव की प्रवृत्ति क्षायिक सम्यक्त्व की भूमिका से प्रारम्भ हुई है । और जहाँ क्षायिक सम्यक्त्व है वहाँ असीम अनुकम्पा है । ऐसा तो कभी हो ही नहीं सकता कि सम्यक्त्व तो प्रकट हो परन्तु अनुकम्पा प्रदर्शित न हो ? यह कदापि सम्भव नहीं है कि सूर्य हो परन्तु प्रकाश न हो मिश्री की डली हो किन्तु मिठास न हो । ऐसी असंगत बात कभी समझ आती नहीं है । तो निष्कर्ष यही निकला कि सम्यक्त्व के साथ अनुकम्पा का अविच्छिन्न सम्बन्ध है अर्थात्—अनुकम्पा के बिना सम्यक्त्व टिक नहीं सकता । अनुकम्पा के अभाव में सम्यक्त्व की कल्पना भी नहीं की जा सकती ।

जब इस दृष्टि से विचार करते तो स्पष्ट अनुभव होगा

कि भगवान् की जो भी प्रवृत्तियाँ हुई हैं, उनके पीछे अनुकम्पा तो अवश्य ही रही होगी। दया का झरना तो निरन्तर वहता ही रहा होगा और उस वहाव के साथ ही सारी क्रियाएँ भी हुई होगी। तो उस युग की तत्कालीन परिस्थितियो में, जब कि जनता पर विपत्ति के घने वादल छाये हुए थे, भयानक सकट मुँह वाये खडा था और लोगो को अपने प्राण वचाने दुर्लभ थे, आँखो के सामने साक्षात् मौत नाच रही थी, उस सकट काल मे भगवान् ऋपभदेव ही एकमात्र सहारे थे, वे ही जनता के लिए आशा की प्रकाश-किरण थे। करुणानिधि भगवान् ने जनता को उस भीषण सकट से उबारने के लिए ही कृपि सिखलाई, उद्योग-धन्धे सिखलाए और शिल्प-कार्य वतलाए। तो भगवान् की यह प्रवृत्ति किस रूप मे हुई ? वस्तुत वह हिंसा के रूप मे नही हुई, जनता को गलत राह पर भटकाने के लिए भी नही हुई। भगवान् तत्कालीन जनता को अन्धकार से प्रकाश की ओर ले गए। उन्होने जनता को प्रकाश से अन्धकार की ओर नही ढकेला, शास्त्रकार इस वात को भूले नही हैं। इसीलिए जहाँ जम्बूद्वीप-प्रज्ञप्ति सूत्र मे युगलियो का वर्णन किया गया है और उस वर्णन मे पृष्ठ के पृष्ठ भर दिए, तो साथ मे एक महत्त्वपूर्ण पद भी जोड दिया गया है —

"पयाहियाए उवदिसइ।"

अर्थात्—"प्रजा के हित के लिए यह सव उपदेश दिया।" शास्त्रकार ने इतना कहकर भगवान् की जो भी मर्यादाएँ थी, वे सभी व्यक्त कर दी। इस प्रकार भगवान् ने जो भी

कार्य किया उसके पीछे अनुकम्पा थी और जहाँ अनुकम्पा तथा हितभावना है वहाँ अहिंसा विद्यमान है।

'पयाहियाए'—इस एक पद ने भगवान् की उस भावना को स्पष्ट रूप से व्यक्त कर दिया है। जब तक यह पद सुरक्षित है—और हम चाहते हैं कि वह भविष्य में भी चिर सुरक्षित रहे—उससे भगवान् की दया का प्रामाणिक परिचय मिलता रहेगा।

अब आप समझ सकते हैं कि भगवान् ने कृषि आदि की जो शिक्षा दी उसके पीछे उनकी क्या दृष्टि थी? वे जनता को हिंसा से अहिंसा की ओर ले गए। वे चाहते थे कि लोग महान् आरम्भ की ओर न जाकर अल्पारंभ की ओर ही जाएँ। यदि वे अल्पारंभ से महारंभ की ओर ले जाते तो इसका अर्थ होता—प्रकाश से अन्धकार की ओर ले गए। उन्होंने भोली भाली और सशस्त्र जनता को ऐसा कर्त्तव्य बताया कि वह महारंभ से बच जाए और साथ ही पेट की जटिल समस्या भी हल कर सके और अपनी जीवन-पद्धति का मानवोचित प्रशस्त पथ भी अच्छी तरह ग्रहण कर ले।

आज भी उद्योग धन्धों के रूप में जो हिंसा होती है उससे इन्कार नहीं किया जा सकता। जैन-धर्म छोटी से छोटी प्रवृत्ति में भी हिंसा बताता है। गृहस्थों की बात जाने भी दें और केवल संसार-त्यागी साधुओं की ही बात लें तो उनमें भी—क्रोध मान माया और लोभ के विकार युक्त अंश मौजूद रहते हैं और इसीलिए उन्हें भी पूर्णतया अहिंसा

कि भगवान् की जो भी प्रवृत्तियाँ हुई हैं, उनके पीछे अनुकम्पा तो अवश्य ही रही होगी। दया का झरना तो निरन्तर वहता ही रहा होगा और उस वहाव क साथ ही सारी क्रियाएँ भी हुई होगी। तो उस युग की तत्कालीन परिस्थितियो में, जब कि जनता पर विपत्ति के घने वादल छाये हुए थे, भयानक सकट मुँह वाये खडा था और लोगो को अपने प्राण बचाने दुर्लभ थे, आँखो के सामने साक्षात् मौत नाच रही थी , उस सकट काल मे भगवान् ऋषभदेव ही एकमात्र सहारे थे, वे ही जनता के लिए आशा की प्रकाश-किरण थे। करुणानिधि भगवान् ने जनता को उस भीषण सकट से उबारने के लिए ही कृपि सिखलाई, उद्योग-धन्धे सिखलाए और शिल्प-कार्य बतलाए। तो भगवान् की यह प्रवृत्ति किस रूप मे हुई ? वस्तुत वह हिंसा के रूप मे नही हुई, जनता को गलत राह पर भटकाने के लिए भी नही हुई। भगवान् तत्कालीन जनता को अन्धकार से प्रकाश की ओर ले गए। उन्होने जनता को प्रकाश से अन्धकार की ओर नही ढकेला , शास्त्रकार इस वात को भूले नही हैं। इसीलिए जहाँ जम्बूद्वीप-प्रज्ञप्ति सूत्र मे युगलियो का वर्णन किया गया है और उस वर्णन मे पृष्ठ के पृष्ठ भर दिए, तो साथ मे एक महत्त्वपूर्ण पद भी जोड दिया गया है —

"पयाहियाए उवदिसइ ।"

अर्थात्—"प्रजा के हित के लिए यह सव उपदेश दिया।" शास्त्रकार ने इतना कहकर भगवान् की जो भी मर्यादाएँ थी, वे सभी व्यक्त कर दी। इस प्रकार भगवान् ने जो भी

कार्य किया उसके पीछे अनुकम्पा थी और जहाँ अनुकम्पा तथा हितभावना है वहाँ अहिंसा विद्यमान है।

'पयाहियाए'—इस एक पद ने भगवान् की उच्च भावना को स्पष्ट रूप से व्यक्त कर दिया है। जब तक यह पद सुरक्षित है—और हम चाहते हैं कि वह भविष्य में भी चिर सुरक्षित रहे—उससे भगवान् की दया का प्रामाणिक परिचय मिलता रहेगा।

अब आप समझ सकते हैं कि भगवान् ने कृषि आदि की जो शिक्षा दी उसके पीछे उनकी क्या दृष्टि थी? वे जनता को हिंसा से अहिंसा की ओर ले गए। वे चाहते थे कि लोग महान् आरम्भ की ओर न जाकर अल्पारंभ की ओर ही जाएँ। यदि वे अल्पारंभ से महारंभ की ओर ले जाते तो इसका अर्थ होता—'प्रकाश से अन्धकार की ओर ले गए। उन्होंने भोली भूखी और संत्रस्त जनता को ऐसा कर्त्तव्य बताया कि वह महारंभ से बच जाए और साथ ही पेट की जटिल समस्या भी हल कर सके और अपनी जीवन-पद्धति का मानवोचित प्रशस्त पथ भी अच्छी तरह ग्रहण कर ले।

आज भी उद्योग-धन्धों के रूप में जो हिंसा होती है उससे इन्कार नहीं किया जा सकता। जैन-धर्म छोटी से छोटी प्रवृत्ति में भी हिंसा बतलाता है। गृहस्थों की बात जाने भी दें और केवल संसार-त्यागी साधुओं की ही बात लें तो उनमें भी—क्रोध मान माया और लोभ के विकार युक्त भाव मौजूद रहते हैं और इसीलिए उन्हें भी पूर्णतया अहिंसा

का प्रमाण-पत्र नही मिल जाता है। साधु-जीवन मे भी 'आरभिया'* और 'मायावत्तिया' क्रिया चालू रहती है। जब पूर्ण अप्रमत्त अवस्था आती है तो आरभिया क्रिया छूट जाती है, किन्तु हिंसा फिर भी बनी रहती है और आगे भी जारी रहती है, यद्यपि उस हिंसा मे आरम्भ छूट जाता है। उस दशा मे हिंसा रहती है, पर आरभ नही रहता, यह एक मार्मिक बात है। इस मर्म को बराबर समझने की कोशिश करनी चाहिए। इसका अर्थ यह है कि वहा गमनागमनादि प्रवृत्ति मे द्रव्य-हिंसा तो है, किन्तु अन्तर्मन मे हिंसा के भाव न होने से भाव-हिंसा नही है। ज्यो ही साधक जागृत होता है, त्यो ही उसमे अप्रमत्त भाव उत्पन्न हो जाता है। जब अप्रमत्त भाव होता है, तब भी बाह्य क्रिया स्वरूप द्रव्य-हिंसा तो बनी रहती है किन्तु उसमे आन्तरिक भाव-हिंसा नही रहती।

अब देखना चाहिए कि जीवन के क्षेत्र मे, श्रावक जब उद्योग-धन्धे के रूप मे कोई काम करता है तो वहां उसकी कार्य-विधि एकान्त हिंसा की दृष्टि से ही रहती है या उसमे उद्योग-धन्धे की दृष्टि भी कुछ काम करती है ? उसके व्यवसाय का उद्देश्य केवल जीवो को मारना होता है या उद्योग-धन्धे के ही मूल उद्देश्य को लेकर व्यापार करना होता है ?

---

* प्राणिहिंसा-मूलक दोष 'आरभिया' क्रिया कहलाती है। और क्रोध, मान, माया—दम्भ एव लोभ मूलक दोषों को 'मायावत्तिया' क्रिया कहते हैं।

कृषि के सम्बन्ध में भी यही दृष्टि रखकर सोचना चाहिए। देहात के सैकड़ों किसान बहुत सवेरे ही उठकर खेतों में काम करने जाते हैं। हमने पंजाब और उत्तर प्रदेश के जैन-किसानों को देखा है। वे कृषि का धन्धा करते हैं और प्रायः बड़े ही भावपूर्ण और श्रद्धालु होते हैं। सम्भव है वह श्रद्धा आप व्यापारियों में नहीं भी हो। किन्तु उनमें तो इतना प्रेम है और उनके हृदय प्रेम रस से इतने भरे होते हैं कि जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता। यद्यपि वे पसीने से तर खेतों से वापिस आए हैं किन्तु ज्यों ही साधु को गृह-द्वार पर देखा तो झट से उनके पास आते हैं और 'सामायिक' करवाने की प्रार्थना करने लगते हैं। वे बराबर 'सामायिक' और 'पौषध'* आदि करते हैं। जब साधु गोचरी के लिए निकलते हैं तो एक तूफान-सा मच जाता है। सब यही चाहते हैं कि पहले मेरे घर को पवित्र करें।

वे खेतों का काम करने वाले लोग जब प्रातःकाल हल लेकर चल पड़ते हैं उस समय कौन-सी भावना उनके हृदय में काम करती है? क्या वे इस दृष्टि से चलते हैं कि खेत में जीव बहुत इकट्ठे हो गए हैं अतः चलकर शीघ्र ही उनको समाप्त

'सामायिक' जैन-धर्म की वह साधना है जिसमें गृहस्थ दो घड़ी के लिए हिंसा असत्य आदि पापाचरण का त्याग कर, अपनी अन्तरात्मा को परमात्म-भाव में लीन करने का प्रयत्न करता है।

'पौषध' वह साधना है जिसमें सूर्योदय से लेकर अगले दिन सूर्योदय तक सब प्रकार से हिंसा असत्य आदि पापाचरण और भोजन का त्याग कर एकान्त स्थान में साधु जैसी वृत्ति का अभ्यास किया जाता है।

का प्रमाण-पत्र नही मिल जाता है। साधु-जीवन मे भी 'आरभिया'* और 'मायावत्तिया' क्रिया चालू रहती है। जब पूर्ण अप्रमत्त अवस्था आती है तो आरभिया क्रिया छूट जाती है, किन्तु हिंसा फिर भी बनी रहती है और आगे भी जारी रहती है, यद्यपि उस हिंसा मे आरम्भ छूट जाता है। उस दशा मे हिंसा रहती है, पर आरभ नही रहता, यह एक मार्मिक बात है। इस मर्म को बराबर समझने की कोशिश करनी चाहिए। इसका अर्थ यह है कि वहाँ गमनागमनादि प्रवृत्ति मे द्रव्य-हिंसा तो है, किन्तु अन्तर्मन मे हिंसा के भाव न होने से भाव-हिंसा नही है। ज्यो ही साधक जागृत होता है, त्यो ही उसमे अप्रमत्त भाव उत्पन्न हो जाता है। जब अप्रमत्त भाव होता है, तब भी बाह्य क्रिया स्वरूप द्रव्य-हिंसा तो बनी रहती है किन्तु उसमे आन्तरिक भाव-हिंसा नही रहती।

अब देखना चाहिए कि जीवन के क्षेत्र मे, श्रावक जब उद्योग-धन्धे के रूप मे कोई काम करता है तो वहाँ उसकी कार्य-विधि एकान्त हिंसा की दृष्टि से ही रहती है या उसमे उद्योग-धन्धे की दृष्टि भी कुछ काम करती है? उसके व्यवसाय का उद्देश्य केवल जीवो को मारना होता है या उद्योग-धन्धे के ही मूल उद्देश्य को लेकर व्यापार करना होता है?

---

* प्राणिहिंसा-मूलक दोष 'आरभिया' क्रिया कहलाती है। और क्रोध, मान, माया—दम्भ एव लोभ मूलक दोषों को 'मायावत्तिया' क्रिया कहते हैं।

कृषि के सम्बन्ध में भी यही दृष्टि रखकर सोचना चाहिए। देहात के सैकड़ों किसान बहुत सवेरे ही उठकर खेतों में काम करने जाते हैं। हमने पंजाब और उत्तर प्रदेश के जैन-किसानों को देखा है। वे कृषि का धन्धा करते हैं और प्रायः बड़े ही भावपूर्ण और श्रद्धालु होते हैं। सम्भव है वह श्रद्धा आप व्यापारियों में नहीं भी हो। किन्तु उनमें तो इतना प्रेम है और उनके हृदय प्रेम रस से इतने भरे होते हैं कि जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता। यद्यपि वे पसीने से तर खेतों से वापिस आए हैं किन्तु ज्यों ही साधु को गृह-द्वार पर देखा तो झट से उनके पास आते हैं और सामायिक[*] करवाने की प्रार्थना करने लगते हैं। वे बराबर सामायिक और 'पौषध'[*] आदि करते हैं। जब साधु गोचरी के लिए निकलते हैं तो एक तूफान-सा मच जाता है। सब यही चाहते हैं कि पहले मेरे घर को पवित्र करें।

ये संतों का काम करने वाले लोग जब प्रातःकाल हल लेकर चल पड़ते हैं उस समय कौन-सी भावना उनके हृदय में काम करती है? क्या वे इस दृष्टि से चलते हैं कि खेत में जीव बहुत इकट्ठे हो गए हैं अतः चलकर शीघ्र ही उनको समाप्त

'सामायिक' जैन-धर्म की वह साधना है, जिसमें गृहस्थ दो घड़ी के लिए हिंसा असत्य आदि पापाचरण का त्याग कर, अपनी अन्तरात्मा को परमात्म-भाव में लीन करने का प्रयत्न करता है।

'पौषध' वह साधना है, जिसमें सूर्योदय से लेकर अगले दिन सूर्योदय तक सब प्रकार से हिंसा असत्य आदि पापाचरण और भोजन का त्याग कर एकान्त स्थान में साधु जैसी वृत्ति का अभ्यास किया जाता है।

किया जाए ? नही, वहाँ तो उद्योग की दृष्टि होती है। यदि दृष्टि मे विवेक और विचार है तो वह कृषक आरभ मे भी अशत अनारभ की दशा प्राप्त कर लेता है। कहने का आशय यही है कि कृषक आरभ का सकल्प लेकर नही चला है। अस्तु, जब काम करता है तब यह वृत्ति नही होती है कि इन जीवो को मार डालूँ। हिंसा करने का उसका सकल्प कदापि नही है, हिंसा करने के लिए वह प्रवृत्ति भी नही करता है। उसका एकमात्र सकल्प 'धन्धा' करना है, जीवन-निर्वाह करना है और यदि उसमे विवेक है तो वह वहाँ भी जीवो को इधर-उधर बचा देता है।

विवेकशील बहिने घरो मे झाड़ू लगाती हैं। ऐसा करने मे हिंसा अवश्य होती है, किन्तु उनकी दृष्टि मूल मे हिंसा करने की, अर्थात् जीवो को मारने की कभी नही होती। प्राय मकान को साफ-सुथरा रखने की ही भावना होती है, जिससे कि जीव-जन्तु पैदा न होने पाएँ।

जहाँ तक विचार काम देते हैं—'यावद्बुद्धि-बलोदयम्' ऐसा प्रयत्न करना चाहिए, जिससे कि जीव-जन्तु किसी-न-किसी प्रकार बच जाएँ। ऐसा विवेक हो तो आरभ* मे भी अश-विशेष के रूप मे कुछ-न-कुछ अनारभ की भूमिका बन ही जाती है।

जिस प्रकार विचारक और अविचारक की कलम के चलने मे अन्तर होता है, वैसे ही हल के चलने मे भी अन्तर होता है।

---

*जैन-दर्शन में हिंसा के लिए 'आरभ' और अहिंसा के लिए 'अनारभ' शब्द का प्रयोग भी होता है।

हमारे यहाँ 'कलम-कसाई' शब्द भी प्रचलित है। भला बेचारी कलम कैसे कसाई हो गई ? नहीं वह तो कसाई नहीं होती। किन्तु किसी की गर्दन काटने के विचार से जो कलम चलाता है, वह अवश्य 'कलम-कसाई' हो जाता है। यदि कोई ईमानदारी के साथ हिसाब लिखता है तो वह 'कलम-कसाई' नहीं कहलाता। यही बात सब जगह है।

इस प्रकार यदि अपने दिमाग को साफ रखकर सोचा जाए तो प्रतीत होगा कि श्रावक का 'उद्योगी हिंसा' होती है 'संकल्पी हिंसा' नहीं। जो श्रावक साल भर चोटी से एड़ी तक पसीना बहा कर दो-चार सौ रुपए पैदा करता है उसी को यदि यह कह दिया जाय कि यह एक कीड़ा जा रहा है इसे मार दो। मैं तुम्हें हजार रुपया दूंगा। तो क्या वह कृषक श्रावक उसे मार देगा ? नहीं वह स्पष्ट इन्कार कर देगा। जब खेती करने में असंख्य जीव मर जाते हैं रात-दिन कठिन परिश्रम करना पड़ता है और फिर भी दो-चार सौ की ही कमाई होती है और इधर सिर्फ एक कीड़ा मारने से ही हजार रुपए मिल रहे हैं तब भी वह कृषक कीड़े को क्यों नहीं मारता ? श्रावक की अहिंसा निरपराध कीड़े को मारने के लिए तैयार नहीं होती और बड़े से बड़े प्रलोभन को ठुकरा देती है। आप कहेंगे कि खेती में तो वह प्रयोजन के लिए हिंसा करता है तो यहाँ भी उसे हजार रुपए मिल रहे हैं। क्या यह प्रयोजन नहीं है ? परन्तु यहाँ तो वह प्रयोजन के लिए भी हिंसा करने को तैयार नहीं है। इसका कारण यही है कि हजार रुपए के प्रलोभन में पड़ कर निरपराध कीड़े को मारना 'संकल्पी हिंसा' है, और

किया जाए ? नही, वहाँ तो उद्योग की दृष्टि होती है। यदि दृष्टि मे विवेक और विचार है तो वह कृषक आरभ मे भी अशत अनारभ की दशा प्राप्त कर लेता है। कहने का आशय यही है कि कृषक आरभ का सकल्प लेकर नही चला है। अस्तु, जब काम करता है तब यह वृत्ति नही होती है कि इन जीवो को मार डालूँ। हिंसा करने का उसका सकल्प कदापि नही है, हिंसा करने के लिए वह प्रवृत्ति भी नही करता है। उसका एकमात्र सकल्प 'धन्धा' करना है, जीवन-निर्वाह करना है और यदि उसमे विवेक है तो वह वहाँ भी जीवो को इधर-उधर बचा देता है।

विवेकशील बहिनें घरो मे झाड़ लगाती हैं। ऐसा करने में हिंसा अवश्य होती है, किन्तु उनकी दृष्टि मूल मे हिंसा करने की, अर्थात् जीवो को मारने की कभी नही होती। प्राय मकान को साफ-सुथरा रखने की ही भावना होती है, जिससे कि जीव-जन्तु पैदा न होने पाएँ।

जहाँ तक विचार काम देते हैं—'यावद्बुद्धि-बलोदयम्' ऐसा प्रयत्न करना चाहिए, जिससे कि जीव-जन्तु किसी-न-किसी प्रकार बच जाएँ। ऐसा विवेक हो तो आरभ* मे भी अश-विशेष के रूप मे कुछ-न-कुछ अनारभ की भूमिका बन ही जाती है।

जिस प्रकार विचारक और अविचारक की कलम के चलने मे अन्तर होता है, वैसे ही हल के चलने मे भी अन्तर होता है।

*जैन-दर्शन में हिंसा के लिए 'आरभ' और अहिंसा के लिए 'अनारभ' शब्द का प्रयोग भी होता है।

सकल्पजा हिंसा नहीं है। जहाँ निरपराध की सकल्पजा हिंसा होगी वहाँ श्रावक की भूमिका स्थिर नहीं रहेगी। इसी कारण युद्ध में इतने मनुष्यों को मारने के बाद भी राजा चेटक का श्रावकत्व सुरक्षित रहा। और यदि वे संकल्प पूर्वक एक निरपराध क्षुद्र कीड़ा मार देते तो उनका श्रावकत्व खंड-खंड हो जाता।

यह हिंसा और अहिंसा का मार्मिक दृष्टिकोण है। इस पर गम्भीरता एवं निष्पक्षता-पूर्वक विचार करना चाहिए।

खेती में महारंभ है इस प्रकार का भ्रम कैसे उत्पन्न हो गया? समग्र जैन-साहित्य में 'फोडीकम्मे'* ही एक ऐसा शब्द है जिसने इस भ्रम को उत्पन्न किया है। पर हमें 'फोडीकम्मे' के वास्तविक अर्थ पर ध्यान देना होगा। 'फोडी' शब्द संस्कृत के 'स्फोट' शब्द से बना है जिसका अर्थ है धड़ाका होना। जब सुरंग खोदकर उसमें बारूद भरी जाती है और तदुपरान्त उसमें आग लगाई जाती है तो धड़ाका होता है और बड़ी से बड़ी चट्टान भी टुकड़े-टुकड़े होकर इधर उधर उछल कर दूर जा गिरती है। आज के अखबार पढ़ने वाले जानते हैं कि अमेरिका और रूस आदि के वैज्ञानिक लोग जमीन के अन्दर बारूद बिछा देते हैं और जब उसमें

---

* जैन साहित्य में श्रावक के आचार का वर्णन करते हुए कहा है कि श्रावक को पंद्रह प्रकार के व्यापार या कर्म नहीं करने चाहिएं क्योंकि उनमें महाहिंसा होती है। शास्त्रीय भाषा में उन्हें कर्मादान कहते हैं। 'फोडी-कम्म' उनमें से एक है जिसे कुछ लोग कृषिरूप खेती करना समझते हैं।

श्रावक ऐसी सकल्पी हिंसा नही कर सकता। किन्तु खेती-बाडी में जो हिंसा हो रही है, वह 'औद्योगिक हिंसा' है। हम सकल्पी और औद्योगिक हिंसा के भेद को यदि ठीक तरह समझ जाएँ तो बहुत-सी समस्याओ का निपटारा हो सकता है और अनेक प्रकार की भ्रान्तियाँ दूर हो सकती हैं।

राजा चेटक और कोणिक मे भयकर सहारक युद्ध* हुआ था। कदाचित् कोणिक यह कहता कि अच्छा, हार और हाथी हल-विहल के पास रहने दे, मैं दोनो चीजें छोड सकता हूँ, परन्तु शर्त यह है कि तुम इस कीडे को मार दो, तो क्या राजा चेटक ऐसा करने के लिए तैयार हो जाते? जिस ऊपरी दृष्टि से साधारण लोग देखते हैं, यह सौदा महँगा नही, सस्ता ही था। लाखो मनुष्यो के बदले एक कीडे की जान लेने से ही फैसला हो जाता। कितनी हिंसा बच जाती? परन्तु नही, वहाँ कीडे और मनुष्य का प्रश्न नही हैं। वहाँ प्रश्न है 'सकल्पी' और 'विरोधी' हिंसा का। वहाँ न्याय और अन्याय का प्रश्न है। यदि सघर्ष और विरोध है तो वह चेटक और कोणिक के बीच है, उस बेचारे कीडे ने क्या गुनाह किया है कि उसकी जान ले ली जाए? कीडे को मारने मे सकल्पजा हिंसा है और वह भी निरपराध क्षुद्र जन्तु की। और उधर जहाँ लाखो मनुष्य मारे गए हैं, वहाँ

---

* मगधराज अजातशत्रु कोणिक के लघु बन्धु हल-विहल, बड़े भाई के अत्याचार से पीडित होकर चेटक राजा की शरण में गए थे। कोणिक ने इस पर क्रुद्ध होकर वैशाली पर आक्रमण कर दिया, फलत चेटक को शरणागत की रक्षा के लिए युद्ध करना पडा।

का अर्थ होता है—विलेखन'। 'कृष्' धातु कुरेदने के अर्थ में ही आती है। क्या पाणिनि-व्याकरण और क्या शाकटायन व्याकरण सर्वत्र 'कृष्' धातु का अर्थ 'विलेखन' ही किया गया है।

अस्तु, अभिप्राय यह है कि जमीन का खोदना 'फोडीकम्मे' के अन्तर्गत नहीं है। 'फोडीकम्मं' का संस्कृत रूप 'स्फोट-कर्म' होता है और पूर्वोक्त प्रकार से यह स्पष्ट है कि जमीन में हल चलाना न तो स्फोट करना है और न खोदना ही क्योंकि जमीन खोदते समय न तो धड़ाका किया जाता है और न गड्ढे ही किये जाते हैं।

वास्तव में स्फोट-कर्म' तब होता है जब सुरंग खोदकर उसमें बारूद भरकर एवं आग लगाकर धड़ाका किया जाता है। पहाड़ों में खान खोदने का काम बहुत पुरातन युग से चला आ रहा है। कुदालों और साँबरों से विशालकाय पत्थर कहाँ तक खोदे जा सकते हैं? अस्तु, उनमें छेद करके बारूद भर दी जाती है और ऊपर से आग लगा दी जाती है। जब बारूद में आग भड़कती है तो चट्टानें टूट-टूटकर उछलती हैं। और जब वे उछलती हैं तो दूर-दूर तक के प्रदेश में रहने वाले जानवर और इन्सान के भी कभी-कभी प्राण ले बैठती हैं। कितने ही निर्दोष प्राणियों के प्राण-पखेरू उड़ जाते हैं और कितने ही बुरी तरह घायल हो जाते हैं।

देहली की एक घटना है। एक बार हम शौच के लिए पहाड़ पर गए हुए थे। हम पहुँचे ही थे कि कुछ मजदूर दौड़ कर आए और बोले—महाराज भागिए, दौड़िए। जब मैं विचार करने लगा तो उनमें से एक ने कहा— बाबा क्या

चिनगारी लगती है तो विस्फोट होता है। आशय यही है कि बारूद के द्वारा धड़ाका करना विस्फोट या स्फोट कहलाता है।

खेती करते समय विस्फोट नही होता। खेती मे वारूद भर कर आग नही लगाई जाती, न जमीन में कोई स्फोट ही होता है और न बारूद से जमीन जोती ही जाती है, वह तो हल से ही जोती जाती है। जोधपुर से एक सज्जन आए थे। उनके साथ एक बच्चा भी था, जो सातवी कक्षा मे पढता था। उसने सातवी कक्षा का व्याकरण भी पढा था। मैंने उस बालक से प्रश्न किया—किसान खेत मे हल चलाता है। इसके लिए जमीन को 'जोतना' कहा जायगा, या 'फोडना' कहा जायगा ? इन दोनो प्रयोगो मे से शुद्ध प्रयोग कौन-सा है ? उस बालक को भी 'जोतना' प्रयोग ही सही मालूम हुआ। आशय यह है कि हल के द्वारा जमीन जोती ही जाती है, फोडी नही जाती। हल से जमीन का फोडना तो दूर रहा, कभी-कभी तो जमीन खोदी भी नही जाती। खोदना तब कहलाता है, जब गहरा गड्ढा किया जाए। हाँ, हल से जमीन कुरेदी जरूर जा सकती है।

व्याकरण का मुझे अच्छा ज्ञान है। दावा तो नही करता, परन्तु व्याकरण के पीछे कई वर्ष घुलाए अवश्य हैं। अत इस नाते में वोलने का साहस कर रहा हूँ और चुनौती के साथ कहता भी हूँ कि—फोडना, खोदना और कुरेदना अलग-अलग क्रियाएँ है। खोदना—फावडे या कुदाल से होता है, हल से फोडना या खोदना नही होता।

सस्कृत भाषा के 'कृषि' शब्द को ही ले लीजिए। कृषि

निरर्थक बातें लेकर चल पड़े हैं। जन-हित के लिए कुआ खुदवाना भी महारंभ माना जाता है और यदि कोई दूसरा लोकोपकारी काम किया जाता है तो उसे भी महारंभ बताया जाता है। इसका तो यह अर्थ हुआ कि यदि कोई जैन राजा हो जाए तो वह जनता के हित का कोई काम नहीं कर सकता क्योंकि महारंभ हो जाएगा। और जनता के सम्बन्ध में यदि वह कुछ भी विचार न करे तो वह एक प्रकार से निर्जीव मांस का पिण्ड ही माना जायगा। मनुष्य खुद तो दुनिया भर के भोग-विलास करता रहे किन्तु जनता के हित के लिए कोई भी सत्कर्म न करे, किमाश्चर्यमतः परम् ।

अभिप्राय यह है कि जैन-धर्म कोरे मिथ्या आदर्श या कल्पना पर चलने वाला धर्म नहीं है। यह तो पूर्णतः यथार्थ वादी धर्म है। वह आदर्श को अपने सामने रखता अवश्य है पर उसकी दृष्टि सर्वत्र व्यवहार और वास्तविकता पर रहती है। उसमें स्फोट-कर्म किसे बताया था और हम उसे भूलकर क्या समझ बैठे हैं। जो लोग खेती कर रहे हैं उन्हें महारंभी कहने लगे। और कितने दुःख की बात है कि महारंभी कहकर उन्हें भी पशु-हिंसकों की प्रथम श्रेणी में रख दिया गया है। ऐसा करने वालों ने वास्तव में कितना गलत काम किया? वे समझते हैं कि हम कृषि की आजीविका को गर्हित ठहरा रहे हैं। पर वे वास्तव में कसाई खाने की आजीविका की भयानकता एवं गर्हितता को कम कर रहे हैं। पशु-वध और कृषि दोनों को महारंभ की एक ही कोटि में रखकर कितनी बड़ी भूल की है। काश कुछ सोचा तो होता।

सोचता है, क्या मरेगा ? क्या यही पर हत्या देगा ?' तव तो हमने भी पीछे को तेज कदम वढाए। मं कुछ ही कदम पीछे हटा था कि इतने मे ही वहाँ वारूद फटी, जोर का धडाका हुआ और उसके साथ ही पत्थर के वडे-वडे भीमकाय टुकडे उछलकर आ गिरे। मै जरा-सा वच गया, वर्ना वही जीवन-नाटक समाप्त हो जाता।

ऐसे स्फोटो से पचेन्द्रिय जीवो की हिंसा का भी कुछ ठिकाना नही रहता है। कभी-कभी जोरदार धडाके से पहाड भी खिसक जाते हैं, और न जाने कितने मनुष्य दवकर मर जाते हैं, जिनका फिर कोई पता ही नही चलता। तो ऐसा स्फोट-कर्म महारभ है, महा-हिंसा है और मानव-हत्या का काम है।

मजदूर लोग काम करने के लिए सुरगो मे घुसते हैं और जव कभी गैस पैदा हो जाती है तो अन्दर ही अन्दर उनका दम घुट जाता है। अभी कुछ ही दिनो पहले हम खेतडी गाँव से गुजरे तो मालूम हुआ कि एक खान में आदमी दव गए हैं। वे वेचारे खान मे काम कर रहे थे। पहाड धँसक गया और वे वही दवकर खत्म हो गए।

ऐसे कामो मे पचेन्द्रिय की, और पचेन्द्रियो मे भी मनुष्यो की हत्या का सम्वन्ध है। इसी कारण भगवान् महावीर ने स्फोट-कर्म को महान् हिंसा में गिना। श्रावक तो कदम कदम पर करुणा और दया की भावना को लेकर चलता है, अत उसे यह स्फोट-कर्म शोभा नही देता। भगवान् महावीर का यही दृष्टिकोण था, परन्तु दुर्भाग्य से आज उसका यथार्थ अर्थ भुला दिया गया है। इसके वदले कुछ इधर-उधर की

निरर्थक बातें लेकर चल पड़े हैं। जन-हित के लिए कुआ खुदवाना भी महारंभ माना जाता है और यदि कोई दूसरा लोकोपकारी काम किया जाता है तो उसे भी महारंभ बताया जाता है। इसका तो यह अर्थ हुआ कि यदि कोई जैन राजा हो जाए तो वह जनता के हित का कोई काम नहीं कर सकता क्योंकि महारंभ हो जाएगा। और जनता के सम्बन्ध में यदि वह कुछ भी विचार न करे तो वह एक प्रकार से निर्जीव मांस का पिण्ड ही माना जायगा। मनुष्य खूब तो दुनिया भर के भोग-विलास करता रहे किन्तु जनता के हित के लिए कोई भी सत्कर्म न करे, किमाश्चर्यमतः परम् !

अभिप्राय यह है कि जैन-धर्म कोरे मिथ्या आदर्श या कल्पना पर चलने वाला धर्म नहीं है। यह तो पूर्णतः यथार्थवादी धर्म है। वह आदर्श को अपने सामने रखता अवश्य है, पर उसकी दृष्टि सर्वत्र व्यवहार और वास्तविकता पर रहती है। उसने स्फोट-कर्म किसे बताया था और हम उसे सुनकर क्या समझ बैठे हैं। जो लोग खेती कर रहे हैं उन्हें महारंभी कहने लगे। और कितने दुःख की बात है कि महारंभी कहकर उन्हें भी पशु-हिंसकों की श्रेणी में रख दिया गया है। ऐसा करने वालों ने वास्तव में कितना गलत काम किया ? वे समझते हैं कि हम कृषि की आजीविका को गर्हित ठहरा रहे हैं। पर वे वास्तव में कसाई खाने की आजीविका की भयानकता एवं गर्हितता को कम कर रहे हैं। पशु-वध और कृषि दोनों को महारंभ की एक ही कोटि में रखकर कितनी बड़ी भूल की है। काश कुछ सोचा तो होता।

सोचता है, क्या मरेगा ? क्या यही पर हत्या देगा ?' तब तो हमने भी पीछे को तेज कदम बढाए। मैं कुछ ही कदम पीछे हटा था कि इतने मे ही वहाँ बारूद फटी, जोर का धडाका हुआ और उसके साथ ही पत्थर के बडे-बडे भीमकाय टुकडे उछलकर आ गिरे। मै जरा-सा बच गया, वर्ना वही जीवन-नाटक समाप्त हो जाता।

ऐसे स्फोटो से पचेन्द्रिय जीवो की हिंसा का भी कुछ ठिकाना नही रहता है। कभी-कभी जोरदार धडाके से पहाड भी खिसक जाते हैं, और न जाने कितने मनुष्य दबकर मर जाते हैं, जिनका फिर कोई पता ही नही चलता। तो ऐसा स्फोट-कर्म महारभ है, महा-हिंसा है और मानव-हत्या का काम है।

मजदूर लोग काम करने के लिए सुरगो में घुसते हैं और जब कभी गैस पैदा हो जाती है तो अन्दर ही अन्दर उनका दम घुट जाता है। अभी कुछ ही दिनो पहले हम खेतडी गाँव से गुजरे तो मालूम हुआ कि एक खान में आदमी दब गए हैं। वे बेचारे खान मे काम कर रहे थे। पहाड धँसक गया और वे वही दबकर खत्म हो गए।

ऐसे कामो मे पचेन्द्रिय की, और पचेन्द्रियो मे भी मनुष्यो की हत्या का सम्बन्ध है। इसी कारण भगवान् महावीर ने स्फोट-कर्म को महान् हिंसा में गिना। श्रावक तो कदम कदम पर करुणा और दया की भावना को लेकर चलता है, अत उसे यह स्फोट-कर्म शोभा नही देता। भगवान् महावीर का यही दृष्टिकोण था, परन्तु दुर्भाग्य से आज उसका यथार्थ अर्थ भुला दिया गया है। इसके बदले कुछ इधर-उधर की

न कोई बड़ा पाप।"

दो महीने बाद वही गृहस्थ एक दिन रोते हुए-से मेरे पास आए। पूछा—क्या हाल है? उसने कहा—महाराज मर गया। किसी काम का न रहा। सारी पूंजी गँवा बैठा।

मैंने कहा— अरे तुम्हारा तो पूर्व पुण्य का उदय हुआ था और प्रासुक काम की शुरूआत हुई थी। न कोई हिंसा और न कोई पाप! फिर बर्बादि कैसे हो गई।"

हाँ तो जो गलत दृष्टिकोण जनता को मिल जाता है, उससे महा-हिंसा को उत्तेजना मिलती है। यह न करो वह न करो इस तरह उसे मर्यादित श्रम जीवन से उखाड़ कर दूसरे सट्टे आदि के कुपथ पर लगा दिया जाता है। फिर वह न तो इधर का रहता है और न उधर का। वह महा हिंसा के चक्र में उलझा हुआ यह नहीं समझ पाता कि सट्टे के पीछे कितनी अनैतिकता रही हुई है।

आज आवश्यकता इस बात की है कि हम जैन-धर्म की वास्तविकता को समझें, साफ दिमाग रखकर समझें और फिर मन-मस्तिष्क पर कोहरे की तरह घनीभूत छाए हुए भ्रमों को दूर कर दें।

एक कसाई और एक कृषक जब यह सुनता है कि कसाई-खाना चलाना भी महारंभ है और कृषि भी महारंभ है, तो कसाई को अपनी आजीविका त्याग देने की प्रेरणा नही मिल सकती। वह कृषक की कोटि मे अपने आपको पाकर दुगुने उत्साह का अनुभव करेगा और सन्तोष मानेगा। यदि पशु-वध को त्याग देने का विचार उसके दिमाग मे उठ भी रहा होगा, तब भी वह न त्यागेगा। दूसरी ओर जब कृषक यह जानेगा कि उसकी आजीविका भी कसाई की आजीविका के समान है और जब उसे इस बात पर विश्वास भी हो जाएगा तब कौन कह सकता है कि कृषि जैसे श्रमसाध्य धन्धे को त्याग कर वह कसाईखाने की आजीविका को न अपना ले ?

कितने खेद की बात है कि इस प्रकार भ्राति मे पडकर और गलत विवेचनाएँ करके हमने भगवान् महावीर के उपदेशो की प्रतिष्ठा नही बढाई, बल्कि क्षुद्र स्वार्थों मे फँसकर घटाई ही है।

एक गृहस्थ देहली मे दर्शन करने आए। मैंने पूछा—कहिए, क्या बात हैं ? उसने कहा—"आपकी कृपा है, बडे आनन्द मे हूँ। महाराज, मै पहले बहुत दुखी था। खेती का काम करता था तो महा-हिंसा का काम होता था। अब जमीन बेचकर चाँदी का सट्टा करता हूँ। बस, कोई झगडा-टटा नही है। न जाने, किस पाप-कर्म का उदय था कि खेती जैसे महापाप के काम मे फँसा था। अब पूर्व पुण्य का उदय हुआ तो उससे छुटकारा मिला है। अब सट्टे का धंधा बिल्कुल प्रासुक (निर्दोष) धंधा है। न कोई हिंसा है,

न कोई बड़ा पाप।"

दो महीने बाद वही गृहस्थ एक दिन रोते हुए-से मेरे पास आए। पूछा—क्या हाल है? उसने कहा—महाराज मर गया। किसी काम का न रहा। सारी पूंजी गंवा बैठा।

मैंने कहा—"अरे तुम्हारा तो पूर्व पुण्य का उदय हुआ था और प्रासुक काम की पुरुषार्थ हुई थी। न कोई हिंसा और न कोई पाप! फिर बर्बाद कैसे हो गए।"

हाँ तो जो गलत दृष्टिकोण जनता को मिल जाता है उससे महा-हिंसा को उत्तेजना मिलती है। यह न करो वह न करो इस तरह उसे मर्यादित चालू जीवन से उखाड़ कर दूसरे सट्टे आदि के कुपथ पर लगा दिया जाता है। फिर वह न तो इधर का रहता है और न उधर का। वह अहा हिंसा के चक्र में उलझा हुआ यह नहीं समझ पाता कि सट्टे के पीछे कितनी अनैतिकता रही हुई है।

आज आवश्यकता इस बात की है कि हम जैन-धर्म की वास्तविकता को समझें, साफ दिमाग रखकर समझें और फिर मन-मस्तिष्क पर कोहरे की तरह घनीभूत छाए हुए भ्रमों को दूर कर दें।

—: ४ :—

आर्य-कर्म और अनार्य-कर्म

जैन-धर्म की अहिंसा इतनी विराट है कि ज्यो-ज्यो उस पर विचार करते हैं, वह अधिकाधिक गम्भीर होती जाती है। जैन-धर्म ने सूक्ष्म अहिंसा के सम्बन्ध मे जितना विचार किया है, उतना ही विचार स्थूल अहिंसा के सम्बन्ध मे भी किया है। यह बात नही है कि वह निष्क्रिय होकर पडे रहने की सलाह दे और जब कर्त्तव्य की बात सामने आए, जीवन-व्यवहार में अहिंसा को उतारने का प्रसग चले, तो मौन हो जाए। यदि ऐसा होता तो जैन-धर्म आज दुनिया के सामने एक क्षण भी खडा नही रह सकता था। वह बालू रेत की दीवार के समान दूसरे धर्मों और मतो के मामूली झोंको से ही ढह जाता। परन्तु वह ऐसा निष्प्राण और निराधार नही है। वह, क्या गृहस्थ और क्या साधु, सभी कर्त्तव्यो का स्पष्ट रूप से निर्देश करता है। दुर्भाग्य से हमारे कुछ साथियो ने जैन-धर्म का वास्तविक और मौलिक स्वरूप भुला दिया है, फलत कुछ ने तो स्पष्ट 'हाँ' या 'ना' न कहकर एकमात्र मौन मृत्यु की ही राह पकड ली है। पर, इस तरह बच-बच कर बात करने से कब तक काम चलेगा ? यदि कोई गृहस्थ

विद्यालय अथवा औषधालय आदि खोलता है तो वह अपने इस कार्य के सम्बन्ध में कुछ स्पष्ट निर्णय तो चाहेगा ही कि वह जो कार्य कर रहा है वह धर्म है या पाप है ? लोक-भाषा में कहा जा सकता है कि विद्यालय या औषधालय खोलना -खुलवाना अच्छा है। पर, सोचना तो यह है कि वह केवल लोक-भाषा में अच्छा है या धार्मिक दृष्टि से भी अच्छा है ? हमें किसी स्पष्ट निर्णय पर आना ही पड़ेगा। केवल लोक-धर्म राष्ट्र-धर्म या गृहस्थ-धर्म कहने से अब काम नहीं चल सकेगा।

कोरे मौन धारण करने से भी अब काम नहीं चल सकता क्योंकि समय प्रगति-पथ पर तीव्र गति से अग्रसर हो रहा है। जो व्यक्ति समाज अथवा राष्ट्र व्यापक दृष्टिकोण से समय की गति देख लेता है और अपने विकास-साधककर्मों को समय के अनुकूल बना लेता है समय उसी का समर्थन करता है। कोई कुछ पूछे और उत्तरदाता मौन हो रहे तो इसका अर्थ यही समझा जाएगा कि कहीं कोई गड़बड़ है दाल में काला है और आप मे कहीं न कहीं दुर्बलता है। धर्म और दर्शन का अन्तर्मर्म खुल कर बाहर आना चाहता है। भला कब तक कोई उसे दबाए-छिपाए रख सकता है।

इन सब उलझनों के कारण राजस्थान के एक पंथ ने तो स्पष्ट रूप से 'ना' कहना शुरू कर दिया है। उसका कथन है—इन सांसारिक बातों से हमें क्या प्रयोजन ? हमसे तो आत्मा की ही बात पूछो।

मैं पूछता हूँ जो केवल आत्मा की ही बात करने वाले

— ४ :—

आर्य-कर्म और अनार्य-कर्म

जैन-धर्म की अहिंसा इतनी विराट है कि ज्यों-ज्यों उस
र विचार करते हैं, वह अधिकाधिक गम्भीर होती जाती
। जैन-धर्म ने सूक्ष्म अहिंसा के सम्बन्ध मे जितना विचार
या है, उतना ही विचार स्थूल अहिंसा के सम्बन्ध मे भी
या है। यह बात नहीं है कि वह निष्क्रिय होकर पडे रहने
ी सलाह दे और जब कर्त्तव्य की बात सामने आए, जीवन-
वहार मे अहिंसा को उतारने का प्रसग चले, तो मौन
 जाए। यदि ऐसा होता तो जैन-धर्म आज दुनिया के
मने एक क्षण भी खडा नही रह सकता था। वह बालू रेत
ी दीवार के समान दूसरे धर्मों और मतो के मामूली झोंको
 ही ढह जाता। परन्तु वह ऐसा निष्प्राण और निराधार
ी है। वह, क्या गृहस्थ और क्या साधु, सभी कर्त्तव्यो का
ष्ट रूप से निर्देश करता है। दुर्भाग्य से हमारे कुछ साथियो
 जैन-धर्म का वास्तविक और मौलिक स्वरूप भुला दिया
, फलत कुछ ने तो स्पष्ट 'हाँ' या 'ना' न कहकर एकमात्र
ौन मृत्यु की हो राह पकड ली है। पर, इस तरह बच-बच
र बात करने से कब तक काम चलेगा? यदि कोई गृहस्थ

विद्यालय अथवा औषधालय आदि खोलता है तो वह अपने इस कार्य के सम्बन्ध में कुछ स्पष्ट निर्णय तो चाहेगा ही कि वह जो कार्य कर रहा है वह धर्म है या पाप है ? आम-लोक भाषा मे कहा जा सकता है कि विद्यालय या औषधालय खोलना -खुलवाना अच्छा है। पर सोचना तो यह है कि वह केवल लोक-भाषा में अच्छा है या धार्मिक दृष्टि से भी अच्छा है ? हमें किसी स्पष्ट निर्णय पर आना ही पड़ेगा। केवल लोक-धर्म राष्ट्र-धर्म या गृहस्थ-धर्म कहने से अब काम नहीं चल सकेगा।

कोरे मौन धारण करने से भी अब काम नहीं चल सकता क्योंकि समय प्रगति-पथ पर तीव्र गति से अग्रसर हो रहा है। जो व्यक्ति समाज अथवा राष्ट्र व्यापक दृष्टिकोण से समय की गति देख लेता है और अपने विकास-साधककर्मों को समय के अनुकूल बना लेता है समय उसी का समर्थन करता है। कोई कुछ पूछे और उत्तरदाता मौन हो रहे तो इसका अर्थ यही समझा जाएगा कि कहीं कोई गड़बड़ है दाल में काला है और आप में कहीं न कहीं दुर्बलता है। धर्म और दर्शन का अन्तर्मर्म खुल कर बाहर आना चाहता है। भला कब तक कोई उसे दबाए-छिपाए रख सकता है।

इन सब उलझनों के कारण राजस्थान के एक पंथ ने तो स्पष्ट रूप से 'ना' कहना शुरू कर दिया है। उसका कथन है—इन सांसारिक बातों से हमें क्या प्रयोजन ? हमसे तो आत्मा की ही बात पूछो।

मै पूछता हूँ ये केवल आत्मा की ही बात करने वाले

व्यक्ति भोजन क्यो करते हैं? औषधालयो मे जा-जाकर दवाइयाँ क्यो लाते हैं? चलते-फिरते क्यो हैं? ये सब तो आत्मा की बाते नही हैं! केवल आत्मा-सम्बन्धी बाते करने वालो को ससार से कोई सम्बन्ध ही नही रखना चाहिए। वे शहरो मे क्यों रहते हैं? जगल की हवा क्यो नही खाते? लम्बे-लम्बे भाषण झाडकर श्रोताओ का मनोरंजन करने की उन्हे क्या आवश्यकता है?

सच तो यह है कि चाहे कोई साधु हो या गृहस्थ, उदर-देव की पूर्ति तो सभी को करनी पडती है। ऐसा कभी नही हो सकता कि 'करेमि भते' का पाठ बोलते ही, अर्थात्—साधु-दीक्षा लेते ही कोई आजीवन अनशन कर दे, देहोत्सर्ग कर दे।

यदि गृहस्थ अपनी उदर-पूर्ति करेगा तो वह उद्योग-धन्धा तो निश्चय ही करेगा। वह या तो खेती करेगा या कोई और व्यापार करेगा। भिक्षापात्र लेकर तो वह अपना जीवन निर्वाह कर नही सकता! साधु-जीवन में भी आखिर भिक्षा-रूपी उद्योग करना ही पडता है। इस दृष्टि से साधु का जीवन भी एक प्रकार से उद्योग पर ही आश्रित है। अपनी भूमिका के अनुरूप प्रयत्न तो वहाँ भी करना पडता है। इस प्रकार गृहस्थ और साधु दोनो ही अपनी-अपनी मर्यादा के अनुसार प्रवृत्ति करते हैं। जैन-धर्म यदि साधुओ को भोजन बनाने का आदेश नही देता तो दूसरी ओर साधारण गृहस्थ को भिक्षा माँगकर निर्वाह करने का विधान भी नहीं करता। क्या जैन-धर्म कभी किसी गृहस्थ से यह कहता है कि भीख

माँग कर सीधी रोटी खाना धर्म है और कर्त्तव्य समर में जूझकर रोटी खाना अधर्म है? नहीं जैन-धर्म ऐसा कभी नहीं कहता। परन्तु हमारे अनेक भाइयों ने यह समझ लिया है कि भिक्षा माँग कर खाना 'धर्म' है और कर्त्तव्य करके जीवन निर्वाह करना 'पाप' है! परन्तु जो रोटी न्याय-नीतिपूर्वक पुरुषार्थ से और उत्पादन से प्राप्त की जाती है क्या वह पाप की रोटी है?

जो लोग ऐसी रोटी को पाप की रोटी बतलाते हैं, उनके सम्बन्ध में मैं साहस-पूर्वक कहता हूँ कि उन्होंने जैन-शास्त्रों का अन्तस्तल छुआ तक नहीं है। वे गलतफहमी और संकुचित विचार-शृंखला में उलझे पड़े हैं। उनका कहना है कि गृहस्थ तो प्रवृत्ति में पड़ा हुआ है इसलिए उसकी कमाई हुई रोटी पाप की रोटी है और यदि वह भिक्षा माँग कर खाता है तो प्रासुक होने से वह धर्म की रोटी है। परन्तु जैन-धर्म के आचार्यों ने हाथ पर हाथ धरकर निष्क्रिय बैठे रहने वाले परश्रमोपजीवी गृहस्थों को भिक्षा से निर्वाह करने का अधिकार कब और कहाँ दिया है? ऐसे सामान्य गृहस्थों के लिए भिक्षा का विधान ही कहाँ है? जो हट्टे-कट्टे होकर भी दूसरों के श्रम के सहारे माल उड़ाते हैं और भिक्षा करके सुखी जीवन बिताते हैं उनकी भिक्षा को हमारे यहाँ 'पौरुषघ्नी' भिक्षा बतलाया गया है*। सामान्य गृहस्थ की भूमिका श्रम करने की है भिक्षा माँग कर खाने की नहीं।

---

* देखिए, आचार्य हरिभद्र का भिक्षाष्टक

व्यक्ति भोजन क्यों करते हैं ? औषधालयो मे जा-जाकर दवाइयाँ क्यो लाते हैं ? चलते-फिरते क्यो हैं ? ये सब तो आत्मा की बाते नही हैं ! केवल आत्मा-सम्बन्धी बाते करने वालो को ससार से कोई सम्बन्ध ही नही रखना चाहिए । वे शहरो मे क्यो रहते हैं ? जगल की हवा क्यो नही खाते ? लम्बे-लम्बे भाषण झाडकर श्रोताओ का मनोरजन करने की उन्हे क्या आवश्यकता है ?

सच तो यह है कि चाहे कोई साधु हो या गृहस्थ, उदर-देव की पूर्ति तो सभी को करनी पडती है । ऐसा कभी नही हो सकता कि 'करेमि भते' का पाठ बोलते ही , अर्थात्—साधु-दीक्षा लेते ही कोई आजीवन अनशन कर दे, देहोत्सर्ग कर दे ।

यदि गृहस्थ अपनी उदर-पूर्ति करेगा तो वह उद्योग-धन्धा तो निश्चय ही करेगा । वह या तो खेती करेगा या कोई और व्यापार करेगा । भिक्षापात्र लेकर तो वह अपना जीवन निर्वाह कर नही सकता ! साधु-जीवन मे भी आखिर भिक्षा-रूपी उद्योग करना ही पडता है । इस दृष्टि से साधु का जीवन भी एक प्रकार से उद्योग पर ही आश्रित है । अपनी भूमिका के अनुरूप प्रयत्न तो वहाँ भी करना पडता है । इस प्रकार गृहस्थ और साधु दोनो ही अपनी-अपनी मर्यादा के अनुसार प्रवृत्ति करते हैं । जैन-धर्म यदि साधुओ को भोजन बनाने का आदेश नही देता तो दूसरी ओर साधारण गृहस्थ को भिक्षा माँगकर निर्वाह करने का विधान भी नही करता । क्या जैन-धर्म कभी किसी गृहस्थ से यह कहता है कि भीख

तो पहले ही क्यों नहीं छोड़ दिया ? क्या पहले राज्य में भासक्ति की प्रधानता थी ? या उनमें छोड़ने की ताकत नहीं थी ? या उन्हें धर्म-निष्ठ जीवन की वास्तविकता ज्ञात नहीं थी ? नहीं यह सब कुछ नहीं था। तब तक केवल काल भूमि परिपक्व नहीं हुई थी इसलिए पहले नहीं छोड़ा गया।

वृक्ष में फल लगता है। परन्तु जब तक वह कच्चा रहता है, तब तक डंठल से बँधा रहता है—झड़ता नहीं है। जब वह पक जाता है तो अपने आप टूटकर गिर जाता है उसे बलात् तोड़ने की आवश्यकता नहीं रहती।

त्याग भी दो तरह से होता है। एक त्याग हठ-पूर्वक होता है जो किसी आवेश में आकर किया जाता है। परन्तु उसमें त्यागी हुई वस्तु से सूक्ष्म रूप में सम्बन्ध बना रहता है। ऐसे त्याग से पतन की सम्भावना बनी रहती है। दूसरा त्याग सहज-त्याग है जो समुचित भूमिका आने पर अपने आप हो जाता है। दार्शनिक भाषा में हम इसे 'छूट जाना' कह सकते हैं 'छोड़ना' नहीं।

आपने आर्द्रकुमार की कथा पढ़ी है ? आर्द्रकुमार जब दीक्षित होने लगे तो आकाशवाणी होती है— अभी तुम्हारा भोगावली कर्म पूरा नहीं हुआ है। अभी भोग का समय बाकी है अतः समय आने पर संयम लेना। परन्तु आर्द्रकुमार ने आकाशवाणी की उपेक्षा की और गर्वातुर भाव से कहा— "क्या चीज होते हैं कर्म ! मैं उन्हें नष्ट कर दूँ या तोड़ डालूँगा। और उन्होंने हठात् दीक्षा ले ली। तदुपरान्त वे साधना के पथ पर चल पड़े। वास्तव में वे बड़े ही तपस्वी थे। साधना की

इस प्रकार जीवन तो चाहे साधु का हो या गृहस्थ का, प्रवृत्ति के बिना चल नही सकता । इतना ही नही, प्रवृत्ति के बिना ससार मे क्षण भर भी नहीं रहा जा सकता । इस सम्बन्ध मे गीताकार कितनी आदर्शपूर्ण बात कहते हैं—

"न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।

अर्थात्—कोई भी व्यक्ति क्षण भर भी कर्म किए बिना नही रह सकता ।

यदि सारा ससार भिक्षा-पात्र लेकर निकल पडे तो रोटियाँ आएँगी भी कहाँ से ? क्या रोटियाँ आकाश से बरसने लगेंगी ? कोई देव आकाश से रोटियाँ नही बरसाएगा । उनके लिए तो यथोचित प्रवृत्ति और पुरुषार्थ करना ही पडेगा । प्रवृत्ति को कोई छोड ही नही सकता, वह तो सहज भूमिका आने पर और काल-लब्धि※ पूरी हो जाने पर, स्वत ही छूट जाएगी । जब प्रवृत्ति छूटने का दिन आएगा, तब वह अपने आप छूटेगी ।

भगवान् शान्तिनाथ आदि ने चक्रवर्ती राज्य को स्वय छोडा, या भोग्य कर्म समाप्त होने पर वह यथासमय अनायास ही छूट गया ?

आपको यह तो मानना ही पडेगा कि छोडने को भूमिका आने पर ही वह छोडा गया । जब तक छोडने की भूमिका नही आती, तब तक छोडा नही जाता । यदि छोडना ही था

※ जैन-धम में काल-लब्धि का अर्थ है—"किसी भी स्थिति परिवतन के योग्य समय का पूर्ण हो जाना । स्थिति-परिवर्तन में स्वभाव, नियति, पुरुषार्थ आदि अनेक हेतु हैं, उनमें काल भी अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है ।"

तो पहले ही क्यों नहीं छोड़ दिया ? क्या पहले राज्य में आसक्ति की प्रधानता थी ? या उनमें छोड़ने की ताकत नहीं थी ? या उन्हें धर्म-निष्ठ जीवन की वास्तविकता ज्ञात नहीं थी ? नहीं यह सब कुछ नहीं था। तब तक केवल काल मर्यादा परिपक्व नहीं हुई थी इसलिए पहले नहीं छोड़ा गया।

वृक्ष में फल लगता है। परन्तु जब तक वह कच्चा रहता है तब तक डठल से बंधा रहता है—झड़ता नहीं है। जब वह पक जाता है तो अपने आप टूटकर गिर जाता है उसे बलात् तोड़ने की आवश्यकता नहीं रहती।

त्याग भी दो तरह से होता है। एक त्याग हठ-पूर्वक होता है जो किसी आवेश में आकर किया जाता है। परन्तु उसमें त्यागी हुई वस्तु से सूक्ष्म रूप में सम्बन्ध बना रहता है। ऐसे त्याग से पतन की सम्भावना बनी रहती है। दूसरा त्याग सहज-त्याग है जो समुचित भूमिका आने पर अपने आप हो जाता है। दार्शनिक भाषा में हम इसे 'छूट जाना' कह सकते हैं 'छोड़ना' नहीं।

आपने आर्द्रकुमार की कथा पढ़ी है ? आर्द्रकुमार जब दीक्षित होने लगे तो आकाशवाणी होती है—'अभी तुम्हारा भोगावली कर्म पूरा नहीं हुआ है। अभी भोग का समय बाकी है अतः समय आने पर संयम लेना। परन्तु आर्द्रकुमार ने आकाशवाणी की उपेक्षा की और गर्वोद्धुर भाव से कहा—'क्या चीज होते हैं कर्म! मैं उन्हें नष्ट कर दूँगा तोड़ डालूँगा। और उन्होंने हठात् दीक्षा ले ली। तदुपरान्त वे साधना के पथ पर चल पड़े। वास्तव में वे बड़े ही तपस्वी थे। साधना की

भट्टी मे उन्होने अपने शरीर को झौंक दिया और समझने लगे कि आकाशवाणी झूठी हो जाएगी। किन्तु भोग का निमित्त मिलते ही उन्हे वापिस लौटना पडा। वे फिर उसी गृहस्थ दशा के स्तर पर वापिस आ गए और 'पुनर्मूषिको भव' वाली गति हुई। आर्द्रकुमार के अन्तर्जीवन मे से भोग-वासना की दुर्बलता समाप्त नही हुई थी। वह हठात् ग्रहण किए गए सयम के आवरण मे छिप अवश्य गई थी, किन्तु समय आते ही वह पुन प्रकट हुई और उन्हे सयम से पतित होकर फिर पहले की स्थिति मे आना पडा।

पहली कक्षा के विद्यार्थी को जब तीसरी कक्षा मे ले लिया जाता है तो वह उसके भार को सँभाल नही सकता। यही कारण है कि स्कूलो मे जब कोई विद्यार्थी किसी कक्षा मे अनुत्तीर्ण हो जाता है तो उसे उसी कक्षा मे रखा जाता है। उसके लिए यही उपाय विकास का माध्यम है।

इस प्रकार यदि गृहस्थी को छोडा जाय तो फल पकने पर, अर्थात्—परिपक्व स्थिति मे ही छोडा जाय। ऐसा न हो कि कर्त्तव्य के दायित्व से घबराकर भाग खडे हो और ऊपर की ओर व्यर्थ ही छलागे मारने लगें।

हमारे यहाँ साधु-जीवन निस्सन्देह ऊँचा है और उसके प्रति धर्मनिष्ठ लोगो मे श्रद्धा भी है। पर, जो साधक गलत और अधूरी साधना करके ही आगे बढ़ जाते हैं, वे साधु-वेष लेकर भी फिसल जाते हैं और सहज-भाव मे नही रहते। साधु का जीवन तो सहज-भाव मे ही बहना चाहिए। अत जैन-धर्म किसी वस्तु को हठाग्रह-पूर्वक छोडने की अपेक्षा आत्म-भाव की

के उसका साथ सहज रूप से छूट जाने को ही अधिक महत्त्व देता है।

दुर्भाग्य से आज का श्रावक साधु की भूमिका की ओर दौड़ता है और साधु, गृहस्थ की भूमिका की ओर। जिसे प्रथम कक्षा मिली है, वह एम० ए० की कक्षा में प्रवेश करने के लिए भागता है और जिसे एम० ए० की कक्षा मिली है वह पहली कक्षा में बैठने का प्रयत्न करता है।

यदि किसी बीमार को स्वस्थ मनुष्य का पौष्टिक भोजन दे दिया जाए तो वह कैसे पचा सकता है? ऐसा करने पर तो उसकी शक्ति का पूर्वापेक्षया अधिक ह्रास ही होगा। इसी प्रकार किसी स्वस्थ आदमी को यदि बीमार का खाना दे दिया जाए तो उसे क्या लाभ होगा? वह भूखा रहकर थोड़े ही दिनों में दुर्बल हो जाएगा।

इस तरह आज हमारे यहाँ सारी बातें परिवर्तित-सी दिखलाई पड़ती हैं। इसका मुख्य कारण 'अज्ञान' है। अज्ञान से ही यह नारा लगने लगा कि—यह सब संसार है, पाप है, अज्ञान में पड़ना है! कहा जाने लगा—'पहली कक्षा तो मूर्ख रहने की है! यहाँ क्या ज्ञान मिलेगा? ऐसे नारे सुन सुनकर सम्भ्रान्त व्यक्ति भी इस संसार (गृहस्थ जीवन) की कक्षा से खिसकने लगे। वे जल्दी से जल्दी निकल भागने की कोशिश करने लगे। यदि उस प्रथम कक्षा वाले से यह कहा जाता कि तुमने भी प्रगति की है, तुम्हारे भीतर भी इन्किलाब आ रहा है, तुम भी ठीक राह पर हो, तुमने भी कुछ न कुछ ज्ञान पा लिया है, खोया नहीं है। यदि इस तरह धीरे-धीरे विकास करते रहे तो एक दिन तुम अवश्य उच्च

भट्टी मे उन्होंने अपने शरीर को झोंक दिया और समझने लगे कि आकाशवाणी झूठी हो जाएगी। किन्तु भोग का निमित्त मिलते ही उन्हे वापिस लौटना पडा। वे फिर उसी गृहस्थ दशा के स्तर पर वापिस आ गए और 'पुनर्मूषिको भव' वाली गति हुई। आर्द्रकुमार के अन्तर्जीवन मे से भोग-वासना की दुर्बलता समाप्त नही हुई थी। वह हठात् ग्रहण किए गए सयम के आवरण मे छिप अवश्य गई थी, किन्तु समय आते ही वह पुन प्रकट हुई और उन्हे सयम से पतित होकर फिर पहले की स्थिति मे आना पडा।

पहली कक्षा के विद्यार्थी को जब तीसरी कक्षा में ले लिया जाता है तो वह उसके भार को सँभाल नही सकता। यही कारण है कि स्कूलो में जब कोई विद्यार्थी किसी कक्षा मे अनुत्तीर्ण हो जाता है तो उसे उसी कक्षा में रखा जाता है। उसके लिए यही उपाय विकास का माध्यम है।

इस प्रकार यदि गृहस्थी को छोडा जाय तो फल पकने पर, अर्थात्—परिपक्व स्थिति मे ही छोडा जाय। ऐसा न हो कि कर्त्तव्य के दायित्व से घबराकर भाग खडे हो और ऊपर की ओर व्यर्थ ही छलागे मारने लगें।

हमारे यहाँ साधु-जीवन निस्सन्देह ऊँचा है और उसके प्रति धर्मनिष्ठ लोगो मे श्रद्धा भी है। पर, जो साधक गलत और अधूरी साधना करके ही आगे बढ़ जाते हैं, वे साधु-वेष लेकर भी फिसल जाते हैं और सहज-भाव मे नही रहते। साधु का जीवन तो सहज-भाव मे ही बहना चाहिए। अत जैन-धर्म किसी वस्तु को हठाग्रह-पूर्वक छोडने की अपेक्षा आत्म-भाव की

के उसका साथ सहज रूप से छूट जाने को ही अधिक महत्त्व देता है।

दुर्भाग्य से आज का श्रावक साधु की भूमिका की ओर दौड़ता है और साधु, गृहस्थ की भूमिका की ओर। जिसे प्रथम कक्षा मिली है वह एम ए की कक्षा में प्रवेश करने के लिए भागता है और जिसे एम ए की कक्षा मिली है वह पहली कक्षा मे बैठने का प्रयत्न करता है।

यदि किसी बीमार को स्वस्थ मनुष्य का पौष्टिक भोजन दे दिया जाए तो वह कैसे पचा सकता है? ऐसा करने पर तो उसकी शक्ति का पूर्वापेक्षया अधिक ह्रास ही होगा। इसी प्रकार किसी स्वस्थ आदमी को यदि बीमार का खाना दे दिया जाए तो उसे क्या लाभ होगा? वह भूखा रहकर थोड़े ही दिनों में दुर्बल हो जाएगा।

इस तरह आज हमारे यहाँ सारी बातें परिवर्तित-सी दिखलाई पड़ती हैं। इसका मुख्य कारण 'अज्ञान' है। अज्ञान से ही यह नारा लगने लगा कि— यह सब संसार है पाप है, अज्ञान में पड़ना है! कहा जाने लगा—'पहली कक्षा तो मूर्ख रहने की है! यहाँ क्या ज्ञान मिलेगा? ऐसे नारे सुन सुनकर सम्भ्रान्त व्यक्ति भी इस संसार (गृहस्थ जीवन) की कक्षा से खिसकने लगे। वे जल्दी से जल्दी निकल भागने की कोशिश करने लगे। यदि उस प्रथम कक्षा वाले से यह कहा जाता कि तुमने भी क्रान्ति की है तुम्हारे भीतर भी इन्किलाब आ रहा है तुम भी ठीक राह पर हो तुमने भी कुछ न कुछ ज्ञान पा लिया है, खोया नहीं है। यदि इस तरह धीरे-धीरे विकास करते रहे तो एक दिन तुम अवश्य उच्च

कोटि के विद्वान् वन जाओगे। इस प्रकार प्रथम कक्षा वाले को भी अपनी कक्षा मे रस आता। उसे भी अपने जीवन का कुछ आनन्द आए विना नही रहता।

पर, हमारे कुछ साधको ने भ्रान्त विचार-शृखलाओ मे फँसकर और सत्यमार्ग से विचलित होकर जोरो के साथ यह वात फैला दी कि—पुत्र-पुत्रियो द्वारा माता-पिता आदि की सेवा करना एकान्त पाप है, यह ससारी काम है। इसमें धर्म का अश भी नही है। इस प्रकार की वाते कह-कहकर उन्होने गृहस्थ का मन गृहस्थ-धर्म की भूमिका से दूर हटा दिया है। फलत गृहस्थ अपने उत्तरदायित्व से दूर भाग खडा होता है। दोनो ओर से रह जाता है। न तो वह गृहस्थ धर्म का ही पूरी तरह पालन कर सकता है, और न साधु-जीवन के रस का ही पूरा आस्वादन कर पाता है। उसके विषय में यह उक्ति चरितार्थ होती है —

"हलवा मिले न माडे, दोई दीन से गये पाडे।"

एक पाडेजी घर-वार छोडकर सन्यासी वने थे। यह सोचकर कि घर की रूखी-सूखी रोटियो से पीछा छूट जायगा और हलुवा-पूरी खाने को मिलेगा। पर, उन्हे वहाँ रूखी-सूखी रोटियाँ भी ठीक समय पर न मिली। "चौवेजी वनने चले थे छव्वे जी, रह गए दुव्वे जी।"

आज गृहस्थ-जीवन की पगडडियो पर चलने वालो ने अपना मार्ग अत्यन्त सकीर्ण वना लिया है। वे समझ वैठे हैं कि जो काम साधु करे, उसी में धर्म है, और जो काम साधु न करे, उसमे पाप के सिवाय और कुछ नही है।

बहुतेरे लोगों के दिमाग में ऐसी भ्रान्त धारणा बैठ गई है। इसीलिए उनका विश्वास हो गया है कि रोटियाँ खाई तो जाएं, पर उनके लिए कमाई न की जाय कपड़ा पहना तो जाए, पर बुना न जाए पति-पत्नी बना तो जाए, परन्तु एक-दूसरे की सेवा न की जाए माता का पद तो लिया जाए, पर माता का काम न किया जाए; पिता बनने में सौभाग्य समझते हैं परन्तु पिता के दायित्व से बचना चाहते हैं।

इन भ्रमपूर्ण धारणाओं ने आज गृहस्थ-जीवन को विकृत कर दिया है। आखिर यह उलटी गाड़ी कब तक चलेगी? क्या जैन-धर्म ऐसी ही उलटी गाड़ी चलाने का आदेश देता है? वह यह कहाँ कहता है कि जो कुछ तुम बनना चाहते हो उसके दायित्व से बचने की कोशिश करो।

जैन-धर्म जीवन की आवश्यक प्रवृत्तियों को एकान्ततः बन्द करने के लिए नहीं आया है। वह इस सम्बन्ध में एक सुन्दर सन्देश देता है जो सर्वतोभावेन अभिनन्दनीय है।

खेती-बाड़ी व्यापार-वाणिज्य आदि जितनी भी प्रवृत्तियाँ हैं उन सबको बन्द करके चलोगे तो एक दिन भी टिक नहीं सकोगे। यही नहीं अकर्मण्य होकर, आलसियों की पंक्ति में बैठ जाने मात्र से ही तुम प्रवृत्तियों से छुटकारा नहीं पा सकते। तुम्हारा मन जो कि प्रवृत्तियों का मूल स्रोत है, अपनी उधेड़-बुन में निरन्तर लगा ही रहेगा। उसकी दुकानदारी कभी बन्द न होगी। उसे कहाँ से जाकर बिठाओगे और किस कोने में छिपाओगे? ऐसी स्थिति में जैन-धर्म

कोटि के विद्वान् वन जाओगे। इस प्रकार प्रथम कक्षा वाले को भी अपनी कक्षा मे रस आता। उसे भी अपने जीवन का कुछ आनन्द आए बिना नही रहता।

पर, हमारे कुछ साधको ने भ्रान्त विचार-शृखलाओ मे फँसकर और सत्यमार्ग से विचलित होकर जोरो के साथ यह वात फैला दी कि—पुत्र-पुत्रियो द्वारा माता-पिता आदि की सेवा करना एकान्त पाप है, यह ससारी काम है। इसमे धर्म का अश भी नही है। इस प्रकार की वाते कह-कहकर उन्होने गृहस्थ का मन गृहस्थ धर्म की भूमिका से दूर हटा दिया है। फलत गृहस्थ अपने उत्तरदायित्व से दूर भाग खडा होता है। दोनो ओर से रह जाता है। न तो वह गृहस्थ धर्म का ही पूरी तरह पालन कर सकता है, और न साधु-जीवन के रस का ही पूरा आस्वादन कर पाता है। उसके विषय मे यह उक्ति चरितार्थ होती है —

"हलवा मिले न माडे, दोई दीन से गये पाडे।"

एक पाडेजी घर-वार छोडकर सन्यासी वने थे। यह सोचकर कि घर की रूखी-सूखी रोटियो से पीछा छूट जायगा और हलुवा-पूरी खाने को मिलेगा। पर, उन्हें वहाँ रूखी-सूखी रोटियाँ भी ठीक समय पर न मिली। "चौवेजी वनने चले थे छव्वे जी, रह गए दुव्वे जी।"

आज गृहस्थ-जीवन की पगडडियो पर चलने वालो ने अपना मार्ग अत्यन्त सकीर्ण वना लिया है। वे समझ वैठे हैं कि जो काम साधु करे, उसी मे धर्म है, और जो काम साधु न करे, उसमे पाप के सिवाय और कुछ नही है।

जैन-धर्म आर्य-कर्म और अनार्य-कर्म की एक ही व्याख्या करता है अर्थात्—विवेकपूर्वक न्याय-नीतिपूर्वक किया गया कर्म आर्य-कर्म है और अन्याय से अनीति से छल-कपट से एवं दुर्भावना से किया जाने वाला कर्म अनार्य-कर्म है।

उदाहरणार्थ एक दुकानदार है। उसकी दुकान पर चाहे बच्चा आए चाहे जिन्दगी के किनारे लगा हुआ बूढ़ा आए चाहे कोई भोली भाली ग्रामीण बहिन आ जाए, यदि वह सभी को ईमानदारी के साथ सौदा देता है और अपना उचित मुनाफा रखकर सब का बराबर तोलता है तो वह आर्य कर्म की राह पर है। इसके विपरीत यदि दूसरा दुकानदार सभी को मूँडने की कोशिश करता है दूसरों का का गला काटना प्रारम्भ कर देता है नमूना कुछ और दिखाता है किन्तु देता कुछ और है तो वह अनार्य-कर्म की पगडंडी पर है।

अध्यापक का कर्त्तव्य है—बच्चों को सत् शिक्षा देकर उनका चरित्र निर्माण करना तथा विकास मार्ग पर प्रतिष्ठित करना। यदि वह अपने कर्त्तव्य के प्रति लापरवाह रहता है विद्यार्थी पढ़ें या न पढ़ें इसकी उसे कोई चिन्ता नहीं है और थोड़ी-सी भूल होते ही वह विद्यार्थी पर डंडे बरसाता है तो वह अनार्य-कर्म की राह पर है। यदि कोई अध्यापक अपने काम में पूर्ण विवेक रखता है अपनी जवाबदेही भली भाँति समझता है और उसे पूरी भी करता है तो उसका वह कर्म आर्य कर्म होगा वह उसका शुद्ध यज्ञ कहलाएगा। अन्याय अनीति अविवेक और अज्ञान

कहता है—प्रवृत्तियाँ भले ही हो, पर उनमे जो विप का पुट है, उसे हटा दीजिए। उनके पीछे क्षुद्र स्वार्थ एव आसक्ति की जो विपाक्त भावनाएँ हैं उन्हे धक्का देकर बाहर निकाल दीजिए। यदि तुम दुकान पर बैठे हो तो अन्याय से धन न बटोरो, किसी गरीब का खून मत चूसो, दूसरो को मूँडने की ही दुर्वृत्ति मत रखो। तुम्हारी प्रवृत्ति मे से यदि अनीति और धोखाधडी का विष निकल जाएगा, तो वह तुम्हारे जीवन की प्रगति मे बाधक नही बनेगा, अपितु विकास की नई प्रेरणा प्रदान करेगा।

खेती-बाडी करने वाले को भी जैन-धर्म यही कहता है कि यदि तुम खेती करते हो तो उसमे अन्धाधुन्धी से प्रवृत्ति मत करो। खेती की प्रवृत्ति मे से अज्ञान और अविवेक का जहर निकाल दो। अपने उत्पादन किये अन्न को ऊँचे दामो मे बेचने के लिए दुर्भिक्ष पडने की गन्दी कामना न करो, बल्कि दूसरो के जीवन-निर्वाह में सहायक बनने की करुणा-मयी पवित्र भावना रखो। बस, वही खेती आर्य-कर्म कहलाएगी। पवित्र एव करुणामयी भावना के अनुरूप कुछ अश में पुण्य का उपार्जन भी किया जा सकेगा।

गृहस्थ जिस किसी भी कार्य मे हाथ डाले, यदि उसके पास विवेक का दिव्य-प्रकाश है तो उसके लिए वह आर्य-कर्म होगा। इसके विपरीत यदि असावधानी से, अविवेक से और साथ ही अपवित्र भावना से कोई कार्य किया जाएगा, फिर चाहे वह दुकानदारी हो या घर की सफाई करने का ही साधारण काम क्यो न हो, तो वह अनार्य-कर्म होगा।

जैन-धर्म आर्य-कर्म और अनार्य-कर्म की एक ही व्याख्या करता है अर्थात्—विवेकपूर्वक न्याय-नीतिपूर्वक किया गया कर्म आर्य-कर्म है और अन्याय से अनीति से छल-कपट से एवं दुर्भावना से किया जाने वाला कर्म अनार्य-कर्म है।

उदाहरणार्थ एक दुकानदार है। उसकी दुकान पर चाहे बच्चा आए चाहे जिन्दगी के किनारे लगा हुआ बूढ़ा आए, चाहे कोई भोली-भाली ग्रामीण बहिन आ जाए, यदि वह सभी को ईमानदारी के साथ सौदा देता है और अपना उचित मुनाफा रखकर सब का बराबर तोलता है तो वह आर्य कर्म की राह पर है। इसके विपरीत यदि दूसरा दुकानदार सभी को मूंडने की कोशिश करता है दूसरों का का गला काटना प्रारम्भ कर देता है नमूना कुछ और दिखाता है किन्तु देता कुछ और है तो वह अनार्य-कर्म की पगडंडी पर है।

अध्यापक का कर्तव्य है—बच्चों को सत् शिक्षा देकर उनका चरित्र निर्माण करना तथा विकास मार्ग पर प्रतिष्ठित करना। यदि वह अपने कर्तव्य के प्रति लापरवाह रहता है, विद्यार्थी पढ़ें या न पढ़ें इसकी उसे कोई चिन्ता नहीं है और थोड़ी-सी भूल होते ही वह विद्यार्थी पर बेंत बरसाता है तो वह अनार्य-कर्म की राह पर है। यदि कोई अध्यापक अपने काम में पूर्ण विवेक रखता है अपनी जवाबदेही भली भाँति समझता है और उसे पूरी भी करता है तो उसका वह कर्म आर्य कर्म होगा वह उसका सुख यश कहलाएगा। अन्याय अनीति अविवेक और अज्ञान

को निकाल कर जो कर्त्तव्य या कर्म किया जाता है, वही आर्य-कर्म है ।

जैन-धर्म से पूछा गया—आस्रव का काम कौन-सा है और सवर का काम कौन-सा है ? अर्थात् ससार का मार्ग क्या है और मोक्ष का मार्ग क्या है ? इस प्रश्न का उत्तर आचाराग सूत्र में वडे ही सुन्दर ढग से दिया गया है —

'जे आसवा ते परिस्सवा जे परिस्सवा ते आसवा ।'

अर्थात्—"जिस प्रवृत्ति से आस्रव होता है, जो कर्मों के आगमन का हेतु है, उस प्रवृत्ति मे यदि विवेक का रस डाला गया है, अज्ञान को निकाल दिया गया है, न्याय-नीति और सयम की तन्मयता उसके पीछे रखी गई है, तो वही प्रवृत्ति सवर का हेतु वन जाती है । इसके विपरीत सामायिक दया, पौषध आदि जो प्रवृत्तियाँ सवर का कारण हैं, यदि उनमे विवेक नही है, ज्ञान की सुगन्ध नही है, सावधानी नही है, तो वे ही प्रवृत्ति 'आस्रव' का कारण वन जाती हैं । श्रावक एव साधु वन जाना सवर है, किन्तु कर्त्तव्य की पवित्र भावना यदि न रही, सदसत् का विवेक न रखा गया, तो वह ऊपर से दिखाई देने वाला सवर भी आस्रव है । वह रग-रोगन किया हुआ कागज का फूल है, जिसकी कलियो मे प्रेम, शील आदि सद्गुणो की सुवास नही है ।

यह है 'आस्रव' और 'सवर' के विषय मे जैन-धर्म का स्पष्ट दृष्टिकोण ! यह है 'आस्रव' और 'सवर' को नापने का जैन-धर्म का विशाल गज ! जिस धर्म ने इतना महान् मगल-सूत्र सिखाया हो, उसके अनुयायी वर्ग मे जव हम धर्म के प्रति

संकुचित और गलत दृष्टिकोण पाते हैं तो हमारे मन में निराशा की लहर उठने लगती है। हम सोचते हैं कि जब जैन-धर्म ने अपने साधकों का मार्ग खोजने के लिए प्रकाशमान रत्न दे दिया है फिर तो यह उन साधकों की ही अपनी गलती है जो ऐसा अमूल्य रत्न पाकर भी अन्ध श्रद्धा की दीवार से सिर टकराएं और व्यर्थ का वितण्डावाद बढ़ाएँ। सचमुच जैन धर्म ने आस्रव और संवर के कार्यों की लम्बी सूची नहीं बनाई है, सूची पूरी बनाई भी नहीं जा सकती। उसने थोड़े से भेद गिनाकर उनके बाद विराम नहीं लगा दिया है। आर्य-अनार्य कर्मों के सम्बन्ध में भी उसने कुछ महत्वपूर्ण कार्य गिनाकर ही समाप्ति की घोषणा नहीं कर दी है। उसने 'जे यावन्ने तहप्पगारा' लिखकर स्पष्ट कर दिया है कि—इस प्रकार के जो भी अन्य कार्य हैं वे सभी आर्य-कर्म हैं। इसी प्रकार आस्रव और संवर के विषय में भी उसने कहा है— विवेकी पुरुष आस्रव में भी संवर की स्थिति प्राप्त कर सकता है और अविवेकी पुरुष संवर के कार्य में भी आस्रव ग्रहण कर लेता है। देखिए यह दृष्टिकोण कितना व्यापक एवं शाश्वत है।

सामान्यतया कहा जा सकता है कि खेती आर्य कर्म है, इस विषय में प्रमाण क्या है? सबसे पहले मैं यही कहूँगा कि ग्रन्थकार का विवेक ही प्रमाण है उसके अन्तःकरण की वृत्तियाँ ही प्रमाण हैं। सबसे बड़ा प्रमाण मनुष्य का अपना अनुभव ही है। क्या तीर्थंकर किसी बात के निर्णय

के लिए किसी ग्रथ, शास्त्र या महापुरुष के किसी वाक्य को खोजते फिरते हैं ? नही, क्योकि उनके पास ज्ञान का वह अनुपम सर्चलाइट हैं, जिसके समक्ष सभी प्रकाश फीके पड जाते हैं । उन्हे किसी भी ग्रन्थ या पोथे को टटोलने की जरूरत ही नही होती ।

इसी प्रकार जिसके पास विवेक-बुद्धि है, उसे कही भी भटकने की आवश्यकता नही है । जिसकी दृष्टि यदि सम्यक् है और सत्य के प्रति सच्ची निष्ठा है तो वह किसी चीज के औचित्य का निर्णय स्वय कर सकता है । मैं तो यहाँ तक कहता हूँ कि* 'केवल-ज्ञान' से भी पहला नम्बर आत्मा के 'सहज-विवेक' का है, क्योकि वही तो सबसे पहले जाग्रत होता है और अन्तत आत्मा को केवल-ज्ञान का प्रकाश देता है । जो साधक विवेक का सहारा न लेकर धर्म की ऊँची-ऊँची बाते करता है, वह बिना आत्म-प्रकाश के, अन्धकार मे टकरा कर गिर जाता है । धर्म का रहस्य विवेक के विना समझ मे नही आ सकता । एक भारतीय ऋषि ने कहा भी है —

'यस्तर्केणानुसन्धत्ते स धर्मं वेद नेतर ।"

अर्थात्—'जो तर्क से किसी बात का पता लगाता है, वही धर्म को जानता है, दूसरा नही ।'

गणधर गौतम ने भी उत्तराध्ययन सूत्र मे कहा है —

'पन्ना समिक्खए धम्मतत्त तत्त विणिच्छिय ।"

---

* वह सर्वदर्शी सर्वोत्कृष्ट ज्ञान जिसके द्वारा त्रिकालवर्ती अनन्तानन्त पदार्थों का एक साथ हस्तामलकवत् प्रत्यक्ष प्रतिभास होता है ।

अर्थात्— साधक की सहज बुद्धि ही धर्म-तत्त्व की सच्ची समीक्षा कर सकती है।

वस्तुतः जीवन का निर्माण विचार के आधार पर ही होता है। विचार के बाद ही हम किसी प्रकार का आचरण करते हैं और विचार के लिए सर्वप्रथम विवेक की आवश्यकता होती है। अतः खेती आर्य-कर्म है या अनार्य-कर्म? इस प्रश्न पर विचार करने के लिए सर्वप्रथम अपने विवेक-शुद्ध अन्तःकरण से ही उत्तर माँगना चाहिए।

जो किसान दिन भर चोटी से ऐड़ी तक पसीना बहाता है, अन्न उत्पन्न करके संसार को देता है, अपना सारा समय परिश्रम और जीवन कृषि के पीछे लगा देता है, ऐसे अन्नोत्पादक और अन्नदाता को यदि आप अनार्य-कर्मी कहें और उस अन्न को खाकर ऐश-आराम से जिन्दगी बिताने वाले आप स्वयं आर्य कर्मी होने का दावा करें तो भला इस निराधार बात को किसी भी विवेकशील का अन्तःकरण क्या स्वीकार कर सकता है? आप बुद्धि का गज डालकर जरा अपने को नाप-तौल कर देखें कि कृषि क्या प्रत्येक स्थिति में अनार्य-कर्म हो सकती है?

स्वानुभव के अतिरिक्त शास्त्र-प्रमाणों की भी यदि आवश्यकता है तो उनकी भी कमी नहीं है।

उत्तराध्ययन सूत्र में उल्लेख है कि जो साधक अपना जीवन सन्धना में व्यतीत करता है, जो सदैव सत्कर्म के मार्ग पर चलता है और शुभ भावनाएँ रखता है, वह अपनी मानव आयु समाप्त करके देवलोक में जाता है। देवलोक के जीवन

के लिए किसी ग्रंथ, शास्त्र या महापुरुष के किसी वाक्य को खोजते फिरते हैं ? नही, क्योकि उनके पास ज्ञान का वह अनुपम सर्चलाइट है, जिसके समक्ष सभी प्रकाश फीके पड जाते हैं। उन्हे किसी भी ग्रन्थ या पोथे को टटोलने की जरूरत ही नही होती।

इसी प्रकार जिसके पास विवेक-बुद्धि है, उसे कही भी भटकने की आवश्यकता नही है। जिसकी दृष्टि यदि सम्यक् है और सत्य के प्रति सच्ची निष्ठा है तो वह किसी चीज के औचित्य का निर्णय स्वय कर सकता है। मैं तो यहाँ तक कहता हूँ कि* 'केवल-ज्ञान' से भी पहला नम्बर आत्मा के 'सहज-विवेक' का है, क्योकि वही तो सबसे पहले जाग्रत होता है और अन्तत आत्मा को केवल-ज्ञान का प्रकाश देता है। जो साधक विवेक का सहारा न लेकर धर्म की ऊँची-ऊँची बाते करता है, वह बिना आत्म-प्रकाश के, अन्धकार मे टकरा कर गिर जाता है। धर्म का रहस्य विवेक के बिना समझ मे नही आ सकता। एक भारतीय ऋषि ने कहा भी है —

'यस्तर्केणानुसन्धत्ते स धर्मं वेद नेतर ।"

अर्थात्—'जो तर्क से किसी बात का पता लगाता है, वही धर्म को जानता है, दूसरा नही।'

गणधर गौतम ने भी उत्तराध्ययन सूत्र मे कहा है —

'पन्ना समिक्खए धम्मतत्त तत्त विणिच्छिय ।"

---

* वह सर्वदर्शी सर्वोत्कृष्ट ज्ञान जिसके द्वारा त्रिकालवर्ती अनन्तानन्त पदार्थों का एक साथ हस्तामलकवत् प्रत्यक्ष प्रतिभास होता है।

अर्थात्—"साधक की सहज बुद्धि ही धर्म-तत्त्व की सच्ची समीक्षा कर सकती है।"

वस्तुतः जीवन का निर्माण विचार के आधार पर ही होता है। विचार के बाद ही हम किसी प्रकार का आचरण करते हैं और विचार के लिए सर्वप्रथम विवेक की आवश्यकता होती है। अतः खेती आर्य-कर्म है या अनार्य-कर्म ? इस प्रश्न पर विचार करने के लिए सर्वप्रथम अपने विवेक-शुद्ध अन्तःकरण से ही उत्तर माँगना चाहिए।

जो किसान दिन भर चोटी से ऐडी तक पसीना बहाता है अन्न उत्पन्न करके संसार को देता है अपना सारा समय परिश्रम और जीवन कृषि के पीछे लगा देता है ऐसे अन्नोत्पादक और अन्नदाता को यदि आप अनार्य-कर्मी कहें और उस अन्न को खाकर ऐश-आराम से जिन्दगी बिताने वाले आप स्वयं आर्य-कर्मी होने का दावा करें भला इस निरा धार बात को किसी भी विवेकशील का अन्तःकरण कब स्वीकार कर सकता है ? आप बुद्धि का गज डालकर जरा अपने को माप-तौल कर देखें कि कृषि क्या प्रत्येक स्थिति में अनार्य-कर्म हो सकती है ?

स्वानुभव के अतिरिक्त शास्त्र-प्रमाणों की भी यदि आवश्यकता है तो उनकी भी कमी नहीं है।

उत्तराध्ययन सूत्र में उल्लेख है कि जो साधक अपना जीवन साधना में व्यतीत करता है जो सदैव सत्कर्म के मार्ग पर चलता है और शुभ भावनाएँ रखता है वह अपनी मानव आयु समाप्त करके देवलोक में जाता है। देवलोक के जीवन

के लिए किसी ग्रंथ, शास्त्र या महापुरुष के किसी वाक्य को खोजते फिरते हैं ? नही, क्योकि उनके पास ज्ञान का वह अनुपम सर्चलाइट है, जिसके समक्ष सभी प्रकाश फीके पड जाते हैं। उन्हे किसी भी ग्रन्थ या पोथे को टटोलने की जरूरत ही नही होती।

इसी प्रकार जिसके पास विवेक-बुद्धि है, उसे कही भी भटकने की आवश्यकता नही है। जिसकी दृष्टि यदि सम्यक् है और सत्य के प्रति सच्ची निष्ठा है तो वह किसी चीज के औचित्य का निर्णय स्वय कर सकता है। मै तो यहाँ तक कहता हूँ कि* 'केवल-ज्ञान' से भी पहला नम्बर आत्मा के 'सहज-विवेक' का है, क्योकि वही तो सबसे पहले जाग्रत होता है और अन्तत आत्मा को केवल-ज्ञान का प्रकाश देता है। जो साधक विवेक का सहारा न लेकर धर्म की ऊँची-ऊँची बाते करता है, वह बिना आत्म-प्रकाश के, अन्धकार मे टकरा कर गिर जाता है। धर्म का रहस्य विवेक के बिना समझ मे नही आ सकता। एक भारतीय ऋषि ने कहा भी है —

"यस्तर्केणानुसन्धत्ते स धर्म वेद नेतर ।"

अर्थात्—'जो तर्क से किसी बात का पता लगाता है, वही धर्म को जानता है, दूसरा नही।'

गणधर गौतम ने भी उत्तराध्ययन सूत्र मे कहा है —

'पन्ना समिक्खए धम्मतत्त तत्त विणिच्छिय ।"

---

* यह सर्वदर्शी सर्वोत्कृष्ट ज्ञान जिसके द्वारा त्रिकालवर्ती अनन्तानन्त पदार्थों का एक साथ हस्तामलकवत् प्रत्यक्ष प्रतिभास होता है।

अर्थात्— साधक की संहज बुद्धि ही धर्म-तत्त्व की सच्ची समीक्षा कर सकती है।

वस्तुत: जीवन का निर्माण विचार के आधार पर ही होता है। विचार के बाद ही हम किसी प्रकार का आचरण करते हैं और विचार के लिए सर्वप्रथम विवेक की आवश्यकता होती है। अत: खेती आर्य-कर्म है या अनार्य-कर्म ? इस प्रश्न पर विचार करने के लिए सर्वप्रथम अपने विवेक-युक्त अन्त:करण से ही उत्तर माँगना चाहिए।

जो किसान दिन भर चोटी से ऐडी तक पसीना बहाता है अन्न उत्पन्न करके संसार को देता है अपना सारा समय परिश्रम और जीवन कृषि के पीछे लगा देता है ऐसे अन्नोत्पादक और अन्नदाता को यदि आप अनार्य-कर्मी कहें और उस अन्न को खाकर ऐश-आराम से जिन्दगी बिताने वाले आप स्वयं आर्य-कर्मी होने का दावा करें भला इस निराधार बात को किसी भी विवेकशील का अन्तःकरण कब स्वीकार कर सकता है ? आप बुद्धि का गज लाकर जरा अपने को नाप-तौल कर देखें कि कृषि क्या प्रत्येक स्थिति में अनार्य-कर्म हो सकती है ?

स्वानुभव के अतिरिक्त शास्त्र-प्रमाणों की भी यदि आवश्यकता है तो उनकी भी कमी नहीं है।

उत्तराध्ययन सूत्र में उल्लेख है कि जो साधक अपना जीवन साधना में व्यतीत करता है जो सदैव सत्कर्म के मार्ग पर चलता है और शुभ भावनाएँ रखता है वह अपनी मानव आयु समाप्त करके देवलोक में जाता है। देवलोक के जीवन

के लिए किसी ग्रथ, शास्त्र या महापुरुप के किसी वाक्य को खोजते फिरते है ? नही, क्योंकि उनके पास ज्ञान का वह अनुपम सर्चलाइट है, जिसके समक्ष सभी प्रकाश फीके पड जाते हैं। उन्हे किसी भी ग्रन्थ या पोथे को टटोलने की जरूरत ही नही होती।

इसी प्रकार जिसके पास विवेक-बुद्धि है, उसे कही भी भटकने की आवश्यकता नही है। जिसकी दृष्टि यदि सम्यक् है और सत्य के प्रति सच्ची निष्ठा है तो वह किसी चीज के औचित्य का निर्णय स्वय कर सकता है। मै तो यहाँ तक कहता हूँ कि* 'केवल-ज्ञान' से भी पहला नम्बर आत्मा के 'सहज-विवेक' का है, क्योकि वही तो सबसे पहले जाग्रत होता है और अन्तत आत्मा को केवल-ज्ञान का प्रकाश देता है। जो साधक विवेक का सहारा न लेकर धर्म की ऊँची-ऊँची बाते करता है, वह बिना आत्म-प्रकाश के, अन्धकार मे टकरा कर गिर जाता है। धर्म का रहस्य विवेक के बिना समझ मे नही आ सकता। एक भारतीय ऋषि ने कहा भी है —

यस्तर्केणानुसन्धत्ते स धर्म वेद नेतर ।"

अर्थात्–'जो तर्क से किसी बात का पता लगाता है, वही धर्म को जानता है, दूसरा नही।'

गणधर गौतम ने भी उत्तराध्ययन सूत्र मे कहा है —

'पन्ना समिक्खए धम्मतत्त तत्त विणिच्छिय।"

---

* वह सर्वदर्शी सर्वोत्कृष्ट ज्ञान जिसके द्वारा त्रिकालवर्ती अनन्तानन्त पदार्थों का एक साथ हस्तामलकवत् प्रत्यक्ष प्रतिभास होता है।

अर्थात्—"साधक की सहज बुद्धि ही धर्म-तत्त्व की सच्ची समीक्षा कर सकती है।

वस्तुतः जीवन का निर्माण विचार के आधार पर ही होता है। विचार के बाद ही हम किसी प्रकार का आचरण करते हैं, और विचार के लिए सर्वप्रथम विवेक की आवश्यकता होती है। अतः खेती आर्य-कर्म है या अनार्य-कर्म ? इस प्रश्न पर विचार करने के लिए सर्वप्रथम अपने विवेक-शुद्ध अन्तःकरण से ही उत्तर माँगना चाहिए।

जो किसान दिन भर चोटी से ऐडी तक पसीना बहाता है अन्न उत्पन्न करके संसार को देता है अपना सारा समय परिश्रम और जीवन कृषि के पीछे लगा देता है ऐसे अन्नोत्पादक और अन्नदाता को यदि आप अनार्य-कर्मी कहें और उस अन्न को खाकर ऐश-आराम से जिन्दगी बिताने वाले आप स्वयं आर्य-कर्मी होने का दावा करें भला इस निराधार बात को किसी भी विवेकशील का अन्तःकरण कब स्वीकार कर सकता है ? आप बुद्धि का गज डालकर जरा अपने को नाप-तौल कर देखें कि कृषि क्या प्रत्येक स्थिति में अनार्य-कर्म हो सकती है ?

स्वानुभव के अतिरिक्त शास्त्र-प्रमाणों की भी यदि आवश्यकता है तो उनकी भी कमी नहीं है।

उत्तराध्ययन सूत्र में उल्लेख है कि जो साधक अपना जीवन साधना में व्यतीत करता है जो सदैव सत्कर्म के मार्ग पर चलता है और शुभ भावनाएँ रखता है वह अपनी मानव आयु समाप्त करके देवलोक में जाता है। देवलोक के जीवन

के पश्चात् वह कहाँ पहुँचता है ? यह बताने के लिए वहाँ ये गाथाएँ दी गई हैं —

खेत्त वत्थु हिरण्ण च पसवो दास—पोरुस ।
चत्तारि कामखधाणि, तत्थ से उववज्जइ ॥
मित्तव नाइव होइ, उच्चागोए य वण्णव ।
अप्पायके महापण्णे, अभिजाए जसो वले ॥
—उत्तरा० ३, १७-१८

उपर्युक्त गाथाओ मे कहा गया है कि जो साधक देवलोक मे जाते हैं, वे जीवन का पुन प्रकाश प्राप्त करने के लिए वहाँ से कहाँ जन्म लेंगे ? उत्तर—जहाँ खेती लहलाती होगी । सब से पहला पद यह आया है कि उस साधक को खेत मिलेगा । उसे खेत की उपजाऊ भूमि मिलेगी, जिसमे वह सोने से भी बढकर जीवनकण-अन्न उत्पन्न करेगा ।

यहाँ सोने और चाँदी से भी पहले खेत की गणना की गई है । इस प्रकार जैन-परम्परा खेती-वाडी को पुण्य का फल मानती है । खेती-वाडी, खेत और जमीन यदि पाप का फल होता तो शास्त्रकार उसे पुण्य का फल क्यो बतलाते ?

उत्तराध्ययन सूत्र मे आगे भी कहा है —

'कम्मुणा बभणो होई, कम्मुणा होइ खत्तिओ ।
वइसो कम्मुणा होइ सुद्दो हवइ कम्मुणा ॥"

अर्थात्—कर्म से ही ब्राह्मण होता है, कर्म से ही क्षत्रिय होता है, कर्म से ही वैश्य होता है और कर्म से ही शूद्र भी होता है ।

यहाँ कर्म से वैश्य होना बतलाया गया है, परन्तु उस कर्म का निर्णय आप कैसे करेंगे ? कौन सा दया, पौषध आदि है, जो आप मे से किसी को ब्राह्मण, किसी को क्षत्रिय, किसी

को वैश्य और किसी को शूद्र बनाता है? ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य और शूद्र के रूप में बांटने वाला कर्म कौन-सा है? धार्मिक नियम और मर्यादाएँ तो सभी के लिए समान हैं और उनका फल भी सभी के लिए समान ही बताया गया है। कोई धार्मिक नियम या व्रत-कर्म ऐसा नहीं, जो किसी एक को ब्राह्मण और किसी दूसरे को वैश्य बनाता हो।

तब फिर यहाँ 'कर्म' से क्या अभिप्राय है? यह बात समझने के लिए हमें प्राचीन टीकाकारों की ओर नजर डालनी होगी। उत्तराध्ययन पर विस्तृत और प्रांजल टीका लिखने वाले वादि-वेताल शान्त्याचार्य विक्रम की ग्यारहवीं शताब्दी में हुए हैं। उन्होंने अपना स्पष्ट चिन्तन जैन जनता के सामने रखा है। उन्होंने कम्मुणा वइसो होइ' पद पर टीका लिखते हुए कहा है

'कृषि-पशु-पालन-वाणिज्यादि कर्मणा वैश्यो भवति।'

भगवद्गीता में भी यही बात स्पष्ट रूप से कही गई है —

कृषि-गौरक्ष्य-वाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्।

प्रामाणिक शास्त्रों का दिव्य-प्रकाश उपलब्ध होते हुए भी आज हम गलतफहमी के कारण कर्मों को समझने में गड़बड़ा गए हैं लेकिन प्राचीन जैन और जैनेतर साहित्य स्पष्ट बताते हैं कि कृषि करना वैश्य वर्ण का ही कार्य था जो आज एकमात्र शूद्रों या अनार्यों के मत्थे मढ़ा जा रहा है।

भगवान् महावीर ने भी कृषि-कर्म करने वाले व्यक्तियों को वैश्य बतलाया है। भगवान् महावीर के पास आने

के पश्चात् वह कहाँ पहुँचता है ? यह बताने के लिए वहाँ ये गाथाएँ दी गई हैं —

खेत्तं वत्थु हिरण्णं च पसवो दास—पोरुसं।
चत्तारि कामखंधाणि, तत्थ से उववज्जइ ॥
मित्तवं नाइवं होइ, उच्चागोए य वण्णवं।
अप्पायंके महापण्णे, अभिजाए जसो बले ॥

—उत्तरा० ३, १७-१८

उपर्युक्त गाथाओ मे कहा गया है कि जो साधक देवलोक मे जाते हैं, वे जीवन का पुन प्रकाश प्राप्त करने के लिए वहाँ से कहाँ जन्म लेंगे ? उत्तर—जहाँ खेती लहलाती होगी। सब से पहला पद यह आया है कि उस साधक को खेत मिलेगा ! उसे खेत की उपजाऊ भूमि मिलेगी, जिसमे वह सोने से भी बढकर जीवनकण-अन्न उत्पन्न करेगा।

यहाँ सोने और चाँदी से भी पहले खेत की गणना की गई है। इस प्रकार जैन-परम्परा खेती-बाडी को पुण्य का फल मानती है। खेती-बाडी, खेत और जमीन यदि पाप का फल होता तो शास्त्रकार उसे पुण्य का फल क्यों बतलाते ?

उत्तराध्ययन सूत्र मे आगे भी कहा है —

'कम्मुणा बंभणो होई, कम्मुणा होइ खत्तिओ।
वइसो कम्मुणा होइ सुद्दो हवइ कम्मुणा ॥"

अर्थात्—कर्म से ही ब्राह्मण होता है, कर्म से ही क्षत्रिय होता है, कर्म से ही वैश्य होता है और कर्म से ही शूद्र भी होता है।

यहाँ कर्म से वैश्य होना बतलाया गया है, परन्तु उस कर्म का निर्णय आप कैसे करेंगे ? कौन सा दया, पौषध आदि है, जो आप मे से किसी को ब्राह्मण, किसी को क्षत्रिय, किसी

शास्त्रों का इतना स्पष्ट विवरण हमारे सामने मौजूद है और त्याग का क्रम भी स्पष्ट रूप से मार्ग दिखा रहे हैं दुर्भाग्य से फिर भी कुछ लोग भ्रम में पड़े हुए हैं। यह कितना आश्चर्यजनक एवं खेदपूर्ण है कि जो बात आगे की भूमिका में छोड़ने की है उसे पहले की भूमिका में छोड़ देने का आग्रह किया जाता है और जो विषय पहले की भूमिका में त्यागने योग्य है उसका ठिकाना ही नहीं है! धोती की जगह पगड़ी और पगड़ी की जगह धोती लपेट कर हम अपने आपको शेखचिल्ली की भांति दुनिया की दृष्टि में हास्यास्पद बना रहे हैं।

आर्य और अनार्य कर्मों का विस्तृत विवरण प्रज्ञापना सूत्र में भी आया है। वहाँ आर्य-कर्मों के स्वरूप का निर्देशन करते हुए कुछ थोड़े से कम गिनकर अन्त में 'जे यावन्ने तहप्पगारा' कहकर सारा निचोड़ बतला दिया है। इसका सारांश यही है कि इस प्रकार के और भी कर्म हैं जो आर्य-कर्म कहलाते हैं।

कुम्भकार के धन्धे को भी वहाँ आर्य-कर्म बतलाया गया है। इससे आप फैसला कर सकते हैं कि कृषि-कर्म को अनार्य कर्म कहने का कोई कारण नहीं था। पर, इस गए गुजरे जमाने में कई नए टीकाकार पैदा हुए है जो उन पुराने आचार्यों की मान्यताओं और भगवान् महावीर के समय से ही चली आने वाली पवित्र परम्पराओं को तिलाजली देने की अनम्र चेष्टा कर रहे हैं। जैन-जगत् के युगद्रष्टा एवं क्रान्तिकारी आचार्य पूज्यपाद श्री जवाहरलालजी महाराज का जिन्होंने

वाले और व्रत ग्रहण करने वाले जिन प्रमुख श्रावकों का वर्णन उपासक दशाग सूत्र मे आता है, उनमे कोई भी ऐसा नही था, जो श्रावक अवस्था मे खेती-वाडी का धन्धा न करता हो। इससे आप स्वय अनुमान लगा सकते है कि हमारी परम्परा हमे खेती के विषय मे क्या निर्देश करती है ? वाणिज्य-व्यापार का नम्बर तो तीसरा है, वैश्य का पहला कर्म खेती और दूसरा कर्म पशु-पालन गिनाया गया है।

यहाँ एक बात ध्यान मे रखना चाहिए कि बारह व्रत-धारी श्रावक की भूमिका तक तो खेती का कही भी निषेध नही है। इससे ऊपर की भूमिका प्रतिमाधारी श्रावक की भूमिका है। क्रमश पहली, दूसरी, तीसरी आदि प्रतिमाओं को स्वीकार करने के बाद जब श्रावक आठ ी प्रतिमा को अगीकार करता है, तब आरम्भ के कार्यों का परित्याग कर कृषि का त्याग करता है। इस सम्बन्ध मे श्वेताम्बर और दिगम्बर-परम्परा के सभी आचार्य एक स्वर से समर्थन करते हुए कहते हैं* —

आरम्भ —कृष्यादि कर्म, तत्त्याग करोति।"

अर्थात्—यहाँ आरम्भ से कृषि-कर्म आदि समझना चाहिए। उसका त्याग आठवी प्रतिमा में होता है। इस तरह प्रतिमाधारी श्रावक आठवी प्रतिमा मे स्वय कृषि करने का त्याग करता है और नौवी प्रतिमा मे कराने का भी त्याग कर देता है।

---

*देखिए — समन्तभद्र कृत 'रत्नकरण्डक श्रावकाचार और प्रवचन-सारोद्धार की सिद्धसेनीया वृत्ति।

शास्त्रों का इतना स्पष्ट विवरण हमारे सामने मौजूद है और त्याग का क्रम भी स्पष्ट रूप से बतला दिया रहे हैं दुर्भाग्य से फिर भी कुछ लोग भ्रम में पड़े हुए हैं। यह कितना आश्चर्यजनक एवं खेदपूर्ण है कि जो बात आगे की भूमिका में छोड़ने की है उसे पहले की भूमिका में छोड़ देने का आग्रह किया जाता है और जो विषय पहले की भूमिका में त्यागने योग्य है उसका ठिकाना ही नहीं है! धोती की जगह पगड़ी और पगड़ी की जगह धोती लपेट कर हम अपने आपको शेखचिल्ली की भांति दुनिया की दृष्टि में हास्यास्पद बना रहे हैं।

आर्य और अनार्य कर्मों का विस्तृत विवरण प्रज्ञापना सूत्र में भी आया है। वहाँ आर्य-कर्मों के स्वरूप का निर्देशन करते हुए कुछ थोड़े से कम गिनकर अन्त में जे यावन्ने तहप्पगारा' कहकर सारा निचोड़ बतला दिया है। इसका सारांश यही है कि इस प्रकार के और भी कर्म हैं जो आर्य-कर्म कहलाते हैं।

कुम्भकार के धन्धे को भी वहाँ आर्य-कर्म बतलाया गया है। इससे आप फैसला कर सकते हैं कि कृषि-कर्म को अनार्य कर्म कहने का कोई कारण नहीं था। पर, इस गए गुजरे जमाने में कई नए टीकाकार पैदा हुए हैं जो उन पुराने आचार्यों की मान्यताओं और भगवान् महावीर के समय से ही चली आने वाली पवित्र परम्पराओं को तिलांजली देने की अथक चेष्टा कर रहे हैं। जैन-जगत् के युगद्रष्टा एवं क्रान्तिकारी आचार्य पूज्यपाद श्री जवाहरलालजी महाराज को जिन्होंने

वाले और व्रत ग्रहण करने वाले जिन प्रमुख श्रावको का वर्णन उपासक दशाग सूत्र मे आता है, उनमे कोई भी ऐसा नही था, जो श्रावक अवस्था मे खेती-वाडी का धन्धा न करता हो । इससे आप स्वय अनुमान लगा सकते हैं कि हमारी परम्परा हमे खेती के विपय मे क्या निर्देश करती है ? वाणिज्य-व्यापार का नम्वर तो तीसरा है, वैश्य का पहला कर्म खेती और दूसरा कर्म पशु-पालन गिनाया गया है।

यहाँ एक बात ध्यान मे रखना चाहिए कि वारह व्रत-धारी श्रावक की भूमिका तक तो खेती का कही भी निपेध नही है । इससे ऊपर की भूमिका प्रतिमाधारी श्रावक की भूमिका है । क्रमश पहली, दूसरी, तीसरी आदि प्रतिमाओ को स्वीकार करने के वाद जव श्रावक आठ ी प्रतिमा को अगीकार करता है, तव आरम्भ के कार्यो का परित्याग कर कृषि का त्याग करता है । इस सम्वन्ध मे श्वेताम्बर और दिगम्बर-परम्परा के सभी आचार्य एक स्वर से समर्थन करते हुए कहते हैं* —

आरम्भ —कृष्यादि कम, तत्त्याग करोति ।"

अर्थात् —यहाँ आरम्भ से कृपि-कर्म आदि समझना चाहिए । उसका त्याग आठवी प्रतिमा मे होता है । इस तरह प्रतिमाधारी श्रावक आठवी प्रतिमा मे स्वय कृपि करने का त्याग करता है और नौवी प्रतिमा मे कराने का भी त्याग कर देता है ।

---

*देखिए — समन्तभद्र कृत रत्नकरण्डक श्रावकाचार और प्रवचन-सारोद्धार की सिद्धसेनीया वृत्ति ।

व्यवसाय करता है तो वह अल्पारंभ की भूमिका में है —
'अलपाणाणवज्जमांणमरिय भावका'।

खेती आदि कर्मों के आर्य-कर्म होने के सम्बन्ध में इनसे अच्छे और क्या प्रमाण हो सकते हैं ? सारांश यही है कि श्रावक की भूमिका ही अल्पारंभ की भूमिका है। इसका रहस्य यही है कि श्रावक में विवेक होता है। वह जो भी काम करेगा उसमें विवेक की दृष्टि अवश्य रखेगा। श्रावक का हाथ वह अद्भुत हाथ है कि जिसे वह छू से बस सोना बन जाए। श्रावक की भूमिका वह भूमिका है जिसमें विवेक का जादू है। यही जादू उसके कार्य को अल्पारम्भ बना देता है।

असली चीज तो विवेक है। जहाँ विवेक नहीं है वहाँ खाली भी सावद्य कर्म है। यहाँ तक कि विवेक के अभाव में लेखन तथा वस्त्र आदि का व्यवसाय करना भी अल्पारंभ नहीं होगा।

इस तरह हमें जीवन के प्रत्येक प्रश्न पर आर्य-कर्म और अनार्य-कर्म तथा अल्पारंभ और महारंभ का निर्णय कर लेना चाहिए। विवेक को त्याग कर यदि किसी एक ही पक्ष के खूँटे को पकड़ कर हम चिल्लाते रहेंगे तो हमारी समझ में कुछ भी नहीं आएगा और हम जैन-धर्म को भी विश्व की दृष्टि में हेय सिद्ध कर देंगे।

प्राचीन परम्परा के आधार पर अपना स्पष्ट चिन्तन रखा, ऐसे ही कुछ टीकाकार उत्सूत्रप्ररूपी तक कहने का दुस्साहस करते हैं। खेती आर्य-कर्म नही है, इससे बढकर सफेद झूठ और क्या हो सकता है ?

शायद विक्रम की दूसरी या तीसरी शताब्दी मे आचार्य उमास्वाति हुए हैं, जिन्होने तत्त्वार्थ सूत्र पर स्वोपज्ञ भाष्य लिखा है। उन्होने आर्य-कर्मों की व्याख्या करते हुए कहा है —

"कर्मार्या यजनयाजनाध्ययनाध्यापनकृपिवाणिज्ययोनिपोपणवृत्तय ।"

यह चिन्तन कहाँ से आया है ? उपर्युक्त प्रज्ञापना सूत्र के आधार पर ही यहाँ चिन्तन किया गया है।

आचार्य अकलक भट्ट ने (आठवी शताब्दी) तत्त्वार्थ राजवार्त्तिक मे अपना विशिष्ट चिन्तन जनता के समक्ष रखा। उन्होने खेती-बाडी, चन्दन, वस्त्र आदि का व्यापार तथा लेखन-अध्यापन आदि उद्योगो को, सावद्य आर्य-कर्म बतलाया है। इसका कारण वतलाते हुए वे कहते है —

"षडप्येतेऽविरतिप्रवणत्वात्सावद्यकर्मार्या ।*"

यह छह प्रकार के आर्य अविरति के कारण सावद्य आर्य-कर्मी हैं , अर्थात्—व्रती श्रावक की भूमिका से पहले ये सावद्यकर्मार्य हैं। परन्तु वाद मे व्रती श्रावक होने पर जो मर्यादावद्ध खेती आदि कर्म करता है, लिखने-पढने का

---

* आचार्य अकलक ने लेखन आदि के समान कृषि को सावद्यकर्म ही कहा है महासावद्य नही। कृषि को महारभ—महापाप कहने वाले सूक्ष्म दृष्टि से विचार करें।

व्यवसाय करता है तो वह अल्पारंभ की भूमिका में है —
"अल्पसावद्यकर्मार्याश्च श्रावकाः।"

खेती आदि कर्मों के आर्य-कर्म होने के सम्बन्ध में इनसे अच्छे और क्या प्रमाण हो सकते हैं ? सारांश यही है कि श्रावक की भूमिका ही अल्पारंभ की भूमिका है। इसका रहस्य यही है कि श्रावक में विवेक होता है। वह जो भी काम करेगा उसमें विवेक की दृष्टि अवश्य रखेगा। श्रावक का हाथ वह अद्‌भुत हाथ है कि जिसे वह छू ले बस सोना बन जाए। श्रावक की भूमिका वह भूमिका है जिसमें विवेक का जादू है। यही जादू उसके कार्य को अल्पारम्भ बना देता है।

असली चीज तो विवेक है। जहाँ विवेक नहीं है वहाँ खेती भी सावद्य कर्म है। यहाँ तक कि विवेक के अभाव में लेखन तथा वस्त्र आदि का व्यवसाय करना भी अल्पारंभ नहीं होगा।

इस तरह हमें जीवन के प्रत्येक प्रश्न पर आर्य-कर्म और अनार्य-कर्म तथा अल्पारंभ और महारंभ का निर्णय कर लेना चाहिए। विवेक को त्याग कर यदि किसी एक ही पक्ष के खू टे को पकड़ कर हम चिल्लाते रहेंगे तो हमारी समझ में कुछ भी नहीं आएगा और हम जैन-धर्म को भी विश्व की दृष्टि में हेय सिद्ध कर देंगे।

प्राचीन परम्परा के आधार पर अपना स्पष्ट चिन्तन रखा, ऐसे ही कुछ टीकाकार उत्सूत्रप्ररूपी तक कहने का दुस्साहस करते हैं। खेती आर्य-कर्म नहीं है, इससे बढकर सफेद झूठ और क्या हो सकता है?

शायद विक्रम की दूसरी या तीसरी शताब्दी मे आचार्य उमास्वाति हुए हैं, जिन्होने तत्त्वार्थ सूत्र पर स्वोपज्ञ भाष्य लिखा है। उन्होने आर्य-कर्मों की व्याख्या करते हुए कहा है —

"कर्मार्या यजनयाजनाध्ययनाध्यापनकृषिवाणिज्ययोनिपोषणवृत्तय ।"

यह चिन्तन कहाँ से आया है? उपर्युक्त प्रज्ञापना सूत्र के आधार पर ही यहाँ चिन्तन किया गया है।

आचार्य अकलक भट्ट ने (आठवी शताब्दी) तत्त्वार्थ राजवार्तिक मे अपना विशिष्ट चिन्तन जनता के समक्ष रखा। उन्होने खेती-वाडी, चन्दन, वस्त्र आदि का व्यापार तथा लेखन-अध्यापन आदि उद्योगो को, सावद्य आर्य-कर्म बतलाया है। इसका कारण बतलाते हुए वे कहते है —

"षडप्येतेऽविरतिप्रवणत्वात्सावद्यकर्मार्या ।*"

यह छह प्रकार के आर्य अविरति के कारण सावद्य आर्य-कर्मी हैं, अर्थात्—व्रती श्रावक की भूमिका से पहले ये सावद्यकर्मार्य हैं। परन्तु बाद मे व्रती श्रावक होने पर जो मर्यादाबद्ध खेती आदि कर्म करता है, लिखने-पढने का

---

* आचार्य अकलक ने लेखन आदि के समान कृषि को सावद्यकर्म ही कहा है, महासावद्य नही। कृषि को महारभ—महापाप कहने वाले सूक्ष्म दृष्टि से विचार करें।

दूर तक आगे कदम बढ़ा चुका है और दूसरी ओर गृहस्थ अभी अपने क्षेत्र में कदम बढ़ाकर चला ही है। फिर साधु का जीवन भी तो ऊँचा-नीचा है। उसकी भी अनेक श्रेणियाँ हैं।

इसी प्रकार गृहस्थ-जीवन की भी अनेक कक्षाएँ हैं। और उन कक्षाओं के भी कई स्तर हैं। ऐसा नहीं है कि गृहस्थ छोटा है, अतः वह नगण्य है और विष का टुकड़ा है। परिस्थिति वश गृहस्थ साधु की अपेक्षा नीचा होते हुए भी किसी विषय में अपेक्षाकृत ऊँचा है। जो गृहस्थ जीवन के मैदान में विवेक-पूर्वक चलता है जिसके हृदय में प्रत्येक प्राणी के लिए दया का झरना बहता है जो महा-हिंसा से दूर रहकर अपनी जीवन-यात्रा तय कर रहा है वह अपने श्रावक के कर्तव्यों को दृढ़ता से पूरा कर रहा है। भले ही वह धीमे कदमों से चलता हो पर अभीष्ट लक्ष्य की ओर उसकी गति नियमित और निरन्तर अवश्य है।

हमें अपनी पुरानी परम्परा की ओर भी दृष्टिपात कर लेना चाहिए। वह क्या कहती है? वह ऐसे गृहस्थ को जो अपनी जीवन नौका के साथ-साथ दूसरों की जीवन नौका को भी पार करता है कभी भी पापी और विष का टुकड़ा नहीं बतला सकती। कुछ लोगों का ऐसा विचार है कि गृहस्थ को अपनी रोटी कमानी पड़ती है वस्त्र जुटाना पड़ता है समय आने पर अपने पड़ौसी समाज और राष्ट्र की रक्षा के लिए कठोर कर्तव्य भी अदा करना पड़ता है इस लिए वह तो पाप में डूबा हुआ है। परन्तु हम यदि बुद्धि

— ५ :—

कृषि अल्पारम्भ है

प्रत्येक व्यक्ति को हिंसा और अहिंसा का मर्म समझना चाहिए। मनुष्य को अपने जीवन के प्रत्येक कार्य की छान-बीन करनी चाहिए और देखना चाहिए कि कहाँ कितनी हिंसा हो रही है और कहाँ कितनी अहिंसा की साधना चल रही है।

साधारणतया साधको के जीवन के दो भाग होते हैं—एक गृहस्थ-जीवन और दूसरा साधु-जीवन। गृहस्थ को अपने आदर्श गृहस्थ-जीवन की ऊँचाइयाँ प्राप्त करना है, और साधु को अपने शाश्वत क्षेत्र मे जीवन के सर्वोच्च शिखर का स्पर्श करना है। ऐसी बात नही है कि साधु बनते ही उसके जीवन मे पूर्णता आ जाती है। महाव्रतो को ग्रहण करने की प्रतिज्ञा करते ही जीवन मे पूर्णता आ गई, ऐसा समझना सर्वथा भ्रमपूर्ण होगा। साधु भी अपने आप मे अपूर्ण है और उसे शाश्वत जीवन की पूर्णता प्राप्त करना है। वस्तुत पूर्णता हिमालय की सर्वोच्च चोटी है और साधु को वहाँ तक पहुँचने के लिए कठिन साधना अपेक्षित है।

यह ठीक है कि साधु, श्रावक की अपेक्षा कुछ आगे बढ गया है, कुछ ऊँचा भी चढ चुका है, मजिल की राह पर

दूर तक आगे कदम बढ़ा चुका है और दूसरी ओर गृहस्थ अभी अपने क्षेत्र म कदम बढ़ाकर चला ही है। फिर साधु का जीवन भी तो ऊँचा-नीचा है। उसकी भी अनेक श्रेणियाँ हैं।

इसी प्रकार गृहस्थ-जीवन की भी अनेक कक्षाएँ हैं। और उन कक्षाओं के भी कई खड हैं। ऐसा नहीं है कि गृहस्थ छोटा है अत वह नगण्य है और विष का टुकड़ा है। परिस्थिति वश गृहस्थ साधु की अपेक्षा नीचा होते हुए भी किसी विषय म अपेक्षाकृत ऊँचा है। जो गृहस्थ जीवन क मैदान में विवेक-पूर्वक चलता है जिसके हृदय में प्रत्येक प्राणी के लिए दया का झरना बहता है जो महा-हिंसा से दूर रहकर अपनी जीवन-यात्रा तय कर रहा है वह अपने श्रावक के कर्त्तव्यों को दृढ़ता से पूरा कर रहा है। भले ही वह धीमे कदमों से चलता हो पर अभीष्ट लक्ष्य की ओर उसकी गति नियमित और निरन्तर अबाध्य है।

हम अपनी पुरानी परम्परा की ओर भी दृष्टिपात कर लेना चाहिए। वह क्या कहती है? वह ऐसे गृहस्थ को जो अपनी जीवन नौका के साथ-साथ दूसरों की जीवन नौका को भी पार करता है कभी भी पापी और विष का टुकड़ा नहीं बतला सकती। कुछ लोगों का ऐसा विचार है कि गृहस्थ को अपनी रोटी कमानी पड़ती है वस्त्र जुटाना पड़ता है समय आने पर अपने पड़ोसी समाज और राष्ट्र की रक्षा के लिए कठोर कर्त्तव्य भी अदा करना पड़ता है इस लिए वह तो पाप में डूबा हुआ है। परन्तु हम यदि बुद्धि

की कसौटी पर गृहस्थ-जीवन को कसकर देखें तो विदित होगा कि विवेकवान् गृहस्थ यदि साधु के गुणस्थानो से नीचा है तो प्रथम चार गुणस्थानो से ऊँचा भी है । सकुचित दृष्टिकोण होने के कारण दुर्भाग्य से हमारा ध्यान निचाई की ओर तो जाता है, पर ऊँचाई की ओर कभी नही जाता ।

इसीलिए कुछ लोगो ने एक मनगढन्त सिद्धान्त निकाला है कि साधु की अपेक्षा गृहस्थ का स्तर नीचा है, इसलिए उसका सत्कार-सम्मान करना, उसकी सेवा-शुश्रूपा आदि करना, दूसरे गृहस्थ के लिए भी ससार का मार्ग है । वह हिंसा, असत्य, चोरी और कुशील का निन्दनीय मार्ग है और पतन की पगडडो है । मेरे विचार से इस हीन विचार के पीछे अज्ञान चक्कर काट रहा है और विवेक की रोशनी नही है । सुपात्र और कुपात्र की अनेक भ्रमपूर्ण धारणाएँ भी इसी अज्ञान के कुपरिणाम हैं । गृहस्थ कुपात्र है, उसे कुछ भी देना धर्म नही है, साधु को देना ही एकमात्र धर्म है । इस प्रकार की कल्पनाएँ सकुचित विचारो द्वारा ही आ गई हैं । इस प्रकार एकान्तत छोटे-बडे के आधार पर धर्म और अधर्म का निष्पक्ष निर्णय कभी नही हो सकता । आखिर साधु भी, जोकि छठे गुणस्थान में है, सातवें गुणस्थान वाले से नीचा है । इसी प्रकार सातवें गुणस्थान वाला आठवे गुणस्थान वाले से नीचा है । केवल-ज्ञानी की भूमिका से तो सभी सामान्य साधु नीचे ही हैं । हाँ, तो मैं पूछता हूँ कि तेरहवें गुणस्थान वाले अरिहन्त की भूमिका छोटी है या बडी ?

यदि बारहवें गुणस्थान से वह ऊँची है तो चौदहवें गुणस्थान से नीची भी है। तो इस प्रकार की अपेक्षाकृत ऊँचाई और निचाई भले ही रहे परन्तु उसी को ध्यान की चर्चा का आधार बनाने में कोई महत्त्व नहीं है। नीचे की भूमिकाओं को पार करके ऊँची भूमिका में प्रतिष्ठित होना ही महत्त्वपूर्ण बात है। अस्तु, हमें देखना चाहिए कि जीवन ऊपर की ओर गतिशील है या नीचे की ओर ? साधक कहीं नीचे की ओर तो नहीं खिसक रहा है ?

अब तनिक श्रावक की भूमिका पर विचार कीजिए। वह मिथ्यात्व के अगाध अंधकार को भेदकर अनन्तानुबन्धी रूप तीव्र कषाय की फौलादी दीवार को लांघ कर अव्रत के असीम सागर को पार करके और अपरिमित भोगों की लिप्साओं से ऊँचा उठकर आया है। उसने मिथ्यात्व की दुर्भेद्य ग्रन्थियों को तोड़ा है और वह अहिंसा एवं सत्य के प्रशस्त मार्ग पर यथाशक्ति प्रगति कर रहा है। यह बात दूसरी है कि वह उच्च साधक की तरह तीव्र गति से दौड़ नहीं सकता मन्द गति से टहलता हुआ ही चलता है।

सूत्रकृतांग सूत्र में अधर्म और धर्म-जीवन के सम्बन्ध में एक बड़ी ही महत्त्वपूर्ण चर्चा चली है। वहाँ स्पष्ट शब्दों में कहा गया है कि जो मिथ्यात्व और अविरति आदि में पड़े हैं वे आर्य-जीवन वाले नहीं हैं किन्तु जिन्होंने हिंसा और असत्य के बन्धन कुछ अंशों में तोड़ डाले हैं जो अहिंसा और सत्य को हितकारी समझते हैं और असत्य आदि के बन्धनों को पूरी तरह तोड़ने की उच्च भावना रखते हैं और क्रमशः

की कसौटी पर गृहस्थ-जीवन को कसकर देखें तो विदित होगा कि विवेकवान् गृहस्थ यदि साधु के गुणस्थानो से नीचा है तो प्रथम चार गुणस्थानो से ऊँचा भी है। सकुचित दृष्टिकोण होने के कारण दुर्भाग्य से हमारा ध्यान निचाई की ओर तो जाता है, पर ऊँचाई की ओर कभी नही जाता।

इसीलिए कुछ लोगो ने एक मनगढन्त सिद्धान्त निकाला है कि साधु की अपेक्षा गृहस्थ का स्तर नीचा है, इसलिए उसका सत्कार-सम्मान करना, उसकी सेवा-शुश्रूषा आदि करना, दूसरे गृहस्थ के लिए भी ससार का मार्ग है। वह हिंसा, असत्य, चोरी और कुशील का निन्दनीय मार्ग है और पतन की पगडडी है। मेरे विचार से इस हीन विचार के पीछे अज्ञान चक्कर काट रहा है और विवेक की रोशनी नही है। सुपात्र और कुपात्र की अनेक भ्रमपूर्ण धारणाएँ भी इसी अज्ञान के कुपरिणाम हैं। गृहस्थ कुपात्र है, उसे कुछ भी देना धर्म नही है, साधु को देना ही एकमात्र धर्म है। इस प्रकार की कल्पनाएँ सकुचित विचारो द्वारा ही आ गई हैं। इस प्रकार एकान्तत छोटे-बडे के आधार पर धर्म और अधर्म का निष्पक्ष निर्णय कभी नही हो सकता। आखिर साधु भी, जोकि छठे गुणस्थान मे है, सातवें गुणस्थान वाले से नीचा है। इसी प्रकार सातवें गुणस्थान वाला आठवे गुणस्थान वाले से नीचा है। केवल-ज्ञानी की भूमिका से तो सभी सामान्य साधु नीचे ही हैं। हाँ, तो मैं पूछता हूँ कि तेरहवे गुणस्थान वाले अरिहन्त की भूमिका छोटी है या बडी ?

यदि बारहवें गुणस्थान से वह ऊँची है तो चौदहवें गुणस्थान से नीची भी है। तो इस प्रकार की अपेक्षाकृत ऊँचाई और निचाई भले ही रहे परन्तु उसी का अपना की चर्चा का आधार बनाने में कोई महत्त्व नहीं है। नीचे की भूमिकाओं को पार करके ऊँची भूमिका में प्रतिष्ठित होना ही महत्त्वपूर्ण बात है। अस्तु, हमें देखना चाहिए कि जीवन ऊपर की ओर *गतिशील है या नीचे की ओर? साधक कहीं नीचे की ओर तो* नहीं खिसक रहा है?

अब श्रमिक श्रावक की भूमिका पर विचार कीजिए। वह मिथ्यात्व के प्रगाढ़ अंधकार को चखकर अनन्तानुबंधी क्रम तीव्र कषाय की फौलादी दीवार को लांघ कर, अव्रत के *असीम सागर को पार करके और अपरिमित भोगों* की लिप्साओं से ऊँचा उठकर आया है। उसने मिथ्यात्व की दुर्भेद्य ग्रन्थियों को तोड़ा है और वह अहिंसा एवं सत्य के प्रशस्त मार्ग पर यथाशक्ति प्रगति कर रहा है। यह बात दूसरी है कि वह उच्च साधक की तरह तीव्र गति से दौड़ *नहीं सकता मन्द गति से टहलता हुआ ही चलता है।*

सूत्रकृतांग सूत्र में धर्म और धर्म-जीवन के सम्बन्ध में एक बड़ी ही महत्त्वपूर्ण चर्चा चली है। वहाँ स्पष्ट शब्दों में कहा गया है कि जो मिथ्यात्व और अविरति आदि में पड़े हैं वे आर्य-जीवन वाले नहीं हैं किन्तु जिन्होंने हिंसा और *असत्य के बन्धन कुछ अंशों में तोड़ डाले हैं,* जो अहिंसा और सत्य को हितकारी समझते हैं और असत्य आदि के बन्धनों को पूरी तरह तोड़ने की उच्च भावना रखते हैं और क्रमशः

तोडते भी जाते है, वे गृहस्थ श्रावक भी आर्य है। उनका कदम ससार के शृखलाबद्ध मार्ग की ओर है या मोक्ष के मुक्ति मार्ग की ओर ? सहज विवेक-बुद्धि से विचार करने वाला तो अवश्य ही कहेगा—मोक्ष की ओर। ऐसे गृहस्थ के विषय मे ही सूत्रकृताग कहता है —

"एस ठाणे आरिए जाव सब्वदुक्खपहीणमग्गे एगतसम्मे साहू।*"

जो यह गृहस्थ-धर्म की प्रशसा मे आर्य एव एकान्त सम्यक् आदि की बात कही है, वही सर्व विरति साधु के लिए भी कही गई है।

कदाचित् आप कहेगे—कहाँ गृहस्थ और कहाँ साधु ? साधु की तरह गृहस्थ एकान्त आर्य कैसे हो सकता है ? इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए मुझे आपसे एक प्रश्न करना होगा। मै पूछता हूँ—गृहस्थ श्रावक मर कर कहाँ जाता है ?

'देवलोक मे।'

'और साधु ?'

'छठे से ग्यारहवे गुणस्थान वाला साधु भी मरने के बाद देवलोक मे जाता है।'

इस प्रकार जैसे दोनो की गति देवलोक की है, उसी प्रकार दोनो में एकान्त आर्यत्व भी है। इसका मूल कारण यही है कि श्रावक का दृष्टिकोण साधु की भाँति परम सत्य की ओर है, बधनो के पाश को तोडने की ओर ही है।

जबकि सूत्रकृताग के क्रिया स्थानक मे, जहाँ क्रियाओ का वर्णन है, गृहस्थ को साधु की भाँति ही एकान्त आर्य बताया

---

* सूत्रकृताग, द्वि० श्रुतस्कध अ० २, सू० ३९

है तब ऐसी स्थिति में यदि साधु भोजनादि क्रियाएँ करे तो पाप नहीं और यदि श्रावक वही विवेक-पूर्वक भोजनादि क्रियाएँ करे तो एकान्त पाप ही पाप दिखलाना भला किस प्रकार शास्त्र संगत हो सकता है ? वही कार्य करता हुआ श्रावक पापी और कुपात्र कैसे हो गया ? इस पर हमें निष्पक्षतापूर्वक विचार करना होगा।

पाप करना एक चीज है और पाप हो जाना दूसरी चीज है। पाप तो साधु से भी होना सम्भव है। वह भी कभी किसी प्रवृत्ति में भूल कर बैठता है। पर, यह नहीं कहा जा सकता कि साधु जान-बूझकर पाप करता है। वास्तव में वह पाप करता नहीं है अपितु हो जाता है। इसी प्रकार श्रावक भी कुछ अंशों में तटस्थ वृत्ति लेकर चलता है। परिस्थिति-वश उसे आरंभ करना भी होता है परन्तु वह प्रसन्नभाव से नहीं उदासीन भाव से मूल में हेय समझता हुआ करता है। यद्यपि कोई गृहस्थ आसक्ति भाव से आरंभादि पाप कर्म करता है पाप कर्म के लिए उत्साहित होकर कदम रखता है तो वह अनार्य है तथापि जो गृहस्थ काम तो करता है पर उसमे मिथ्यादृष्टि जैसी आसक्ति नहीं रखता वह उसमें से आसक्ति के विष को कुछ अंशों में कम करता जाता है तो वह अनार्य नहीं कहा जा सकता। यदि ऐसा न होता तो भगवान् उसे एकान्त सम्यक् एवं आर्य क्यों कहते ?

इतना समझ लेने पर अब मूल विषय पर आइए और विचार कीजिए। एक ओर भगवान् ने श्रावक के जीवन को

तोडते भी जाते है, वे गृहस्थ श्रावक भी आर्य है। उनका कदम ससार के शृखलावद्ध मार्ग की ओर है या मोक्ष के मुक्ति मार्ग की ओर ? सहज विवेक-बुद्धि से विचार करने वाला तो अवश्य ही कहेगा—मोक्ष की ओर। ऐसे गृहस्थ के विषय मे ही सूत्रकृताग कहता है —

"एस ठाणे आरिए जाव सव्वदुक्खपहीणमग्ग एगतसम्मे साहू ।*"

जो यह गृहस्थ-धर्म की प्रशसा मे आर्य एव एकान्त सम्यक् आदि की बात कही है, वही सर्व विरति साधु के लिए भी कही गई है।

कदाचित् आप कहेगे—कहाँ गृहस्थ और कहाँ साधु ? साधु की तरह गृहस्थ एकान्त आर्य कैसे हो सकता है ? इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए मुझे आपसे एक प्रश्न करना होगा। मै पूछता हूँ—गृहस्थ श्रावक मर कर कहाँ जाता है ?

'देवलोक मे।'

'और साधु ?'

'छठे से ग्यारहवे गुणस्थान वाला साधु भी मरने के बाद देवलोक मे जाता है।'

इस प्रकार जैसे दोनो की गति देवलोक की है, उसी प्रकार दोनो में एकान्त आर्यत्व भी है। इसका मूल कारण यही है कि श्रावक का दृष्टिकोण साधु की भाँति परम सत्य की ओर है, बधनो के पाश को तोडने की ओर ही है।

जबकि सूत्रकृताग के क्रिया स्थानक मे, जहाँ क्रियाओ का वर्णन है, गृहस्थ को साधु की भाँति ही एकान्त आर्य बताया

---

* सूत्रकृताग, द्वि० श्रुतस्कध अ० २, सू० ३९

विचार प्रवाह में यह भी कहा जा सकता है कि 'आनन्द' महारंभी था और कृषि कार्य उसके परिवार का परम्परागत धन्धा था। किन्तु श्रावक बनने के बाद उसने कृषि-योग्य भूमि की मर्यादा निर्धारित की और शेष का त्याग कर दिया।

इस कथन का स्पष्ट अभिप्राय यही हुआ कि खेती महारंभ तो है, परन्तु उसकी मर्यादा की जा सकती है। परन्तु क्या कहीं महारंभ की भी मर्यादा हो सकती है? अथवा महारंभ की मर्यादा करने के बाद भी क्या कोई अणुव्रती श्रावक की कोटि में गिना जा सकता है? महारंभ की मर्यादा करने पर यदि श्रावक की कोटि प्राप्त की जा सकती है तो वध-शाला की मर्यादा करने वाला भी श्रावक की कोटि में आसानी से आ सकेगा। यदि भगवान् महावीर के पास कोई व्यक्ति आकर कहता— प्रभो! मैं सौ कसाई खाने चला रहा हूँ और अभी तक श्रावक की भूमिका में नहीं आ सका हूँ। अब मैं मर्यादा करना चाहता हूँ कि सौ से अधिक वध-शालाएँ नहीं चलाऊंगा। मुझे सौ से अधिक वध-शालाओं का त्याग करा दीजिए और अपने अणुव्रती श्रावक-संघ की सदस्यता प्रदान कीजिए। तो क्या भगवान् उसे अपने अणुव्रती श्रावक-संघ के सदस्यों में परिगणित कर सकते थे? कदापि नहीं। उस अवसर पर भगवान् यही कहते—अणुव्रती श्रावक का पद प्राप्त करने से पहले तुम्हें महारंभ का पूरी तरह त्याग करना होगा। तात्पर्य यही है कि वध-शाला, जुए के अड्डे, वेश्यालय या शराब की भट्टियाँ चलाकर और उनकी

एकान्त सम्यक् आर्य-जीवन कहा है और दूसरी ओर आप खेती-वाडी का धन्धा करने वाले श्रावक को अनार्य समझते हैं। ये दोनो एक-दूसरे के परस्पर विरोधी बातें कैसे मेल खा सकती हैं ? आप दिन को दिन भी कहे और साथ ही उसे रात भी कहते जाएँ, भला यह असगत बात, बुद्धि कैसे स्वीकार कर सकती है ? श्रावक की भूमिका अल्पारभ की है, महारभ की नही। महारभ का मतलब है—घोर हिंसा और घोर पाप। महारभी की गति नरक है, यह बात शास्त्रो मे स्पष्ट रूप से कही है —

"महारभयाए, महापरिग्गहयाए, पचिदियवहेण, कुणिमाहारेण ।"

—औपपातिक सूत्र

यहाँ नरक-गति के चार कारणो मे पहला कारण महा-रभ कहा गया है। आप एक ओर तो श्रावक को अल्पारभी स्वीकार करते हैं और दूसरी तरफ खेती-वाडी करने के कारण उसे महारभी की उपाधि से भी विभूपित करते जाते हैं। भला, यह विपरीत भाव कैसे युक्ति सगत कहलाएगा।

आपको मालूम होगा, गृहस्थ-जीवन मे 'आनन्द' ने जो किया, वह एक आदर्श की चीज थी। 'आनन्द' जैसा उच्च एव आदर्श जीवन व्यतीत करने वाला श्रावक महारभ का कार्य नही कर सकता था। 'आनन्द' श्रावक-अवस्था में भी खेती करता था, इस बात को अस्वीकार नही किया जा सकता। 'आनन्द' श्रावक था, अतएव अल्पारभी था। फिर भी वह खेती करता था, इसका फलितार्थ यही है कि खेती श्रावक के लिए अनिवार्यत· वर्जनीय नही है, वह अल्पारभ में ही है।

विचार प्रवाह में यह भी कहा जा सकता है कि 'आनन्द' महारंभी था और कृषि कार्य उसके परिवार का परम्परागत धन्धा था। किन्तु श्रावक बनने के बाद उसने कृषि-योग्य भूमि की मर्यादा निर्धारित की और शेष का त्याग कर दिया।

इस कथन का स्पष्ट अभिप्राय यही हुआ कि खेती महारंभ तो है, परन्तु उसकी मर्यादा की जा सकती है। परन्तु *क्या कहीं महारंभ की भी मर्यादा हो सकती है?* अथवा महारंभ की मर्यादा करने के बाद भी क्या कोई अणुव्रती श्रावक की कोटि में गिना जा सकता है? महारंभ की मर्यादा करने पर यदि श्रावक की कोटि प्राप्त की जा सकती है तो वध-शाला की मर्यादा करने वाला भी श्रावक की कोटि में आसानी से आ सकेगा। यदि भगवान् महावीर के पास कोई व्यक्ति आकर कहता— प्रभो! मैं सौ कसाई खाने चला रहा हूँ और अभी तक श्रावक की भूमिका में नहीं आ सका हूँ। अब मैं मर्यादा करना चाहता हूँ कि सौ से अधिक वध-शालाएँ नहीं चलाऊंगा। मुझे सौ से अधिक वध-शालाओं का त्याग करा दीजिए और अपने अणुव्रती श्रावक-संघ की सदस्यता प्रदान कीजिए। तो क्या भगवान् उसे अपने अणुव्रती श्रावक-संघ के सदस्यों में परिगणित कर सकते थे? कदापि नहीं। उस अवसर पर भगवान् यही कहते—अणुव्रती श्रावक का पद प्राप्त करने से पहले तुम्हें महारंभ का पूरी तरह त्याग करना होगा। तात्पर्य यही है कि वध-शाला, जुए के अड्डे, वेश्यालय या शराब की भट्टियाँ चलाकर और उनकी

कुछ मर्यादा बाँध कर यदि कोई अणुव्रती श्रावक का स्थान प्राप्त करना चाहे तो वह प्राप्त नही कर सकता। ऐसा होना कदापि सम्भव नही है।

इस प्रकार की मर्यादाएँ तो प्राय होती ही रहती हैं। पजाब मे जब हम यात्रा करते हैं और कोई मासाहारी या शिकारी गृहस्थ मिलता है तो उसे मासाहार या शिकार को छोडने का उपदेश देते हैं। यदि वह पूरी तरह नही छोडता तो वृद्धि न करने की सलाह देते हैं। परन्तु क्या इससे उसका गुण-स्थान बदल गया ? एक हजार हरिण मारने वाला यदि पाँच-सौ हरिणो तक ही अपनी मर्यादा स्थापित कर ले, तो भले ही उसे कल्याण की धुँधली राह मिली हो, किन्तु इतने मात्र से उसको अणुव्रती श्रावक की भूमिका नही मिल सकती।

कृषि के सम्बन्ध में विचार करते समय हमे भगवान् आदिनाथ को स्मरण रखना चाहिए। पहले कल्प-वृक्षो से युगलियो का निर्वाह हो जाता था। उस समय उनके सामने अन्न का कोई सकट नही था। भले ही युगलिया तीन पल्योपम की आयु वाले हो, परन्तु अन्तिम समय मे ही उनके सन्तान होती थी, अर्थात्—पहला जोडा जब विदा होने लगता, तब उधर दूसरा जोडा उत्पन्न होता था। इसलिए उनकी सख्या मे कोई विशेष अन्तर नही होता था। परन्तु भगवान् ऋषभ-देव के समय मे कल्प-वृक्ष, जो उत्पादन के एकमात्र साधन थे, घटने लगे और जन-सख्या बढने लगी। अतएव कल्प-वृक्षो से उनकी आवश्यकताओ की पूर्ति में बाधा उपस्थित हो

गई। जहाँ उत्पादन कम है और खाने वाले अधिक हो जाते हैं वहाँ संघर्ष अनिवार्य है।

नल पर पानी भरने के लिए तू-तू मैं-मैं क्यों होती है? कारण यही है कि पानी कम आता है और उसके भी जल्दी बन्द हो जाने का डर रहता है और लोगों को आवश्यकता अधिक होती है। इसीलिए आपस में लड़ाई-झगड़े होते हैं और कभी-कभी भयंकर दुर्घटना का रूप धारण कर लेते हैं। एक चाहता है मैं पहले भर लूं और दूसरा चाहता है कि सबसे पहले मैं भरूँ। परन्तु जल से परिपूर्ण कुओं पर ऐसा नहीं होता। वहाँ जितना चाहिए उतना पानी मिल सकता है अतएव संघर्ष तथा दुर्घटना की स्थिति पैदा नहीं होती। जहाँ अभाव होता है और भरण-पोषण के साधन पर्याप्त नहीं होते वहीं संघर्ष तथा दुर्घटनाएँ हुआ करती हैं। परन्तु जहाँ उत्पादन अधिक होता है और उपभोक्ताओं की संख्या कम हो वहाँ अभावमूलक संघर्ष नहीं होता न वहाँ विषमता ही प्रवर्धित होती है और न संग्रहवृत्ति ही पनपती है।

हाँ तो हमें सोचना यह है कि भूखों मरते और संकट में पड़े हुए युगलियों को भगवान् आदिनाथ ने जो खेती करना और दूसरे धन्धे करना सिखाया यह क्या था? उत्पादन की कला सिखाकर उन्होंने हिंसा को बढ़ाया या अहिंसा की राह बतलाई? उन्होंने ऐसा करके जीवन-दान दिया या पाप-कर्म किया?

इस सम्बन्ध में मुझे आप से यही कहना है कि केवल दान देना ही अहिंसा नहीं है परन्तु यदि कोई रचनात्मक

मनोवृत्ति वाला व्यक्ति समाज के कल्याण तथा राष्ट्र की समृद्धि के लिए उत्पादन मे वृद्धि करता है, समाज और राष्ट्र की प्राथमिक आवश्यकताओ की पूर्ति में सक्रिय सहयोग देता है भूख से तडपते त्रस्त व्यक्तियो के दुख-दर्द को मिटाने के लिए उत्पादन की कला वताता है, तो वह भी एक प्रकार का दान है और वह दान भी अहिंसा का ही एक सुनिश्चित मार्ग है।*

कल्पना कीजिए—एक मनुष्य नदी मे डूव रहा है। वह तैरना नही जानता, किन्तु आप तैरना जानते हैं और झटपट उसे निकाल देते हैं। इस प्रकार आप जव तव डूवते हुओ का का उद्धार करते रहते हैं, किन्तु किसी को तैरना नही सिखलाते हैं। एक दूसरा व्यक्ति है, जो तैराक है और डूवते हुए को देखते ही निकाल लेता है, साथ ही उसे तैरने की कला भी सिखाता है। इन दोनों मे किस का कार्य अधिक महत्वपूर्ण है ?

'तैरना सिखाने वाले का।'

बिल्कुल ठीक है , क्योकि तैराक अपने सामने डूवते को तो निकाल सकता है, परन्तु यदि वह व्यक्ति फिर कही अन्यत्र डूब जाए तो कौन निकालने आएगा ? वह कहाँ-कहाँ उसके पीछे लगा रहेगा ? यदि वह तैरने की कला भी उसे सिखा देता है और स्वावलम्बी वना देता है तो वह कही भी नही डूवेगा और सदैव निर्भय रहेगा। वह स्वय तैर सकेगा, दूसरो को

* कलाद्युपायन प्राप्तसुखवृत्तिकस्य चौर्यादिव्यसनासक्तिरपि न स्यात्।
—जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति टीका, २ वक्षस्कार

तैरना सिखाएगा और यथावसर यत्र-तत्र डूबते हुए अन्य व्यक्तियों को भी बचा सकेगा। यदि कोई तैराक दूसरों को तैरना न सिखाएगा और सिर्फ डूबने वालों को पकड़-पकड़ कर निकाला ही करेगा तो डूबने वालों को बचाने की जटिल समस्या कभी हल न होगी।

आपके घर पर कोई स्वधर्मी भाई आया है। वह उस समय बड़े संकट में है क्योंकि उसके घर में अन्न के लाले पड़ रहे हैं! और वह बरोजी से ग्रस्त है! उस अवसर पर आपने उसे तात्कालिक सहायता दी अर्थात्—दो-एक बार भोजन करा दिया। पर, क्या इतना करने मात्र से उसके जीवन निर्वाह की समस्या हल हो गई? उसके सामने दूसरे ही दिन फिर वही भूख की संकटपूर्ण समस्या खड़ी होगी। इसके विपरीत किसी भाई ने उसे दुखी देख कर और दया से प्रेरित होकर किसी काम पर लगा दिया कोई व्यवसाय सिखा दिया और अपने पैरों पर खड़ा कर दिया। तो पहले की अपेक्षा दूसरा व्यक्ति अधिक उपकारक गिना जाएगा।

इसीलिये देश के नेतागण प्रायः अपने भाषणों में नव-युवकों को अपने देश के महत्वपूर्ण उद्योग सीखने की प्रेरणा देते हैं। उद्योगों का विकास करते हैं और देश की आर्थिक तथा खाद्य समस्या को हल करते हैं। इसी को कहते हैं तैरने की कला सिखलाना।

वस्तुतः भगवान् ऋषभदेव ने भी उन युगलियों को तैरने की कला सिखाई थी। उनके समय में मनुष्यों की संख्या बढ़ रही थी। इधर माँ-बाप भी जीवित रहते थे और

मनोवृत्ति वाला व्यक्ति समाज के कल्याण तथा राष्ट्र की समृद्धि के लिए उत्पादन मे वृद्धि करता है, समाज और राष्ट्र की प्राथमिक आवश्यकताओ की पूर्ति मे सक्रिय सहयोग देता है भूख से तडपते त्रस्त व्यक्तियो के दुख-दर्द को मिटाने के लिए उत्पादन की कला वताता है, तो वह भी एक प्रकार का दान है और वह दान भी अहिंसा का ही एक सुनिश्चित मार्ग है ।*

कल्पना कीजिए—एक मनुष्य नदी मे डूव रहा है। वह तैरना नही जानता, किन्तु आप तैरना जानते हैं और झटपट उसे निकाल देते हैं। इस प्रकार आप जव तव डूवते हुओ का का उद्धार करते रहते हैं, किन्तु किसी को तैरना नही सिखलाते हैं। एक दूसरा व्यक्ति है, जो तैराक है और डूवते हुए को देखते ही निकाल लेता है, साथ ही उसे तैरने की कला भी सिखाता है। इन दोनो में किस का कार्य अधिक महत्वपूर्ण है ?

'तैरना सिखाने वाले का ।'

विल्कुल ठीक है , क्योकि तैराक अपने सामने डूवते को तो निकाल सकता है, परन्तु यदि वह व्यक्ति फिर कही अन्यत्र डूब जाए तो कौन निकालने आएगा ? वह कहाँ-कहाँ उसके पीछे लगा रहेगा ? यदि वह तैरने की कला भी उसे सिखा देता है और स्वावलम्बी वना देता है तो वह कही भी नही डूवेगा और सदैव निर्भय रहेगा। वह स्वय तैर सकेगा, दूसरो को

* कलाद्युपायेन प्राप्तसुखवृत्तिकस्य चौर्यादिव्यसनासक्तिरपि न स्यात् ।
—जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति टीका, २ वक्षस्कार

संकुचित दृष्टिकोण के कारण यह आशंका की जा सकती है कि क्या भगवान् ऋषभदेव उन्हें भोजन नहीं दे सकते थे? जबकि देव और उनका अधिपति स्वयं इन्द्र उनकी आज्ञा में था। वे आज्ञा देते तो उन्हें भोजन मिलने में क्या देर लग सकती थी? परन्तु ऐसा करने से युगों की आवश्यकताएँ तब तक पूरी होती रहती जब तक भगवान् रहते। इसीलिए भगवान् ने सोचा—मेरे जाने के बाद वही द्वन्द्व समय लड़ाई-झगड़ा और मारकाट मचेगी। फिर वही समस्या खड़ी होगी। अतएव भगवान् ने उन्हें हाथों से परिश्रम करना सिखाया। उन्होंने कहा—'तुम्हारे हाथ स्वयं तुम्हारी सृष्टि का सुन्दर निर्माण कर सकते हैं और यह निर्माण तुम्हारे सुखद जीवन का आधार होगा।

इस प्रसंग पर मुझे अथर्व वेद-कालीन एक वैदिक ऋषि की बात याद आ रही है जिसने कहा था —

'अयं मे हस्तो भगवान् अयं मे भगवत्तरः'।

अर्थात्— 'यह मेरा हाथ ही भगवान् है बल्कि मेरा हाथ भगवान् से भी बढ़ कर है। वास्तव में हाथ ही महान् ऐश्वर्य का भंडार है यदि उसकी उपयोगिता को भली-भाँति समझ लिया जाए!

इस प्रकार भगवान् ने युगलियों के हाथों से ही उनकी अपनी समस्या सुलझाई। मैं तो यहाँ तक कहता हूँ—भगवान् ने केवल उन युगलियों की समस्या को ही नहीं सुलझाया बल्कि आज के मानव-जीवन की जटिल समस्या को भी अधिकांशतः हल किया है। भगवान् की इस अपरिमित अनुकम्पा के प्रति

उधर सन्तान की सख्या मे भी निरन्तर वृद्धि हो रही थी। केवल एक जोडा सन्तान उत्पन्न होने का प्राकृतिक नियम उस समय टूट गया था, फलत सन्तानें वढ चली थी। स्वय ऋपभदेव भगवान् के सौ पुत्र और वहुत-से प्रपुत्र थे। परन्तु दूसरी ओर कल्प-वृक्षो मे, अर्थात्—उत्पादन के साधन में कमी होती जा रही थी। यदि उस समय का इतिहास पढेंगे तो आपको मालूम होगा कि जिन युगलियो को पहले वैर-विरोध ने कभी छुआ तक न था, वे भी खाद्य के लिए आपस मे गाली-गलौज करने लगे, जिससे परस्पर द्वन्द्व होने लगे थे। लाखो वर्षो तक कल्प-वृक्षो का वँटवारा नही हुआ था, किन्तु अव वह भी होने लगा और वृक्षो पर अपना-अपना पहरा विठाया जाने लगा। एक जत्था दूसरे जत्थे के कल्प वृक्ष से फल लेने आता तो सघर्प हो जाता। एक वर्ग कहता—यह कल्प-वृक्ष मेरा है, मेरे सिवा इसे दूसरा कौन छू सकता है? दूसरा वर्ग कहता—यह मेरा है, अन्य कोई इसके फल नही ले सकता। उस समय सव के मुख पर यही स्वर गूँज रहा था—मै पहले खाऊँगा। यदि तू इसे ले लेगा, तो मै क्या खाऊँगा ?

इस प्रकार सग्रह-वृत्ति वढने लगी थी। उस समय यदि भगवान् ऋपभदेव सरीखे मानवता के कुशल कलाकार प्रकट न होते, तो युगलिये आपस मे लड-झगड कर ही समाप्त हो जाते। भगवान् ने उन्हे मानव-जीवन की सच्ची राह वतलाई और अपने सदुपदेश से उनके सघर्प को समाप्त करने का सफल प्रयत्न किया।

संकुचित दृष्टिकोण के कारण यह आशंका की जा सकती है कि क्या भगवान् ऋषभदेव उन्हें भोजन नहीं दे सकते थे ? जबकि देव और उनका अधिपति स्वयं इन्द्र उनकी आज्ञा में था। वे आज्ञा देते तो उन्हें भोजन मिलने में क्या देर लग सकती थी ? परन्तु ऐसा करने से भूखों की आवश्यकताएँ तब तक पूरी होती रहती जब तक भगवान् रहते। इसीलिए भगवान् ने सोचा—मेरे जाने के बाद वही द्वन्द्व संघर्ष लड़ाई-झगड़ा और मारकाट मचेगी। फिर वही समस्या खड़ी होगी। अतएव भगवान् ने उन्हें हाथों से परिश्रम करना सिखाया। उन्होंने कहा—'तुम्हारे हाथ स्वयं तुम्हारी सृष्टि का सुन्दर निर्माण कर सकते हैं और यह निर्माण तुम्हारे सुखद जीवन का आधार होगा।

इस प्रसंग पर मुझे अथर्व वेद-कालीन एक वैदिक ऋषि की बात याद आ रही है जिसने कहा था —

"अयं मे हस्तो भगवान्, अयं मे भगवत्तरः।

अर्थात्— यह मेरा हाथ ही भगवान् है बल्कि मेरा हाथ भगवान् से भी बढ़ कर है। वास्तव में हाथ ही महान् ऐश्वर्य का भण्डार है, यदि उसकी उपयोगिता को भली-भाँति समझ लिया जाए !

इस प्रकार भगवान् ने युगलियों के हाथों से ही उनकी अपनी समस्या सुलझाई। मैं तो यहाँ तक कहता हूँ—भगवान् ने केवल उन युगलियों की समस्या को ही नहीं सुलझाया बल्कि आज के मानव-जीवन की कठिन समस्या को भी अधिकांशतः हल किया है। भगवान् की इस अपरिमित अनुकम्पा के प्रति

किन शब्दो मे कृतज्ञता प्रकट की जाए ? मानव-जाति के उस महान् त्राता की प्रतिभा और दयालुता का वर्णन किन शब्दो मे किया जाए ? जब तक मनुष्य जाति इस पृथ्वी तल पर मौजूद रहेगी और सारी मानव सृष्टि मासभोजी नही हो जाएगी, भगवान् की उस असीम दया के प्रति आभारी रहेगे ।

प्राय हमारे कई साथी कहते हैं—खेती तो महारभ है ! क्योकि भगवान् स्वय गृहस्थाश्रम मे थे, इसलिए उन्होने जनता को महारभ की शिक्षा दी ।

पर, हमारा दिल इसे स्वीकार करने को तैयार नही है । गृहस्थाश्रम मे होने के कारण यदि उन्होने महारभ रूप खेती सिखाई तो वे पशुओ को मार कर खाने की शिक्षा भी दे सकते थे । फिर उन्होने क्यो नही कह दिया कि ये लाखो-करोडो पशु-पक्षी मौजूद हैं । इन्हे मारो और खा जाओ । उन्होने शिकार करके जीवन-निर्वाह कर लेने की शिक्षा क्यो नही दी ? पशु-पक्षियो को मारने और शिकार खेलने की तरह खेती को भी महारभ मानने वाले इस प्रश्न का क्या उत्तर देते है ?

पशुओ को मार कर खाना महारभ होने से नरक का कारण है और यदि खेती भी महारभ होने के साथ-साथ नरक-गति का कारण है तो भगवान् पशु-पक्षियो को मार कर खाने की, अथवा दोनो उपायो को यथा-आवश्यकता प्रयोग मे लाने की शिक्षा दे सकते थे । परन्तु भगवान् ने ऐसा नही किया । इसके पीछे कोई रहस्य होना चाहिए ? वह

नहीं है कि अहिंसा की दृष्टि से वास्तव में खेती महारंभ नहीं है अल्पारंभ है। भगवान् ने अल्पारंभ के द्वारा जनता की जटिल समस्या हल की। उन्होंने सूक्ष्म दृष्टि से देखा—यदि ऐसा प्रयोग न किया गया जनता को अल्पारंभ का पेशा न सिखाया गया तो वह महारंभ की ओर अग्रसर हो जाएगी। लोग आपस में लड़-झगड़ कर मर मिटने एक-दूसरे को मार कर खाने लगेंगे। इस प्रकार भगवान् ने महारंभ की अनिवार्य एवं व्यापक सम्भावना को खेती-बाड़ी सिखा कर समाप्त कर दिया और जनता को आर्य-कर्म की सही दिशा दिखाई। मांस खाना शिकार खेलना आदि अनार्य-कर्म भगवान् ने नहीं सिखाए, क्योंकि वे हिंसारूप महारंभ के प्रतीक थे जबकि कृषि-उद्योग अहिंसारूप अल्पारंभ का प्रतीक है।

कई साथियों का यह भी कहना है—जिस समय भगवान् युगलियों को खेती करना सिखा रहे थे उस समय दाँय करते वक्त (खलिहान में धान्य के सूखे पौधों को कुचलवाते समय) बैल अनाज खा जाते थे। अतः भगवान् ने बैलों के मुँह पर मुसीका (छींका) बाँधने की सलाह दी। उसी के कारण भगवान् को अन्तराय-कर्म का बन्धन हुआ फलतः उन्हें एक वर्ष तक आहार नहीं मिला। परन्तु यह एक कल्पना है। इसके पीछे किसी विशिष्ट एवं प्रामाणिक ग्रन्थ का आधार भी नहीं मालूम होता। क्योंकि विवेक के अभाव-वश मनुष्य की सोचने की बुद्धि प्रायः कम हो जाती है अतः इस तरह की मनगढ़न्त कहानियाँ गढ़ ली जाती है। यदि भगवान् एक वर्ष तक खाने के फेर में पड़े रहते तो एकनिष्ठ तपस्या

किन शब्दो मे कृतज्ञता प्रकट की जाए ? मानव-जाति के उस महान् त्राता की प्रतिभा और दयालुता का वर्णन किन शब्दों मे किया जाए ? जब तक मनुष्य जाति इस पृथ्वी तल पर मौजूद रहेगी और सारी मानव सृष्टि मासभोजी नही हो जाएगी, भगवान् की उस असीम दया के प्रति आभारी रहेगे।

प्राय हमारे कई साथी कहते हैं—खेती तो महारभ है! क्योकि भगवान् स्वय गृहस्थाश्रम में थे, इसलिए उन्होने जनता को महारभ की शिक्षा दी।

पर, हमारा दिल इसे स्वीकार करने को तैयार नही है। गृहस्थाश्रम मे होने के कारण यदि उन्होने महारभ रूप खेती सिखाई तो वे पशुओ को मार कर खाने की शिक्षा भी दे सकते थे। फिर उन्होने क्यो नही कह दिया कि ये लाखो-करोडो पशु-पक्षी मौजूद हैं। इन्हे मारो और खा जाओ। उन्होने शिकार करके जीवन-निर्वाह कर लेने की शिक्षा क्यो नही दी ? पशु-पक्षियो को मारने और शिकार खेलने की तरह खेती को भी महारभ मानने वाले इस प्रश्न का क्या उत्तर देते हैं ?

पशुओ को मार कर खाना महारभ होने से नरक का कारण है और यदि खेती भी महारभ होने के साथ-साथ नरक-गति का कारण है तो भगवान् पशु-पक्षियो को मार कर खाने की, अथवा दोनो उपायो को यथा-आवश्यकता प्रयोग मे लाने की शिक्षा दे सकते थे। परन्तु भगवान् ने ऐसा नही किया। इसके पीछे कोई रहस्य होना चाहिए ? वह

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥

अर्थात्— 'श्रेष्ठ पुरुष जो आचरण करता है, जनता उसी को प्रमाण मान लेती है और उसी का अनुकरण करने लगती है।

ग्रन्थों में वर्णन आता है कि जिस तीर्थंकर ने अपने जीवन-काल में अधिक से अधिक समय का जितना तप किया है उसके अनुयायी साधक भी उतनी ही सीमा तक तप कर सकते हैं। भगवान् महावीर ने सबसे ज्यादा छह मास तक सुदीर्घ तप किया था अतः उनके शिष्य भी छह महीने तक का तप कर सकते हैं उससे ज्यादा नहीं। भगवान् ऋषभदेव ने सब से बड़ा तप अर्थात्—एक वर्ष तक का किया था। यदि एक वर्ष तक के तप की मर्यादा न होती तो आज यह 'वर्षी' तप कैसे प्रचलित होता ? तनिक गहराई से विचार तो कीजिए—क्या भगवान् महावीर सात महीने की तपस्या नहीं कर सकते थे ? अवश्य कर सकते थे। पर, उन्होंने सोचा मैं जितना ही आगे बढ़ूंगा मेरे शिष्य भी मेरा आग्रह पूर्वक अनुकरण करेंगे और वे व्यर्थ ही क्लेश में पड़ जाएँगे। ऐसा सोचकर भगवान् महावीर ने छह महीने का तप किया।

इसी प्रकार भगवान् ऋषभदेव ने भी एक वर्ष का ही तप किया था। आहार के लिए भटकते नहीं रहे। यदि प्रति दिन आहार के लिए भटकते फिरते तो वह तप ही कैसे कहलाता ? वह अन्तराय था या तप था ? इस दृष्टि से मैं समझता हूँ आपके मन का समाधान हो जाना चाहिए।

कैसे कर पाते ?

आचार्य अमरचन्द्र ने पद्मानन्द महाकाव्य के रूप मे जो ऋषभ-चरित्र लिखा है, उसके एक-एक अध्याय को जब आप पढेगे तो आनन्द-विभोर हो जाएँगे। उन्होने लिखा है कि भगवान् ऋषभदेव के साथ चार हजार अन्य लोगो ने भी दीक्षा ली थी। उन्हे मालूम हुआ कि भगवान् तो कुछ बोलते नही हैं, कहाँ और कैसे भोजन करे, कुछ मालूम ही नही होता है। निस्पृह भाव से वन मे ध्यानस्थ खडे हैं। तब वे सभी घबराकर पथ-भ्रष्ट हो गए, साधना के पथ से विचलित हो गए। अस्तु, भगवान् ने देखा कि भूख न सह सकने के कारण सारे साधक गायब हो गए हैं। फलत मुझे अब आने वाले साधको के मार्ग-प्रदर्शनार्थ भोजन ग्रहण कर लेना चाहिए। यदि भगवान् चाहते तो क्या एक वर्ष के बदले दो वर्ष और तप साधना नही कर सकते थे ? पर, अन्य साधारण साधकों के हित की दृष्टि से ही वे आहार के लिए चले*, क्योकि जनता महापुरुष का पदानुसरण करती है। गीता मे भी योगेश्वर कृष्ण के कहा है —

---

* गृह्णामि यदि नाहार, पुनरद्याऽप्यभिग्रहम्,
तनोमि तपसैव स्यात्, प्रशम कमरणामिति।
तदा कच्छादय इव, निराहारतयाऽर्दिता,
भग्नव्रता भविष्यन्ति भविष्यन्तोऽपि साधव ।
एव विचिन्त्य चित्तेन, चिर प्रचलित प्रभु,
निर्दोषभिक्षामाकाङ्क्षन् पुर गजपुर ययौ ।
—पद्मानन्द महाकाव्य १३ । २००-२०२

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥

अर्थात्—"श्रेष्ठ पुरुष जो आचरण करता है, जनता उसी को प्रमाण मान लेती है और उसी का अनुकरण करने लगती है।

ग्रन्थों में वर्णन आता है कि जिस तीर्थंकर ने अपने जीवन-काल में अधिक से अधिक समय का जितना तप किया है उसके अनुयायी साधक भी उतनी ही सीमा तक तप कर सकते हैं। भगवान् महावीर ने सबसे ज्यादा छह मास तक सुदीर्घ तप किया था अतः उनके शिष्य भी छह महीने तक का तप कर सकते हैं उससे ज्यादा नहीं। भगवान् ऋषभदेव ने सब से बड़ा तप अर्थात्—एक वर्ष तक का किया था। यदि एक वर्ष तक के तप की मर्यादा न होती तो आज यह 'वर्षी' तप कैसे प्रचलित होता? तनिक गहराई से विचार तो कीजिए—क्या भगवान् महावीर सात महीने की तपस्या नहीं कर सकते थे? अवश्य कर सकते थे। पर, उन्होंने सोचा मैं जितना ही आगे बढ़ूंगा मेरे शिष्य भी मेरा आग्रह मूलक अनुकरण करेंगे और वे व्यर्थ ही क्लेश में पड़ जाएँगे। ऐसा सोचकर भगवान् महावीर ने छह महीने का तप किया।

इसी प्रकार भगवान् ऋषभदेव ने भी एक वर्ष का ही तप किया था। आहार के लिए भटकते नहीं रहे। यदि प्रति दिन आहार के लिए भटकते फिरते तो वह तप ही कैसे कहलाता? वह अन्तराय था या तप था? इस दृष्टि से मैं समझता हूँ आपके मन का समाधान हो जाना चाहिए।

इतने विस्तृत विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि भगवान् ऋषभदेव ने खेती-वाडी आदि के जो भी उद्योग-धन्धे सिख-लाए, वे सभी आर्य-कर्म थे, अनार्य-कर्म नही । उन्होंने विवाह प्रथा तो चलाई पर वेश्यावृत्ति नही । खेती सिखाई, पर शिकार नही । इसके अतिरिक्त उन्होंने जो कुछ भी सिखाया, वह सब प्रजा के हित के लिए ही था ।

साराश मे यही कथन पर्याप्त समझता हूँ कि कोई भी अहिंसावादी महापुरुष किसी भी परिस्थिति मे महारभ के कार्य की शिक्षा नही दे सकता । एक महापुरुष कहलाने वाला व्यक्ति यदि ऐसे कार्य की शिक्षा देता है तो अपने अनुयायियो के साथ वह भी नरक का राही वनेगा, क्योंकि हजारो-लाखो व्यक्ति उसके अनुकरण मे तदनुरूप काम करते रहते है ।

अस्तु, मै स्पष्ट रूप से चेतावनी देना चाहता हूँ कि व्यर्थ के कदाग्रह मे पडकर लोग भगवान् ऋषभदेव के उज्ज्वल चरित्र और महान् जीवन पर प्रकारान्तर से कीचड न उछाले । उन्हे महारभ का शिक्षक कहना, उनकी महानतम आसातना करना है । तीर्थङ्कर की आसातना करने से वढ कर दूसरा पाप-कर्म और क्या हो सकता है ?

— : ६ —

अहिंसा और कृषि

(प्रकीर्णक प्रश्न)

पिछले प्रकरणों में जिस विषय की चर्चा की जा रही थी और जिस विषय पर आपके साथ काफी विचार-विनिमय भी होता रहा है उस विषय को लेकर यहाँ और बाहर भी कुछ हलचल-सी दिखाई देती है। अतः मन में सोचने की कुछ गर्मी-सी पैदा हुई है। जब किसी भी साम्प्रदायिक विषय को लेकर पक्ष या विपक्ष में कोई चर्चा चल पड़ती है तो समझना चाहिए कुछ प्रतिक्रिया हो रही है। ऐसी चर्चा से और उत्तेजना से यदि वह सही तरीके से हो तो विचारों की जड़ता दूर होती है विचारों में गति आती है और ज्ञान की वृद्धि होती है।

कृषि के सम्बन्ध में अब तक जो चर्चा की गई है उसे अब समाप्त करना चाहते हैं। यह जो मूलतः प्रवचन या विवेचन है वह व्याख्यान के सीधे तरीके पर नहीं होगा। आज मैं उन छुटपुट प्रश्नों पर ही प्रकाश डालूँगा जो अब तक की चर्चा करने से रह गए हैं। आप लोगों के दिमाग में

भी जो प्रश्न आए हो, उन्हे आप नि सकोच भाव से व्यक्त कर सकते हैं, साक्षात् पूछ कर या पर्चे मे लिख कर आप उन्हे प्रकट कर सकते हैं । मैं उन प्रश्नो पर भी चर्चा करूँगा । जिस किसी भी विचार को लेकर आपके मन मे शका रह गई हो, या कोई प्रश्न उलझा रह गया हो, उसे नि सकोच भाव से प्रकट कर देना चाहिए । किसी सकोच-वश यदि कोई शका अथवा भ्रम आपके मन और मस्तिष्क मे रह गया, तो वह नई उलझन पैदा करेगा ।

व्याख्यान का मतलब रिकार्ड की तरह लगातार बोलते जाना नही है कि आप कहे—ठहरिए, और मैं बिना ठहरे बोलता ही चला जाऊँ । कम से कम मेरी स्थिति रिकार्ड जैसा नही है । मैं बीच-बीच मे विचार भी करूँगा, नया प्रश्न सामने आने पर उसे सुनूँगा भी और उसका समाधान करने का भी प्रयत्न करूँगा ।

मेरे सामने आज एक प्रश्न उपस्थित किया गया है । यद्यपि वह एकदम नया नही है, उसके सम्बन्ध में सामान्य रूप से चर्चा की जा चुकी है और मैं अपना दृष्टिकोण या जैन-धर्म का दृष्टिकोण बतला भी चुका हूँ, फिर भी जब प्रश्न सामने आया है तो दुबारा उस पर चर्चा करना आवश्यक हो गया है ।

भगवान् ऋषभदेव ने कृषि तथा उद्योग-धन्धो की शिक्षा दी और विकट परिस्थिति मे उलझी हुई उस वक्त की सतप्त जनता को अपने हाथो अपना जीवन-निर्माण करने की कला सिखलाई । भगवान् ने उस समय जो कुछ सिखलाया, उसके लिए हम

आज गौरव का अनुभव करते हैं। जब ऐसे प्रसंग पढ़ते हैं तो आप और हम कलंकित नहीं होते अपितु गौरवान्वित ही होते हैं। जब कभी भी भारत के विद्वानों के सामने चाहे वे राजनीतिक नेता रहे हों या सामाजिक नेता इस प्रसंग को रखा है तो उनके हृदय में मैंने जैन-धर्म के प्रति अगाध आदर और गौरव का भाव जागृत होते देखा है। विवेक और विचार की ज्योति चमकते देखी है। इस रूप में मैं कहता हूँ कि भगवान् ऋषभदेव का जीवन जैन-समाज को इतना गौरवशाली जीवन मिला है कि उसकी उद्घोषणा केवल बीस-तीस के सीमित दायरे में ही नहीं करना चाहिए, अपितु अखिल विश्व में घर-घर उस पवित्र वाणी को पहुँचाना चाहिए। जहाँ-जहाँ हमारी यह आवाज पहुँचेगी हमें नीचा नहीं ऊँचा ही दिखलाएगी। मैं तो यहाँ तक मानता हूँ कि वह आपके गौरव को चार चाँद लगा देगी और उत्थान के उच्च शिखर पर प्रतिष्ठित कर देगी।

जो लोग मानव-जीवन का निर्माण करने और सुधारने की बात सोचते हैं जब उन्हें जैन-धर्म की तरफ से यह प्रकाश मिलता है तो वे गद्गद् हो जाते हैं और मुक्त कंठ से स्वीकार करते हैं कि जैन-धर्म ने समाज की रूढ़ियों का उन्मूलन किया है, समाज को प्रगति के पथ पर प्रशस्त किया है और भारत की महान् सेवाएँ की हैं।

जैन-धर्म गाँव की तलैया नहीं है। गाँव के बाहर की तलैया में इधर-उधर से आकर गन्दा पानी जमा हो जाता है और फिर वह तलैया सड़ने लगती है। वह खुद सड़ती है

और अपनी सडाद से आस-पास के लोगो का सर्वनाश भी कर डालती है। हाँ, तो एक वह तलैया है, जिसे वस अवरुद्ध ही रहना है और निरन्तर सडते ही रहना है, कभी साफ निर्मल नही होना है। और दूसरी ओर गगा का वहता हुआ निर्मल पानी है। गगा जहाँ भी जाएगी, लोगो को सुख-सुविधा भेट करती जाएगी। उसे सडना नही है, वदवू नही फैलाना है, अपितु लोगो को सुखद जीवन ही देना है।

हाँ, तो जैन-धर्म गगा का वहता हुआ निर्मल प्रवाह है। यदि उसे चारो ओर मे समेट कर, एकागी वनाकर एक सकुचित दायरे मे रोककर रखा जाएगा तो वह अवश्य सडेगा, फलत उसमे चमक एव स्वच्छता नही रह जाएगी। वह तो गगा के समान वहता हुआ पानी होना चाहिए और इतना स्वच्छ होना चाहिए कि जितना-जितना जनता के सामने ले जाया जाए, लोग प्रसन्न हो जाएँ और उसे इज्जत की निगाह से देखे। परन्तु ऐसा करते समय हम उसकी ठोस सचाइयो को अपने सामने रखे और उन्ही के वल पर उसे और अपने आपको आदर का पात्र वनाएँ।

भगवान् ऋषभदेव जैसा आदर्श जीवन यदि किसी दूसरे समाज के सामने होता तो धूम मच जाती और वह समाज उसके लिए गौरव का अनुभव करता। किन्तु वह आपको मिला है और उनको मिला है जो दुर्भाग्य से आज भी यह कहने को उतावले है कि भगवान् ऋषभदेव ने गृहस्थ दशा मे जो कुछ भी किया वह सब ससार का काम था। उन्होने कोई सत्कर्म नही किया। वे तो यहाँ तक कहने का दुस्साहस

करते है कि उन्होंने गृहस्थ-दशा में विवाह भी किया राजा भी बने और संसार की समस्त क्रियाएँ भी कीं।

ऐसा कहने वाले घर मे रखी हुई सुन्दर-सुन्दर वस्तुओं की ओर न देखकर गंदी मोरियाँ ही तलाश करते है। यह कहना कितना भ्रमपूर्ण है कि भगवान् ने चूंकि गृहस्थवास में ही यह कहा है साधु होकर नहीं इसलिए यह पाप था और गुनाह था! उनमें जो अनगिनत बुराइयाँ उस समय मौजूद थी उनमें से यह भी एक थी। यह तो संसार का *मार्ग है जो भगवान् ने बता दिया है।*

क्या यह भाषा जैन-धर्म की भाषा है? श्वेताम्बर दिगम्बर एवं स्थानकवासियों की भाषा है या किसी पड़ौसी समाज की भाषा है? यह जो कहने का ढंग है यह आपका है या और किसी का है? क्या यह प्राचीन जैन-धर्म की सांस्कृतिक भाषा है या कुछ वर्षों से जो नई परम्परा चल पड़ी है उसके बोलने की आधुनिक भाषा है?

खोज करने पर मालूम हुआ कि यह उन नए विचारकों की भाषा है जो कहते हैं कि यह तो भगवान् का जीतकल्प *था करना ही पड़ता। अब प्रश्न सामने आता है कि उन्होंने* जो कर्तव्य किया वह किस अवस्था में किया? उसका उत्तर है कि गृहस्थावस्था में ही किया और वह भी किया क्या देना ही पड़ा! मैं 'पड़ा' शब्द को जैन-धर्म की ओर से न बोलकर उन नए विचारकों की तरफ से बोल रहा हूँ जो यह कहते है कि करना पड़ा' और यह उनका जीतकल्प था। अब वे ऐसी असमर्थ भाषा का प्रयोग करते है तो मैं भी उनकी

ओर स मात्र निर्देशन ही कर रहा हूँ ।

वे तो ऐसा कहते ही है, पर क्या आप भी ऐसा ही कहते हैं ? आप तो तीर्थङ्करो के द्वारा दिए हुए वर्षी दान की महिमा गाते हैं, उसके प्रति गौरव का अनुभव करते हैं और मानते है कि भगवान् लगातार वर्ष भर दान देते रहे और इस रूप मे उन्होने जनता की वडी भारी सेवा की है। परन्तु वे उस दान को धर्म नही कहते । उनका कहना है, गृहस्थो मे रहते जैसे विवाह किया, राजा बने, वैसे ही दान भी दिया । विवाह करना धर्म नही हैं, राजा बनना धर्म नही है, उसी प्रकार दान देना भी धर्म नही है ।

अतीत की कुछ बातो को आप प्राय सुनते रहते हैं और ठीक ही सुनते है कि भगवान् महावीर ने अपने माता-पिता की कितनी वडी सेवा की ? पर इसके लिए भी उनकी ओर से उसी भाषा का प्रयोग किया जाता है कि वे गृहस्थवास मे थे, अत सेवा करनी ही पडी । साथ ही यह भी कहते है कि माता-पिता की सेवा मे धर्म है, तो साधु बनकर भी क्यो नही की ? इससे सिद्ध है कि सेवा करना ससार का कार्य है और उससे पाप का ही वन्ध होता है ।

यदि आप भी इसी भाषा का प्रयोग करते हैं, अर्थात् तीर्थङ्करो के वर्षी दान मे और माता-पिता की सेवा मे यदि आप भी एकान्त पाप मानते हैं तो यही कहना पडेगा कि फिर उनमे और आप मे क्या अन्तर है ? बस फिर तो झगडा सिर्फ ऊपर के शब्दो पर है किन्तु अन्दर मे बात एक ही हैं । आगे वे यह भी कहते है कि यदि एक वर्ष तक दान दिया

तो बारह वर्ष तक घोर उपसर्गों और परीषहों के रूप में उसका कटुक फल भी भोगना पड़ा। इस प्रकार भगवान् महावीर को जो विभिन्न प्रकार के कष्ट सहने पड़े ये सब पाप के फल उन्होंने बतला दिए हैं। पर आपका मन्तव्य तो इससे सर्वथा भिन्न है न?

जीव रक्षा के सम्बन्ध में भी उनका यही अभिमत है कि भगवान् महावीर ने जब गोशालक को बचाया तब वे छद्मस्थ थे केवल ज्ञानी होने पर नहीं बचाया। अतः मरते जीव को बचाना भी एकान्त पाप है।

इसी प्रकार आप भी भूल से कहते हैं कि भगवान् ऋषभदेव ने कृषि आदि कलाओं का जो उपदेश दिया वह गृहस्थवास में ही दिया था केवल-ज्ञानी होकर नहीं अतएव कृषि में महारम्भ है—घोर पाप है।

उपर्युक्त विचार विषमताओं का अध्ययन करने पर यही उचित जान पड़ता है कि इस सम्बन्ध में साफ-साफ निर्णय हो जाना चाहिए। मेरे और दूसरे साथी विचारकों के मन में किसी प्रकार का सन्देह नहीं है। परन्तु आप एक भ्रान्त विचार श्रृंखला में बद्ध हैं। छद्मस्थ अवस्था में किये हुए तीर्थङ्करों के कर्तव्यों को—दान को माता पिता की सेवा को और जीव-रक्षा आदि सत्कार्यों को—आप पाप नहीं मानते हैं। परन्तु जब कृषि का प्रश्न उपस्थित होता है तो तुरन्त पाप मानने वालों की पंक्ति में खड़े हो जाते हैं। क्या यही निष्पक्ष निर्णय की स्थिति है? नहीं है, आपको सही निर्णय पर आना चाहिए।

यदि तीर्थङ्करो ने एक वर्ष तक दान दिया तो बडा भारी पुण्य किया, सत्कर्म किया, किन्तु समस्त आगम-साहित्य मे एक भी ऐसा शब्द नही है कि उन्होने किस उद्देश्य से दिया। कोई विशेष स्पष्टीकरण भी नही है कि उक्त दान के पीछे उनका क्या लक्ष्य था, कौन-सा सकल्प था और क्या भावनाएँ थी ? अस्तु, हम आगम और आगमेतर साहित्य के विश्लेपण द्वारा जाँचते हैं कि उक्त वर्षी-दान की पृष्ठ-भूमि मे भगवान् की सद्भावना ही थी, दुर्भावना नही। और जब हम कहते हैं कि भगवान् के दान के पीछे जनता के हित की भावना थी, तो यह जैन-धर्म की प्रकृति के अनुरूप हमारी ओर से किया हुआ प्रामाणिक अनुमान है, परन्तु कृषि के सम्बन्ध मे तो आगम मे स्पष्ट ही उल्लेख किया गया है।

इस सम्बन्ध मे जम्बूद्वीप-प्रज्ञप्ति का पाठ भी आपके सामने पेश कर चुका हूँ और वह पाठ है–'पयाहियाए उवदिसई।' अर्थात्—भगवान् ने प्रजा के हित के लिए, सुख-सुविधा के लिए, कृषि आदि का उपदेश दिया था। फिर भी आप कृषि को महापाप मे गिनते हैं ? ऐसी स्थिति मे शास्त्र की आवाज कुछ और है और आपकी आवाज कुछ दूसरे ही ढग की है।

अभिप्राय यही है कि तीर्थंकरदत्त दान के सम्बन्ध मे आगम मे कोई ऐसा स्पष्टीकरण नही है कि—वह किस लिए दिया गया ? फिर भी उसे आप सत्कर्म या धर्म समझते है। किन्तु कृषि के सम्बन्ध मे, जबकि प्रामाणिक स्पष्टीकरण

मौजूद है तब भी आप उसे स्वीकार करने को तैयार नहीं होते। यदि आपका निर्णय यही है कि तीर्थंकरों ने छद्मस्थ दशा में जो कुछ भी किया है वह सब पाप था अधर्म था और प्रजा के हित के लिए की हुई उनकी प्रवृत्ति भी पाप-मय थी तब तो आपको निश्चित रूप से दूसरी कतार में खड़ा हो जाना चाहिए। वामपक्ष वालों के लिए इसके सिवाय और कोई मार्ग नहीं है।

परन्तु आपका यह निर्णय निष्पक्ष निर्णय नहीं कहलाएगा। ऐसा मनमाना निर्णय कर लेना तीर्थंकर भगवान् की पवित्र प्रेरणा पर प्रतिक्रियावादी प्रतिबन्ध लगाना है और उनकी विशुद्ध आत्मा को अपमानित करना है। विचार विषमता और संकीर्णताओं से अपने मन एवं मस्तिष्क को शुद्ध बनाकर आपको सात्विक भाव से यह जान लेना चाहिए कि तीर्थंकर की आत्मा अनेक जन्मों के संचित पवित्र संस्कारों को लेकर ही अवतीर्ण होती है अस्तु उनके सम्बन्ध में यह समझ लेना कि जनता के अहित के लिए वे प्रवृत्ति करते हैं या जगत् को पाप सिखाने के लिए कोई कुत्सित कार्य करते हैं भीषण भ्रम है। यह तीर्थङ्कर का अवर्णवाद है।

गृहस्थावस्था में उनके राजा बनने को एकान्त पाप बतलाना भी गलत है। विवेक बुद्धि से सोचना यह चाहिए कि यदि वे राजा बने तो किस उद्देश्य से बने? दुनिया का आनन्द लूटने के लिए, भोग-वासना में लिप्त होने के लिए, और सिंहासन के राजसी सुख का आस्वादन करने के लिए

राजा वने ? अथवा प्रजा मे फैली हुई अव्यवस्था को दूर करने के लिए, नीति-मर्यादा को कायम करने के लिए, और प्रजा मे फैली हुई कुरीतियो का उन्मूलन करने के लिए ही राजा वने ?*

आचार्य हेमचन्द्र ने कहा है कि—जैसे वडी मछली छोटी मछलियो को निगल जाती है, उसी प्रकार कभी वडे आदमी भी अपनी स्वार्थ-क्षुधा में छोटो को निगल जाते है। प्रश्न आता है, क्या तीर्थङ्कर भी मनुष्य समाज की इस विषमता को दूर करने के लिए राजा नही वने ? राज-सिंहासन को स्वीकार करने मे जो धार्मिक दृष्टिकोण है, उसे तो आप ध्यान में नही लाते और अपनी मनो-भावनाओ के अनुरूप यह कल्पना कर वैठते हैं कि वे राजा वने तो केवल भोग-विलास की परिपूर्ति लिए। उन लोकोत्तर महापुरुषो का राजदड ग्रहण करना, वर्त्तमान युग के राजा महाराजाओ से

---

* शिष्टानुग्रहाय, दुष्टनिग्रहाय, धर्मस्थितिसग्रहाय च, ते च राज्यस्थितिश्रिया सम्यक प्रवर्तमाना क्रमेण परेपा महापुरुषमार्गोपदेशकतया चौर्यादिव्यसननिवर्तनतो नारकातिर्येग्गनिवारकतया ऐहिकामुष्मिकसुखसाधकतया च प्रशस्ता एवेति। महापुरुषप्रवृत्तिरपि सर्वत्र परार्थत्वव्याप्ता बहुगुणाल्प दोपकार्यकारणविचारणापूर्विकैवेति। स्थानाङ्गपञ्चमाध्ययनेऽपि—'धम्म च ण चरमाणस्स पच निस्सा ठाणा पण्णत्ता, तजहा—छक्काया १ गणे २ राया ३ गाहावई ४ सरीर ५ मित्याद्यालापकवृत्तो राज्ञो निश्रामाश्रित्य राजा नरपतिस्तस्य धर्मसहायकत्व दुष्टेभ्य साधुरक्षणादित्युक्तमस्तीति परम-करुणापरीतचेतस परमधर्मप्रवर्तकस्य ज्ञानत्रितययुक्तस्य भगवतो राजधर्मप्रवर्तकत्वे न कापि अनौचिती चेतसि चिन्तनीया। जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति टीका, दूसरा वक्षस्कार।

सर्वथा भिन्न था अर्थात्—वे प्रजा के शोषक नहीं पोषक थे ! शासक नहीं सेवक थे !! उन्होंने सिंहासन को स्वीकार करके प्रजा मे होने वाले अत्याचार और अन्याय का प्रतिकार किया बड़ों के द्वारा होने वाले छोटे आदमियों के अनैतिक शोषण का अन्त किया और जनता की अनेक प्रकार से सेवाएँ कीं। इन सब बातों पर क्यो धूल फेंकने का दुस्साहस करते है ?

इस प्रकार अपने दृष्टिकोण को साफ करना होगा। भगवान् ने जब दान दिया तब उनमें तीन ज्ञान थे चौथा ज्ञान नहीं था। और जब कृषि का उपदेश दिया तब भी तीन ही ज्ञान थे। इन पवित्र ज्ञानों के होते हुए वे कृषि या दान के रूप में क्रोध मान माया या लोभ के वश प्रवृत्ति नहीं कर सकते थे। उन्होने इस ओर जो प्रवृत्ति की है उसमें उनकी अपनी निजी वासना-पूर्ति का कोई लक्ष्य नहीं था केवल प्रजा के कल्याण की ही पुण्यमयी भावना थी। ऐसी स्थिति में जो लोग उनके दान को एकान्त पाप और कृषि को महारंभ कहते है उन्हें गहरा विचार करना होगा।

इस सम्बन्ध में एक बात और भी ध्यान में रखनी होगी। जो कार्य महारंभ या महापाप का होता है, उसका उपदेश करने वाला भी महारंभी और महापापी होता है। एक मांस खाने वाला है और दूसरा मांस खाने का उपदेश देने वाला है। तो खाने वाला ही नहीं उपदेश देने वाला भी महापापी है। अत: जब खेती करने वाला महापापी है तो उसका उपदेश देने वाला भी महापापी क्यों नहीं होगा ? बल्कि स्वयं मांस खाने की तो कोई सीमा हो सकती है पर उपदेश की

कोई सीमा नही होती । उपदेशक के उपदेश मे न जाने कितने लोग, कहाँ-कहाँ और कब तक माग लाएंगे ! अतएव पापोपदेश देने वाला, पाप करने वाले से भी बडा पापी होता है। क्या आप कभी ऐसा मानने के लिए भी तैयार है कि भगवान् 'महारभी' और 'महापापी' थे ? यदि ऐसा मानने को तैयार नही हैं तो निर्णय होने मे तनिक भी देर नही लगेगी । यदि आपका अन्त करण स्वच्छ है और आपकी आत्मा पक्षपात से ग्रस्त नही है तो आपको यह समझने मे देर नही लगनी चाहिए कि—"शुद्ध जनहित के लिए भगवान् ने जो प्रवृत्ति की है, उसमे महापाप या एकान्त पाप कदापि नही हो सकता ।"

हमने जितना शास्त्र-अध्यन किया है, वहाँ हमे सर्वत्र भगवान् ऋषभदेव की महान् करुणा, दया, प्रेम ही मिला है। जो युगलिये आपस मे लड रहे थे, अनार्यों के रूप में परिवर्तित हो रहे थे और पशुओ को मार कर खाने की ओर अग्रसर हो रहे थे, उन्हे भगवान् ने कृषि की शिक्षा दी और इस प्रकार उन्हे महारभ से अल्पारभ की ओर लाए ।

अकर्म-भूमि मे सभी लोग युगलिया थे । उस समय कोई अनार्य नही था । फिर आर्य और अनार्य का यह भेद क्यो हो गया ? कुछ देश अनार्य क्यो हो गए ?

कोई कह सकता है, आर्य-भूमि मे रहने के कारण लोग आर्य हो गए और अनार्य-भूमि मे रहने वाले अनार्य रह गए। परन्तु यह समाधान युक्ति-सगत नही है । जो लोग भूमि मे भी आर्यत्व और अनार्यत्व की कल्पना करते हैं, मै समझता

है कि उन्हें कुछ भी ज्ञान नहीं है। वास्तविक बात तो यह है कि—जिनको जीवन के अच्छे साधन मिल गए जिनके पास कृषि का सन्देश पहुँच गया भौर जिन्होंने उसे ग्रहण कर लिया वे भार्य रहे। भौर जहाँ यह सन्देश नहीं पहुँचा वहाँ भूख से पीड़ित लोगों ने पशु मारकर खाना भारम्भ कर दिया मांस खाकर भपने पेट का गड्ढा भरने लगे फलतः वे भनार्य होते गए।

भगवान् ने कृषि की शिक्षा भार्य बनाने के लिए दी या भनार्य बनाने के लिए ? यदि भनार्य बनाने के लिए ही खेती सिखाई तो ऐसी क्या मजबूरी थी कि दुनिया को भनार्य बनाया जाए ? यह कौन सा जीतकल्प है या तीर्थङ्कर कल्प है कि उस भूखी जनता को महारम्भ के कुमार्ग पर भौर महापाप के गाढ़ भंधकार में धकेल दिया जाए !

नहीं भनन्त करुणा के सागर तीर्थङ्कर ऐसा तो कदापि नहीं कर सकते थे। उन्होंने तो पथ भ्रष्ट जनता को ठीक राह बतलाई है। वस्तुतः वे तो मांसाहार के कुमार्ग की भोर जाती हुई जनता को शाकाहार की भोर ही लाए। इस सिद्धान्त को ठीक तरह न समझने के कारण ही हमारी दृष्टि विपरीत दिशा की तरफ जाती है।

भाज हमारे सामने दूसरा प्रश्न यह भी है कि साधुओं को इस सम्बन्ध में कहने या विवेचना करने की क्या भावश्य कता है ? भाइए, इस प्रश्न पर भी थोड़ा-सा विचार कर लें।

पुत्र को माता-पिता की सेवा का उपदेश देना दान का

व्याख्यान देने की क्या आवश्यकता है ? मै व्याख्यान नही दूँगा तो आप घर से यहाँ तक आएँगे भी नही, फलत आने-जाने का आरम्भ भी नही होगा। जब मै व्याख्यान देता हूँ तभी तो आप आते हैं। फिर तो यह आरम्भ मेरे व्याख्यान से ही सम्बन्धित हुआ न ? जब आप साधु-दर्शन को जाते हैं और प्रवचन सुनते हैं तो इस विषय मे क्या मानते हैं ? साधु के पास आने मे हिंसा हुई है, किन्तु जो प्रवचन सुना है, उपदेश सुना है, उससे तो धर्म हुआ। उस धर्म का भी कोई अर्थ है या नही ?

भगवान् महावीर के दर्शन करने के लिए राजा श्रेणिक कितने समारोह के साथ गया था ? ऐसा करने मे यदि एक अश मे पाप भी हुआ, तो दूसरी ओर भगवान् के दर्शन करने के फलस्वरूप अपूर्व धर्म भी हुआ, यह भी तो बताया गया है। इसे क्यो भूल जाते हैं ?

मैंने आप से शास्त्र स्वध्याय के लिए कहा और आप स्वाध्याय करने लगे। इस सत्प्रवृत्ति मे भी मन, वचन और काय की चचलता एव चपलता होती ही है न ? और जहाँ चचलता है, वहाँ आस्रव है, उस अश मे सवर नही है। यदि योगो का सर्वथा निरोध हो जाए तो चौदहवे गुणस्थान की भूमिका प्राप्त हो जाए, और तब तो मोक्ष प्राप्ति मे देर न लगे। ऐसी स्थिति मे विचार करना ही होगा कि शास्त्र स्वाध्याय करते समय जो योग है, वह शुभ योग है या अशुभ योग ? इसी तरह भगवान् ऋषभदेव ने जो कुछ भी सिखाया, वह शुभ योग मे सिखाया या अशुभ योग मे ? यदि वे अशुभ योग

में सिखाते तो क्रोध मान माया और लोभ की दुष्प्रवृत्ति होनी चाहिए थी। पर शास्त्र तो यह बताता है कि उन्होंने प्रजा के हित के लिए ही शिक्षा दी थी। ऐसी स्थिति में शुभ योग आ गया।

जब आप शास्त्र-श्रवण करेंगे या भगवान् की स्तुति करेंगे तब भी आस्रव का होना अनिवार्य है परन्तु वह होगा शुभ अंश में ही। साथ ही यह भी ध्यान में रखना होगा कि ऐसा करते समय धर्म का अंश कितना है?

आशय यही है कि जब कोई भी क्रिया की जाए, या किसी भी क्रिया के सम्बन्ध में कहा जाए, तो उसके दोनों ही पहलुओं पर ध्यान देना चाहिए।

साधु जब कृषि के सम्बन्ध में कुछ कहते हैं तो वे कृषि का समर्थन या अनुमोदन नहीं करते हैं। वे तो केवल वस्तु स्वरूप का ही विवेचन करते हैं। वे यही बतलाते हैं कि खेती अल्पारम्भ है महारम्भ नहीं है। जानवरों को मार कर जीवन-निर्वाह करना महारंभ है और खेती करना उसकी अपेक्षा अल्पारम्भ है। श्रावक के लिए महारम्भ त्याज्य है और अल्पारम्भ का त्याग उसकी भूमिका मे सर्वथा अनिवार्य नहीं है। सभी जगह साधुओं की भाषा का ऐसा ही अर्थ होता है। हम व्याख्यान श्रवण का तो समर्थन करते हैं किन्तु व्यर्थ आने-जाने का समर्थन नहीं करते।

एक मनुष्य तीर्थंकर के दर्शन के लिए जा रहा है और दूसरा वेश्या के यहाँ जा रहा है तो कहाँ शुभ योग है और कहाँ अशुभ योग? जाने की दृष्टि से तो दोनों ही जा

या कर्त्तव्य का उपदेश देना, पति-पत्नी और अध्यापक के कर्त्तव्य का निर्देशन करना, यदि ये सब सासारिक कार्य हैं तो फिर इन सब बातो से भी साधु को क्या मतलब है ? फिर तो आप साधु को ही दान दिया करो, भले ही आपके माता-पिता भूखे मरते रहे और सडते रहे । साधु को ससार से क्या लेना है और क्या देना है ? जब ससार से कोई सम्बन्ध ही नही है, तो साधु इस रूप मे क्यो उपदेश देता है ? माता, पिता, भाई-बहन आदि की सेवा और स्वधर्मी की वत्सलता के सम्बन्ध मे क्यो कहता है ? परन्तु बात ऐसी नही है। साधु की एक मर्यादा है और वह सुनिश्चित है । वह विवेक को शिक्षा देता है कि अमुक कार्य क्या है, कैसा है ? कर्त्तव्य है या अकर्त्तव्य है ? साधु किसी व्यावहारिक काम को करने की साक्षात् प्रेरणा नही देता, परन्तु उस काम को करने का सुफल एव कुफल बताता है, क्योकि यह उसका कर्त्तव्य है।

साधु के सामने प्रश्न रखा जा सकता है कि मास खाना नैतिक है, अथवा फलाहार से गुजारा करना नैतिक है ? दोनो मे से किस मे ज्यादा, और किस मे कम पाप है ? यह प्रश्न उपस्थित होने पर, क्या साधु को चुप्पी साध कर बैठ रहना चाहिए ? कोई पूछता है—छना पानी पीने मे ज्यादा पाप है, या अनछना पानी पीने मे ? आप ही बताइए, साधु उक्त प्रश्न का क्या उत्तर दे ? वह मौन रहे क्या ? नही, ऐसा नही हो सकता । जिज्ञासु का स्पष्टत सही समाधान करना ही होगा ।

हाँ, तो विवेक की व्यापकता को और जैन-धर्म की

वास्तविकता को तो बताना ही पड़ेगा कि अमुक कार्य में ज्यादा पाप है और अमुक में कम। पाप में जितनी-जितनी कमी आएगी उतना-उतना ही धर्म का अंश बढ़ता जाएगा। प्रश्न होने पर साधु को यह भी बतलाना होगा कि मांसाहार में ज्यादा पाप है और फलाहार में कम। यह जो पाप की न्यूनता है इस अंश में वह क्या है—पाप या धर्म।

कल्पना कीजिए—किसी आदमी को १०४ डिग्री ज्वर चढ़ा हुआ था। औषधि से या स्वभावतः दूसरे दिन वह १०० डिग्री रह गया। किसी ने उससे पूछा—क्या हाल है? तब वह कहता है कि आराम है। आप कहेंगे जब सौ डिग्री ताप है तो आराम कहाँ है? हाँ जितना ज्वर है उतना तो है ही उससे इन्कार नहीं है परन्तु जितनी कमी हुई है उतना तो आराम ही हुआ या नहीं?

दुर्भाग्य से जो पाप है उसकी तरफ तो हमारी दृष्टि जाती है किन्तु जितना पाप कम होता जाता है उतने ही अंशों में पाप से बचाव भी होता है इस कमी की ओर हमारी दृष्टि ही नहीं है! एक आदमी मांसाहार से फलाहार पर आ जाता है तो उसमें भी पाप है पर वह अल्प है। सिद्धान्ततः मांसाहार नरक का द्वार है और फलाहार नरक का द्वार नहीं है। जब वह नरक का द्वार नहीं है तो उसमें उतने ही अंशों में पवित्रता आ जाती है जैसे—१०४ से १०० डिग्री ज्वर रहने पर कथित रोगी को आराम होता है। इस तथ्य को स्वीकार करने में हिचक क्यों होती है?

यदि साधु को दुनिया से कोई मतलब नहीं तो मुझे

व्याख्यान देने की क्या आवश्यकता है ? मै व्याख्यान नही दूंगा तो आप घर से यहाँ तक आएँगे भी नही, फलत आने-जाने का आरम्भ भी नही होगा। जब मैं व्याख्यान देता हूँ तभी तो आप आते हैं। फिर तो यह आरम्भ मेरे व्याख्यान से ही सम्बन्धित हुआ न ? जब आप साधु-दर्शन को जाते हैं और प्रवचन सुनते हैं तो इस विषय मे क्या मानते है ? साधु के पास आने मे हिंसा हुई है, किन्तु जो प्रवचन सुना है, उपदेश सुना है, उससे तो धर्म हुआ। उस धर्म का भी कोई अर्थ है या नही ?

भगवान् महावीर के दर्शन करने के लिए राजा श्रेणिक कितने समारोह के साथ गया था ? ऐसा करने मे यदि एक अश मे पाप भी हुआ, तो दूसरी ओर भगवान् के दर्शन करने के फलस्वरूप अपूर्व धर्म भी हुआ, यह भी तो बताया गया है। इसे क्यो भूल जाते हैं ?

मैंने आप से शास्त्र स्वध्याय के लिए कहा और आप स्वाध्याय करने लगे। इस सत्प्रवृत्ति मे भी मन, वचन और काय की चचलना एव चपलता होती ही है न ? और जहाँ चचलता है, वहाँ आस्रव है, उस अश मे सवर नही है। यदि योगो का सर्वथा निरोध हो जाए तो चौदहवे गुणस्थान की भूमिका प्राप्त हो जाए, और तब तो मोक्षप्राप्ति मे देर न लगे। ऐसी स्थिति मे विचार करना ही होगा कि शास्त्र स्वाध्याय करते समय जो योग है, वह शुभ योग है या अशुभ योग ? इसी तरह भगवान् ऋषभदेव ने जो कुछ भी सिखाया, वह शुभ योग मे सिखाया या अशुभ योग मे ? यदि वे अशुभ योग

में सिखाते तो क्रोध मान माया और लोभ की दुष्प्रवृत्ति होनी चाहिए थी। पर शास्त्र तो यह बताता है कि उन्होंने प्रजा के हित के लिए ही शिक्षा दी थी। ऐसी स्थिति में शुभ योग था गया।

जब आप शास्त्र-श्रवण करेंगे या भगवान् की स्तुति करेंगे तब भी आस्रव का होना अनिवार्य है परन्तु वह होगा शुभ अंश में ही। साथ ही यह भी ध्यान में रखना होगा कि ऐसा करते समय बन्ध का अंश कितना है?

आशय यही है कि जब कोई भी क्रिया की जाए, या किसी भी क्रिया के सम्बन्ध में कहा जाए, तो उसके दोनों ही पहलुओं पर ध्यान देना चाहिए।

साधु जब कृषि के सम्बन्ध में कुछ कहते हैं तो वे कृषि का समर्थन या अनुमोदन नहीं करते हैं। वे तो केवल वस्तु-स्वरूप का ही विवेचन करते हैं। वे यही बतलाते हैं कि खेती अल्पारम्भ है महारम्भ नहीं है। जानवरों को मार कर जीवन-निर्वाह करना महारंभ है और खेती करना उसकी अपेक्षा अल्पारम्भ है। श्रावक के लिए महारम्भ त्याज्य है और अल्पारम्भ का त्याग उसकी भूमिका में सर्वथा अनिवार्य नहीं है। सभी जगह साधुओं की भाषा का ऐसा ही अर्थ होता है। हम व्याख्यान श्रवण का तो समर्थन करते हैं, किन्तु सवर्थ आने-जाने का समर्थन नहीं करते।

एक मनुष्य तीर्थंकर के दर्शन के लिए जा रहा है और दूसरा वेश्या के यहाँ जा रहा है तो कहाँ शुभ योग है और कहाँ अशुभ योग? जाने की दृष्टि से तो दोनों ही जा

रहे हैं, किन्तु एक के जाने मे शुभ योग है और दूसरे के जाने मे अशुभ योग है। हा, तो जाना-आना मुख्य नही है, शुभ योग या अशुभ योग ही मुख्य हैं। अत इस प्रकार प्रवृत्ति करना, या न करना मुख्य नही है, किन्तु उस प्रवृत्ति के पीछे यदि शुभ योग है तो वह शुभास्रव है, पुण्य है, और प्रवृत्ति न करने पर भी यदि योग अशुभ है तो वहाँ अशुभास्रव है, पाप-बध है।

देहातो मे अग्रवाल, ओसवाल, पोरवाड, जाट आदि अनेक जातियाँ जैन हैं। उनमे बहुत से व्रतधारी श्रावक भी हैं, और वे खेती का व्यवसाय करते हैं। अब आप उनको श्रावक कहना चाहेगे या नही ? हमारे सामने आज मुख्य प्रश्न एक ही है, और वह यह कि—क्या श्रावकत्व और खेती का परस्पर ऐसा सम्बन्ध है कि जहाँ खेती है, वहाँ श्रावकत्व नही रह सकता ? और जहाँ श्रावकत्व है, वहाँ खेती नही रह सकती ? यदि ऐसा ही है तो एक बात अवश्य आएगी कि उन जैन परम्पराओ के अनुयायियो को स्पष्ट रूप से कह देना होगा कि आपको इस भूमिका मे नही रहना चाहिए, क्योकि खेती करना महारभ है। और जहाँ महारम्भ विद्यमान है वहाँ श्रावकत्व स्थिर नही रह सकता। अस्तु, मैं उन साथियो से साफ-साफ कहूँगा कि वे दुनिया को धोखे मे क्यो रख रहे हैं ?

प्रतिवाद में वे यह कह सकते हैं कि हम तो मर्यादा करा देते हैं। किन्तु उपासकदशाँग सूत्र मे स्पष्ट कहा गया है कि—'पन्द्रह कर्मादानो मे मर्यादा नही है —

'पन्नरसकम्मादाणाइं जाणियव्वाइं न समायरियव्वाइं ।'

अर्थात्—'पन्द्रह कर्मादान जानने योग्य अवश्य है किन्तु आचरण करने योग्य नहीं हैं ।

वस्तुतः महारंभ एवं कर्मादान में मर्यादा नहीं होती। और यदि खेती भी कर्मादान में है महारम्भ में है तो उसकी भी मर्यादा नहीं हो सकती। भगवती सूत्र के अनुसार पन्द्रह कर्मादानों का त्याग तीन करण से किया जाता है*। उनमें आंशिक त्याग या मर्यादा की गुंजाइश ही कहाँ है ? अतएव जहाँ कर्मादान होगा वहाँ श्रावकत्व स्थिर नहीं रह सकता। तब आप उन हजारों खेती करने वाले भाइयों से कह दीजिए कि आप श्रावक नहीं हैं।

इस प्रकार खेती-बाड़ी को महारम्भ भी कहना कर्मादान भी समझना और फिर उसके साथ अणुव्रती श्रावकत्व भी कायम रखना कदापि सम्भव नहीं है। यदि कर्मादान की कोई सम्भव मर्यादा हो सकती है तब तो कसाईखाने चलाने की भी मर्यादा निर्धारित की जा सकती है ? एक कसाई किसी जैन-साधु के पास आता है और कहता है कि मै सौ कसाईखाने चला रहा हूँ। उन्हें ही चलाऊँगा मर्यादा निर्धारित करा दीजिए। तो क्या वह कसाई अणुव्रतधारी श्रावक की कोटि में आ सकेगा ? जिस प्रकार कसाईखाने की मर्यादा करने पर भी श्रावकत्व नहीं आ सकता क्योंकि कसाईखाना चलाना महारंभ है, उसी प्रकार खेती करना भी यदि महारम्भ है, कर्मादान है, तो उसकी मर्यादा करने पर भी श्रावकत्व नहीं माना

* देखिए भगवती सूत्र ८, ५

चाहिए। जबकि खेती करने वाले श्रावक होते हैं तो फिर खेती को कर्मादान और महारंभ किस प्रकार कहा जा सकता है ?

इस कथन से आप यह भी भली-भांति समझ सकते हैं कि जैन-साधु कृषि के सम्बन्ध में क्या कहते हैं ? वे कृषि का समर्थन नहीं करते, किन्तु इस बात का समर्थन करते हैं कि खेती की गिनती कर्मादानों में नहीं है, अतः जो खेती करता है वह श्रावक नहीं रह सकता, यह धारणा बिल्कुल गलत और निराधार है।

'फोडीकम्मे' नामक कर्मादान का आशय क्या है ? यह पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है। इस विषय में एक भाई ने प्रश्न किया है—कोई मनुष्य स्वयं खेती करता है और अपने खेत में कुँआ भी खुदवाता है। कुँआ खुदवाने के लिए उसे सुरंग लगवानी पड़ती है। तो यह सुरंग लगवाना क्या 'फोडीकम्मे' है ? इसका उत्तर यह है कि—नहीं ! उसका सुरंग लगवाना 'फोडीकम्मे' नहीं है। वह खेती की सिंचाई के लिए या जनता के कल्याणार्थ पानी उपलब्ध करने के लिए कुँआ बनवाता है। उसने व्यावसायिक हित के लिए उसका उपयोग नहीं किया है। और कर्मादान का मतलब है—व्यवसाय करना। जो सुरंग लगाने का धन्धा करता है, वह 'फोडीकम्मे' नामक कर्मादान का सेवन करता है। और जो अपनी आवश्यकता-पूर्ति के लिए कार्य करता है वह कर्मादान का सेवन नहीं करता। बहिनें भोजन बनाती हैं और जली हुई लकड़ी के कोयले बनाकर रख लेती हैं तो क्या उसे 'इंगालकम्मे' कर्मा-

दान कह सकेंगे ? नहीं वह 'इंगालकम्मे' नहीं है। कोयला बना-बनाकर बेचना और कारखाने बनाने का धन्धा करना इगाल कम्मे' अवश्य है।

इसी प्रकार सुरगें लगा-लगाकर विस्फोट करने का व्या पार करना फोडीकम्मे कर्मादान है। अपनी या जनता की आवश्यकता पूर्ति के लिए कुआं खुदवाना कर्मादान नहीं है।

एक बार प्रश्न किया गया था कि मणिहार मणियार ने एक बावड़ी बनवाई तो वह मेंढक बना। सामान्यत इसका आशय तो यही निकला कि जो बावड़ी बनवाएगा वह मेंढक होगा ?

कहीं-कहीं दूर-दूर तक पानी नहीं मिलता और लोग पानी के लिए बड़ी तकलीफ पाते हैं। अत मरुधर प्रदेश मे प्राय ऐसा देखा गया है कि लोग अपनी गाढी कमाई का पैसा कुंआ वगैरह खुदवा कर जनता की सुख-सुविधा में लगाते हैं। उन्हें उससे कोई स्वार्थ नहीं साधना होता है। यह भी वे नही जानते कि जहां जलाशय बनवाया है वहां वे जीवन में कभी आएँगे भी या नहीं ? तो आप उन सबको यह सूचना दे दीजिए कि तुम लोगों ने जो जलाशय बनवाए हैं उसके प्रतिफल में तुम सब अपने-अपने जलाशयों में मेंढक बनोगे !

बिहार की तरफ मैंने देखा कि वहां कुंओं की बहुत कमी है। गांव के बाहर तलैया होती है। सब लोग उसी का पानी पीते हैं। उसमें मलेरिया के असंख्य कीटाणु पैदा हो जाते हैं पानी सड़ जाता है और लोग वही सड़ा पानी पीकर

रोग के शिकार होते है। वहाँ के गाँवो की यह दुर्दशा देखकर कुछ लोगो ने सोचा—तलैया का सडा पानी पीना, एक प्रकार से जहर ही पीना है। यह जहर समूचे गाँव के स्वास्थ्य को बुरी तरह बर्बाद कर रहा है। ऐसा सोचकर उन्होने एक कुँआ बना लिया और तब मलेरिया का जोर कम हो सका। तो क्या, वे कुँआ बनवाने वाले अगले जन्म मे मेढक होगे ?

यदि ऐसा नही है तो नन्दन मणियार क्यो मेढक हुआ ? वास्तव मे बात यह है कि नन्दन बावडी बनवाने से मेढक नही हुआ। यदि ऐसा होता तो वह किसी दूसरी बावडी मे मेढक के रूप में उत्पन्न हो सकता था। सिद्धान्त तो यह है कि उसे अपनी बावडी के प्रति ममता उत्पन्न हो गई थी और मृत्यु की अन्तिम घडी तक उसमे उसकी आसक्ति बनी रही थी। जब बावडी मे उसकी ममता और आसक्ति थी तो उसे उसमे जाना ही पडा। उसका धर्म उसे बावडी मे मेढक बनाने के लिए नही ले गया, बल्कि उसकी आसक्ति और ममता ने ही उसे बावडी मे घसीटा और मेंढक बनाया।

शास्त्रकार, इसीलिए तो कहते है कि जो भी सत्कर्म करना हो, उसे यथा शीघ्र कर लो, किन्तु उसके फल मे आसक्ति मत रखो। यह बावडी मेरी है, इसका पानी मेरे अतिरिक्त दूसरे क्यो पीएँ ? इस पर पैर रखने का भी दूसरो को क्या अधिकार है ? हम जिसे चाहे उसे ही पानी लेने देगे और जिसे नही चाहे उसे नहीं लेने देंगे ! इस प्रकार की क्षुद्र ममता ही मेंढक बनाने वाली है। ज्ञातासूत्र या कोई दूसरा सूत्र उठाकर देखते हैं तो उसमे एक ही बात पाते हैं

कि— 'मनुष्य तू सत्कर्म कर ! पर ममता और आसक्ति मत रख । मन्दन मणियार को कूएं ने मेंढक नहीं बनाया उसके सत्कर्म ने भी मेंढक नहीं बनाया । यदि ऐसा होता तो चक्रवर्ती सम्राटों ने प्रजा के हित के लिए जलाशय निर्माण आदि अनेक काम किये हैं उन सबको भी मेंढक और मछली बनना चाहिए था ! परन्तु वे तो मेंढक नहीं बने । इससे प्रमाणित होता है कि मेंढक बनाने वाला कारण कुछ और ही है सत्कर्म नहीं ।

इस प्रकरण में कृषि के सम्बन्ध में मैंने कतिपय प्रश्नों पर चर्चा की है । इससे पहले भी मैं काफी कह चुका हूँ । जो कुछ कहा गया है उस पर निष्पक्ष बुद्धि से वास्तविकता को समझने की विशुद्ध भावना से विचार कीजिए । आपका भ्रम दूर होगा और आप सत्य के सुनिश्चित मार्ग पर उत्तरोत्तर अग्रसर होते जाएँगे ।

— ७ .—

एक प्रश्न

जीवन-निर्वाह के लिए व्यवसाय के रूप मे मनुष्य जब प्रयत्न करता है तो वह चाहे जितनी यतना करे, फिर भी हिंसा तो होती ही है। वह हिंसा, केवल इसीलिए कि जीवन के लिए वह अनिवार्य है, अहिंसा नही बन सकती। फिर भी गृहस्थ श्रावक के लिए हिंसा और अहिंसा की एक मर्यादा है। यहाँ हमे यही देखना है कि कौन-सी हिंसा श्रावक की भूमिका मे परिहार्य है और कौन-सी हिंसा अपरिहार्य है? कौन-सी हिंसा श्रावक की मर्यादा मे है, और कौन-सी हिंसा ऐसी है, जो श्रावक को अनिवार्य रूप से त्याग देना ही सर्वथा वाछनीय है?

आखिर, जीवन मे यह विचार करना आवश्यक है कि कौन-सी मर्यादा का पालन करते हुए श्रावक, श्रावक की भूमिका में रह सकता है? यदि जीवन-व्यापार चला रहे हैं तो उसमे कहाँ तक न्याय और मर्यादा रहती है? कहाँ तक औचित्य की रक्षा हो रही है?

पन्द्रह कर्मादान सकल्पजा हिंसा मे नही, औद्योगिक हिंसा मे ही है, परन्तु जो औद्योगिक हिंसा, मानव को सकल्पजा हिंसा

को ओर प्रेरित करती हो वह कहाँ तक मर्यादानुकूल है? वह श्रावक की भूमिका में यथावसर करने योग्य है या नहीं? इस प्रश्न पर विचार कर लेना अति आवश्यक है।

शास्त्रकारों ने इस विषय पर गहरा चिन्तन और मनन किया है। तीर्थंकरों तथा आचार्यों ने जनता की मर्यादा को ध्यान में रखकर जो प्रवचन किया है वह आज भी हमारे लिए पथ प्रदर्शक के रूप में प्रकाश-स्तम्भ है।

सच पूछो तो हम आज के प्रगतिवादी वैज्ञानिक युग में भी अन्धे जैसे हैं। अन्धा जब चलता है तो कहीं भी ठोकर खाकर गिर सकता है। वह गड्ढे में गिर सकता है पानी में डूब सकता है और दीवार से भी टकरा सकता है। किन्तु यदि उसके हाथ में लाठी दे दी जाए तो समझ लीजिए कि आपने बहुत बड़ा पुण्य और परोपकार कर लिया। उस लाठी के सहारे वह मार्ग को टटोल कर चलता है और उसे गड्ढे का दीवार का और पानी का पता सहज ही लग जाता है। जब दीवार आएगी तो पहले लाठी टकराएगी और वह बच जाएगा।

इस प्रकार जो बात आप अन्धे के विषय में सोचते हैं, वही बात हम लोगों के विषय में भी है। वस्तुतः धर्म-शास्त्र हमारी लाठी है। जैसे अन्धा सीधा नहीं देख सकता और लाठी के द्वारा ही वह देखता है, उसी प्रकार हम लोग भी केवल अपनी बुद्धि से सीधे नहीं देख सकते शास्त्रों के सद् उपदेश द्वारा ही अपना मार्ग देखते हैं।

जिस प्रकार लाठी अन्धे का अवलम्बन है उसी प्रकार

धर्म-शास्त्र हमारा अवलम्बन है। अतएव हम जो कुछ भी कहे और समझे, वह शास्त्र के आधार पर और शास्त्र की मर्यादा के अन्तर्गत ही होना चाहिए। जहाँ शास्त्र स्वयं कोई स्पष्ट मार्ग का निर्देश न करता हो, वहाँ उनके प्रकाश मे अपने विशुद्ध विवेक का, अपनी नैसर्गिक बुद्धि का उपयोग किया जाना चाहिए। परन्तु इस उपयोग मे हमारी विचार परम्परा शास्त्रो से सर्वथा अलग न होने पाए। आपका क्या विचार है, मेरा क्या विचार है, या अमुक व्यक्ति का क्या अभिमत है, शास्त्रो के समक्ष इसका कोई मूल्य नही है। अतएव शास्त्र हमे जो प्रकाश दे रहे है, उसी प्रकाश मे हमे देखना है कि जीवन-व्यवहार मे कहा महा-हिंसा है और कहाँ अल्प-हिंसा है? हमारी कौन-सी प्रवृत्ति महारभ मे परिगणित होने योग्य है और कौन-सी प्रवृत्ति अल्पारभ मे गिनी जा सकती है?

शास्त्रो मे महारभ को नरक का द्वार बतलाया है। अस्तु, श्रावक को यह सोचना पडेगा कि जो कार्य मै कर रहा हूँ, क्या वह महारभ है, शास्त्रो की मान्यता मे नरक का द्वार है, अथवा अल्पारभ है और नरक से अलग करने वाला है?

जीवन मे हिंसा तो अनिवार्य है। उससे पूरी तरह बचा नही जा सकता। यदि इस सत्य को कोई अस्वीकार करता है तो उसका कोई तर्क माना नही जा सकता। जीवन-सघर्ष मे खेती आदि जो व्यापार चल रहे हैं उनमे हिंसा नही है, ऐसा कहने वाले की बात ज्ञान शून्यता का प्रमाण है। जब शास्त्र जीवन-व्यवहार मे हिंसा के अस्तित्व को स्वीकार करता है तो एक व्यक्ति

का यह कथन कि— जीवन-व्यवहार हिंसा से शून्य है क्या महत्त्व रखता है? ऐसी स्थिति में हमें केवल यही देखना चाहिए कि उस काम में हिंसा और अहिंसा का कितना अंश है? और क्या वह कार्य महारम्भ है नरक का कारण है अथवा अल्पारंभ है स्वर्ग की सीढ़ी है।

विचारों में भेद होना स्वाभाविक है। परन्तु जब विचार का आधार शास्त्र है और शास्त्र भी एक ही है और किसी ओर से दुराग्रह भी नहीं है तो यह भी आशा रखनी चाहिए कि एक दिन प्रस्तुत विचार-भेद भी समाप्त होकर रहेगा। परन्तु जब तक विचार-भेद समाप्त नहीं हो जाता तब तक प्रत्येक विचारक को समभाव से सहिष्णुतापूर्वक चिन्तन-मनन करते रहना चाहिए। विचार विभिन्नता को अधिक महत्त्व देने से झगड़ने की प्रवृत्ति उत्पन्न होती है जिससे सत्य को उपलब्ध करने का मार्ग रुक जाता है। मैं तो यहाँ तक कहने का साहस करूँगा कि किसी ने यदि कोई बात कही और वह बिना सोचे-समझे ही मान ली गई तो उसका भी कोई महत्त्व नहीं है। जो बात विचारपूर्वक और चिन्तनपूर्वक स्वीकार की गई है या इन्कार की गई है वही महत्त्व रखती है। परन्तु आग्रह के रूप में स्वीकार या अस्वीकार करने में कोई कीमत नहीं है। वास्तविक तथ्य तो यह है कि विवेकपूर्वक सत्य के प्रति दृढ़ आस्था रखकर, चिन्तन-मनन किया जाए और उसके बाद किसी बात को स्वीकार या अस्वीकार किया जाए।

जैन-धर्म मनुष्य के विचारों को बलात् धक्का देने के लिए,

या कुचल देने के लिए नहीं है। वह तो व्यक्ति के विचारो को सत्य-मार्ग की ओर मोड देने के लिए है। जो विचार प्रवाह आज गलत दिशा मे बह रहा है, उसे चिन्तन और मनन के द्वारा सही दिशा की ओर घुमा देना ही, जैन-धर्म का काम है। विचारो को सही मोड देने के लिए प्राय सघर्ष करना पडता है। इसीलिये जब कभी विचार-सघर्ष होता है तो मुझे आनन्द आने लगता है और मेरी विचार-वीणा के तार सत्य का वादन करने के लिए स्वत झनकार उठते हैं। जो 'व्याख्यान', सुनने के बाद वायु में विलीन हो जाय और जिस प्रवचन से विचारो मे नई हलचल और कम्पन पैदा न हो, वह किस काम का ? कुछ हलचल अवश्य होनी चाहिए, कुछ उथल-पुथल होनी ही चाहिए, कुछ विचार सघर्ष भी होना चाहिए। तभी तो मानस-तल मे बद्धमूल भ्रान्त सस्कारो की जड हिलेगी, तभी वे ढीले पडेगे और अन्त मे उखड कर नष्ट हो सकेगे। यद्यपि वह हलचल, उथल-पुथल और सघर्ष विचारो तक ही सीमित रहना चाहिए। उसमे प्रतिपक्ष के प्रति द्वेष अणुमात्र भी न होना चाहिए। विचार सघर्प ने यदि झगडे का रूप धारण कर लिया तो परिणाम अशुभ एव अवाछनीय होता है।

सत्य की उपलब्धि करना ही जिसका लक्ष्य है और जो सत्य के लिए समर्पित है, वह झगडे की स्थिति उत्पन्न नही होने देता। वह जानता है कि विचारो के सघर्ष से हो सत्य का मक्खन प्राप्त हो सकता है। परन्तु उस सघष ने यदि द्वेषपूर्ण प्रतिद्वन्द्व का रूप ग्रहण कर लिया तो मक्खन के बदले विष ही हाथ लगेगा। अतएव सत्य का अन्वेषक जब

विचार-संघर्ष का प्रारम्भ करता है तब भी प्रसन्न मुद्रा मे रहता है और जब संघर्ष का अन्त करता है तब भी उसी द्विगुणित प्रसन्न मुद्रा मे दिखाई देता है। निर्दोष विचार-संघर्ष का यही स्वच्छ स्वरूप है।

यदि आप भी इसी मार्ग पर चलते है तो निस्सन्देह आपको भी सत्य की उपलब्धि हो जाएगी। कृषि के सम्बन्ध मे चर्चा करते हुए पर्याप्त समय बीत चुका है अत अब उसका उपसंहार कर देना ही उचित है। कृषि के अतिरिक्त अन्य दूसरी बहुत-सी बातों पर भी विचार किया जा चुका है और इन विचारों का बहुत कुछ निचोड़ आपके सामने रख दिया गया है। फिर भी कुछ बातें और कुछ विचार शेष रह गए हैं।

वास्तव मे हमारी बुद्धि पूर्व धारणाओं मे आबद्ध होने के कारण सीमित हो गई है। इसीलिये किसी विषय पर विचार करते-करते वह थक जाती है और ऐसा समझने लगता है कि बस विचार हो चुका। अब और क्या शेष रहा है! किन्तु विचारों का मार्ग तो असीम है। नित्य नए-नए प्रश्न सामने आते हैं और उन पर विचार करना भी आवश्यक है। आज दिन एक नया प्रश्न हमारे सामने आया है। सोचता हूँ उस पर भी चर्चा प्रारम्भ करूं।

जो प्रश्न आज दिन सामने आया है उसके अतिरिक्त भी यदि किसी भाई को कोई बात पूछना हो कोई नवीन बात जानना हो तो वे निस्संकोच भाव से रात्रि के समय या मध्याह्न के समय मुझ से मिल सकते हैं। धर्म-तत्त्व के प्रचार के अतिरिक्त मुझे दूसरी कोई दुकानदारी नहीं करनी

है। नरक-गति का कारण जो महारंभ है, उसी को लक्ष्य में रखकर मतदान किया गया है, या और किसी दूसरे अभिप्राय से है? स्मरण रखना चाहिए कि जहाँ महारंभ या अनार्य-कर्म आया, वहीं आपको नरक की राह ध्यान में रखना होगा। शास्त्रों में महारंभ का सम्बन्ध नरक के साथ जोड़ा गया है। अनेक स्थलों पर शास्त्रों में ऐसे उल्लेख मिलते हैं। ऐसी स्थिति में प्याज की अथवा गाजर-मूली आदि की खेती को आप महारंभ मानते हैं, तो उसे नरक-गति का कारण भी मानना होगा।

कदाचित् आप यह कहें कि उसे महारंभ तो मान लें, किन्तु नरक-गति का कारण न मानें, तो यह अन्तर नहीं होने का। मैं कहता हूँ, और मैं क्या, शास्त्र ही कहते हैं कि जो महारंभ है वह नरक-गति का कारण बने बिना नहीं रह सकता। महारंभ भी हो और नरक-गति का कारण न हो, ऐसा कोई असंगत समझौता नहीं हो सकता। फिर आलू आदि जमीकन्दों की खेती क्या नरक-गति का कारण है? आप कहेंगे, क्यों नहीं, जमीकन्द में अनन्त जीव जो ठहरे।

कल्पना कीजिए—एक आदमी भूख से तड़प रहा है और उसके प्राण निकल रहे हैं। वहाँ दूसरा आदमी आ पहुँचता है। उसके पास आलू, गाजर आदि कंदमूल हैं और वह दया से प्रेरित होकर उस भूखे को खाने के लिए दे देता है। भूखा आदमी उसे खाता है और उसके प्राण बच जाते हैं। अब प्रश्न यह है कि उस कन्दमूल देने वाले को एकान्त पाप होता है, या कुछ पुण्य भी होता है? आप इस प्रश्न का क्या

उत्तर देते हैं ?

हमारे कुछ पड़ोसियों ने तो यह निर्णय कर रखा है कि दया से प्रेरित होकर भूखे के प्राण बचाने में भी एकान्त पाप होता है। उनकी धर्म-पुस्तकों ने और आचार्यों की वाणी ने एकान्त पाप का फतवा दे रखा है। क्योंकि एक ओर एक जीव है और दूसरी ओर एक आलू में नहीं उसके एक टुकड़े में भी नहीं सुई के अग्र भाग पर समा जाने वाले जरा से आलू के कण में भी अनन्त जीव होते हैं और जब वह खाने के लिए दे दिया जाता है तो उन सभी की हिंसा हो जाती है। इस प्रकार एक जीव को बचाने के लिए अनन्त जीवों की हिंसा की गई है। उनके विचार से अनन्त जीवों की हिंसा तो पाप है ही साथ ही उनकी हिंसा करके एक आदमी को बचा लेना भी पाप ही है और बचाने वाले की दया-भावना भी पाप है। इस प्रकार उस भूख से मरते को बचा लेने में एकान्त पाप ही है। परन्तु आपका विचार क्या है ? आप मनुष्य के प्राणों की रक्षा करना पाप नहीं मानते और रक्षा करने की दया की जो पुनीत भावना हृदय में उत्पन्न होती है उसे भी पाप नहीं मानते। ऐसी स्थिति में आप उक्त प्रश्न का क्या उत्तर देते हैं ? आपके सामने यह एक विकट प्रश्न है जिसका आपको निर्णय करना है।

सम्भव है आप इस प्रश्न का उत्तर देने में टालमटूल कर जाएँ। यदि ऐसा हुआ तो दूसरी जगह पकड़ में आ जाएँगे। मान लीजिए एक प्यासा आदमी प्यास से मर रहा है और किसी उदारमना ने उसे पानी पिला दिया। पानी की एक

है। सत् शास्त्रों की चर्चा करना ही मेरा कार्य है और यही धन्धा मै आजीवन चलाते रहना पसन्द करता हूँ।

"विचारो को सुलझने मे कुछ देर लगती है। आप एक सूत की लडो को सुलझाने बैठते हैं और जब वह जल्दी नही सुलझती है तो मन उचट जाता है और झट उसे पटक देते हैं। सोचते हैं—सूत क्या, आफत की पुडिया है। किन्तु मन स्थिर होते ही फिर उसे हाथ मे लेते हैं और फिर सुलझाने की चेष्टा करते हैं। विचारो की उलझन सूत से भी बडी जटिल है। विचार जब उलझ जाते हैं तो उन्हे सुलझाने मे वर्षों लग जाते हैं। कभी-कभी सदियाँ गुजर जाती हैं। आखिर, एक दिन वे सुलझ जाते हैं, किन्तु वे विवेक एव विचार के द्वारा ही सुलझते हैं। चाहे समय कितना ही लगे, हमे उनको सुलझाने का ही ध्येय सामने रखना चाहिए और धैर्य के साथ शान्त मन से सुलझाने का प्रयत्न करते रहना चाहिए।

हाँ, तो आपके हृदय मे जब कभी उलझन पैदा हो, आप अपनी शका से मुझे अवगत करा सकते हैं। जब आप मुझे अवगत करगे तो मेरे हृदय मे किसी प्रकार की कटुता पैदा नही होगी। मैं आपके सामने जो विचार रख रहा हूँ, सम्भव है, उसमें आपको कही भ्रम मालूम दे। 'उस समय आप तटस्थ भाव से सोचे, विचार करें। चिन्तन मनन के द्वारा विभिन्न विचार वाले जल्दी ही यदि एक सुनिश्चित राह पर आ जाएँ तो खुशी की बात होगी। यदि न आएँ तो भी कोई चिन्ता नही, फिर सोचेंगे, फिर मिलेंगे, फिर बाते करेंगे और विचार करते-करते अन्तत एक लक्ष्य पर आएँगे ही। इस प्रकार की मनोवृत्ति

रख कर निष्पक्ष और निष्कषाय होकर वस्तु-स्वरूप का चिन्तन करने मे अपूर्व रस मिलता है ।

इस अवसर पर एक भाई के प्रश्न पर विचार है । यद्यपि वह प्रश्न एक व्यक्ति ने प्रस्तुत किया है पर वह दूसरों के मन में भी पैदा होना स्वाभाविक है । इसीलिये प्रत्यक्ष रूप में उसकी चर्चा करना है ।

प्रश्न है प्याज (कांदे) की खेती करना अल्पारंभ है या महारंभ ?

यह प्रश्न सामान्य खेती के सम्बन्ध में नहीं प्याज की खेती के सम्बन्ध मे है । अतएव यह मान लेना चाहिए कि अनाज की खेती के सम्बन्ध में अब कोई प्रश्न शेष नहीं रह गया है । अनाज की खेती अल्पारभ है या महारम्भ ? इसका निर्णय हो चुका है । पिछले प्रकरणों मे अन्न की खेती के विषय में मैंने शास्त्रों के अनेक पाठ उपस्थित किए हैं और विभिन्न आचार्यों की प्राचीन परम्पराएँ भी आपके सामने रखी हैं । आचार्य समन्तभद्र हरिभद्र और हेमचन्द्र आदि के प्रमाणित कथन भी प्रस्तुत किए जा चुके हैं । अतएव यह समझ लेना चाहिए कि अन्न की खेती के सम्बन्ध में विचार स्पष्ट हो चुका है । वह महारंभ या अनार्य-कर्म है' यह गलतफहमी पूर्णतः दूर हो चुकी है । इसीलिए प्रस्तुत प्रश्न अन्न की खेती के विषय मे न होकर प्याज की खेती के सम्बन्ध में किया गया है ।

भगवती-सूत्र स्थानाङ्ग-सूत्र और उववाई-सूत्र में नरक-गति के चार कारण बतलाए गए हैं । उनमें पहला कारण महारंभ

है। नरक-गति का कारण जो महारभ है, उसी को लक्ष्य मे रखकर सवाल किया गया है, या और किसी दूसरे अभिप्राय से है? स्मरण रखना चाहिए कि जहाँ महारभ या अनार्य-कर्म आया, वही आपको नरक की राह ध्यान मे रखना होगा। शास्त्रो मे महारभ का सम्बन्ध नरक के साथ जोडा गया है। अनेक स्थलो पर शास्त्रो मे एस उल्लेख मिलते है। ऐसी स्थिति मे प्याज की अथवा गाजर-मूली आदि की खेती को आप महारभ मानते हैं, तो उसे नरक-गति का कारण भी मानना होगा।

कदाचित् आप यह कहे कि उसे महारभ तो मान लें, किन्तु नरक-गति का कारण न माने, तो यह अन्तर नहीं होने का। मैं कहता हूँ, और मैं क्या, शास्त्र ही कहते है कि जो महारभ है, वह नरक-गति का कारण बने बिना नही रह सकता। महारभ भी हो और नरक-गति का कारण न हो, ऐसा कोई असगत समझौता नही हो सकता। फिर आलू आदि जमीकन्दो की खेती क्या नरक-गति का कारण है? आप कहेगे, क्यो नही, जमीकन्द मे अनन्त जीव जो ठहरे।

कल्पना कीजिए—एक आदमी भूख से तडप रहा है और उसके प्राण निकल रहे है। वहाँ दूसरा आदमी आ पहुँचता है। उसके पास आलू, गाजर आदि कदमूल हैं और वह दया से प्रेरित होकर उस भूखे को खाने के लिए दे देता है। भूखा आदमी उसे खाता है और उसके प्राण बच जाते हैं। अब प्रश्न यह है कि उस कन्दमूल देने वाले को एकान्त पाप होता है, या कुछ पुण्य भी होता है? आप इस प्रश्न का क्या

उत्तर देते हैं ?

हमारे कुछ पड़ौसियों ने तो यह निर्णय कर रखा है कि दया से प्रेरित होकर भूख के प्राण बचाने में भी एकान्त पाप होता है। उनकी धर्म-पुस्तकों ने और आचार्यों की वाणी ने एकान्त पाप का फतवा दे रखा है। क्योंकि एक ओर एक जीव है और दूसरी ओर एक आलू में नहीं उसके एक टुकड़े में भी नहीं सुई के अग्र भाग पर समा जाने वाले जरा से आलू के कण में भी अनन्त जीव होते हैं और जब वह खाने के लिए दे दिया जाता है तो उन सभी की हिंसा हो जाती है। इस प्रकार एक जीव को बचाने के लिए अनन्त जीवों की हिंसा की गई है। उसके विचार से अनन्त जीवों की हिंसा तो पाप है ही साथ ही उनकी हिंसा करके एक आदमी को बचा लेना भी पाप ही है और बचाने वाले की दया भावना भी पाप है। इस प्रकार उस भूख से मरते को बचा लेने में एकान्त पाप ही है। परन्तु आपका विचार क्या है ? आप मनुष्य के प्राणों की रक्षा करना पाप नहीं मानते और रक्षा करने की दया की जो पुनीत भावना हृदय में उत्पन्न होती है उसे भी पाप नहीं मानते। ऐसी स्थिति में आप उक्त प्रश्न का क्या उत्तर देते हैं ? आपके सामने यह एक विकट प्रश्न है जिसका आपको निर्णय करना है।

सम्भव है आप इस प्रश्न का उत्तर देने में टालमटूल कर जाएँ। यदि ऐसा हुआ तो दूसरी जगह पकड़ में आ जाएँगे। मान लीजिए, एक प्यासा आदमी प्यास से मर रहा है और किसी उदारमना ने उसे पानी पिला दिया। पानी की एक

बूंद मे असख्य जीव है, अस्तु एक गिलास पानी पिला दिया तो क्या हुआ ? एकान्त पाप हुआ या कुछ पुण्य भी हुआ ? पानी पिलाने से बचा तो एक केवल व्यक्ति, और मरे असख्य जीव ।

इस प्रश्न का कदाचित् आप यही उत्तर देंगे—यद्यपि पानी पिलाने से पाप हुआ है किन्तु पुण्य भी हुआ है । और वह पुण्य, पाप की अपेक्षा अधिक है । ठीक है, जो तथ्य हो उसे स्वीकार कर लेना ही बुद्धिमता है ।

इस निर्णय से यह फलित हुआ कि जीवो की सख्या के आधार पर पुण्य-पाप का निर्णय नही हो सकता । सख्या अपने में सही कसौटी नही है । इस कसौटी को, पानी पिलाने मे एकान्त पाप न मानकर, हमने अस्वीकार कर दिया है । हमने पुण्य-पाप को परखने के लिए दूसरी कसौटी अपनायी है और वह है कर्त्तव्य की भावना ।

वस्तुत असख्य एक बहुत बडी सख्या है । असख्य के अन्तिम अश मे यदि एक और जोड दिया जाए तो वह सख्या अनन्त हो जाती है । तो जहां बहुत असख्य जीव हैं, वहां अनन्त के लगभग जीव हो जाएँगे । और जहां पानी है वहां वनस्पति, [illegible] त्रस आदि दूसरे प्रकार के जीव भी होते हैं । इस [illegible] से जीवो की सख्या मे भी अत्यधिक वृद्धि हो जाती है ।

हाँ, तो एक गिलास पानी पिलाने से अनन्त के लगभग जीव मरे और वचा सिफ एक मनुष्य ही । फिर भी भावना की प्रधानता के कारण पानी पिलाने वाले को पाप की

अपेक्षा पुण्य अधिक हुआ। जो जीव मरे हैं, वे मारने की हिंसक भावना से नहीं मार गए हैं। पानी पिलाने वाले की भावना यह कदापि नहीं होती कि पानी के ये जीव मर नहीं रहे हैं। अतः यदि कोई अतिथि आ जाए तो उसे पानी पिलाकर इन्हें मार डालूं। उसकी एकमात्र भावना तो पंचेन्द्रिय जीव को मरने से बचाने की है।

इस सम्बन्ध में सिद्धान्त भी यह स्पष्टीकरण करता है कि एकेन्द्रिय जीव की अपेक्षा द्वीन्द्रिय जीव को मारने से असंख्य गुना अधिक पाप बढ़ जाता है। और इसी प्रकार उत्तरोत्तर बढ़ते-बढ़ते चतुरिन्द्रिय की अपेक्षा पंचेन्द्रिय को मारने में असंख्य गुना पाप अधिक होता है।

जब तक हम इस दृष्टि-बिन्दु पर ध्यान रखेंगे तब तक भगवान् महावीर की अहिंसा और दया हमारे ध्यान में रहेगी। यदि हम इस दृष्टिकोण से विचलित हो गए तो अहिंसा और दया से भी विचलित हो जाएँगे। फिर हमें या तो कोई और दृष्टि पकड़नी पड़ेगी या हस्ति-तापसों की दृष्टि स्वीकार करनी पड़ेगी। हस्ति-तापसों के सम्बन्ध में सामान्यतः उल्लेख अन्य प्रवचन में किया जा चुका है। उनका मन्तव्य है कि अनाज के प्रत्येक दाने में जब एक-एक जीव मौजूद है तो बहुत-से दाने खाने से बहुत जीवों की हिंसा होती है। उससे बचने के लिए हाथी जैसे एक स्थूल काय जीव को मार लेना अधिक उपयुक्त है कि जिससे एक ही जीव की हिंसा से बहुत से व्यक्तियों का या बहुत दिनों

तक एक व्यक्ति का निर्वाह हो सके ।❀

भगवान् महावीर ने इस दृष्टिकोण का डटकर विरोध किया था। कारण यही है कि पाप का सम्बन्ध जीवो की गिनती के साथ नही, कर्त्तव्य की भावना के साथ है। सोचिए, पचेन्द्रिय जीव का घात करने मे कितनी निर्दयता और कितनी क्रूरता होती है। एक गिलास पानी मे जीवो की सख्या भले ही असख्य हो, फिर भी पानी को पीने वाले और पिलाने वाले मे वैसी निर्दय और क्रूर भावना नही होती। क्योकि पानी पीने वाले और पिलाने वाले, दोनो का लक्ष्य-विन्दु 'रक्षा' है। जो लक्ष्य-विन्दु 'रक्षा' का पवित्र प्रतीक है, वहाँ दया की विद्यमानता सुनिश्चित है, और जो कार्य-विशेष 'रक्षा' और 'दया' की सीमाओ के अन्तर्गत है, वह अहिंसक है।

इस प्रकार पानी के विषय मे जब निर्णय कर लिया तो इसी निर्णय के प्रकाश मे अब मूल प्रश्न की जाँच करे।

जिस प्रकार अन्न की हिंसा की अपेक्षा प्याज की या अन्य अनन्तकाय की हिंसा बडी है, उसी प्रकार अन्न की खेती की अपेक्षा इस खेती मे ज्यादा पाप है। फिर भी वह महारभ नही है, क्योकि सहार करने के लक्ष्य से, हिंसा के सकल्प से, या क्रूर भावना से, जिस उद्योग मे त्रस जीवो का हनन किया जाता है, वही महारभ की भूमिका मे आता है।

जिस देश मे अन्न की काफी जरूरत है, जिसे आधे से अधिक अन्न सुदूर विदेशो से मगाना पडता है, जिस देश के

❀ हस्तितापसा इति ये हस्तिन मारयित्वा तनैव बहुकाल भोजनतो यापयन्ति ।

—औपपातिक सूत्र टीका

के लिए अमरिका और आस्ट्रेलिया से राशियाँ आती हैं और उनके बदले में करोड़ों व्यक्तियों की गाढ़ी कमाई की सम्पत्ति बाहर चली जाती है और उस सम्पत्ति के बदले में गलाहीन सड़ा-गला एवं निकम्मा अनाज मिलता है जिसको खाकर लोग तरह-तरह की बीमारियों के शिकार हो रहे हैं और उसके भी अभाव में लाखों आदमी मर गए और आज भी मर रहे हैं उस समय में प्याज की खेती का प्रश्न पहले विचारणीय नहीं है। यहाँ तो पहले अन्न की समस्या है और उसी के समुचित समाधान के लिए सर्वप्रथम विचार करना होगा।

कल्पना कीजिए—किसी के खेत में अन्न नहीं उपजता। एक लोगों में से एक अपने मन में आलू बो रहा है और दूसरा तम्बाकू बो रहा है तो तम्बाकू बोने में ज्यादा हिंसा है क्योंकि तम्बाकू व्यसन की वस्तु है जीवन-निर्वाह की वस्तु नहीं है। तम्बाकू जहर पैदा करता है और स्वास्थ्य का नष्ट करने वाला मादक पदार्थ है और उसे पैदा करने वाला केवल अपने स्वार्थ की भावना से ही पैदा करता है। उससे किसी प्रकार के परोपकार की आशा नहीं है किसी के जीवन-निर्वाह की सम्भावना नहीं है। भूख से मरते व्यक्ति को तम्बाकू खिलाकर जीवित नहीं रखा जा सकता। तम्बाकू खाने से मृत्यु दूर नहीं होगी बल्कि निकट ही आएगी।

आलू या प्याज को व्यसन की वस्तु नहीं बताया गया है। इसका अभिप्राय यह नहीं है कि आलू और प्याज की खेती में आरम्भ नहीं है। आरम्भ तो अवश्य है और अन्न की अपेक्षा विशेष आरम्भ है फिर भी वह महारम

को भूमिका म नहीं है, अर्थात्—वह नरक-गमन का हेतु नहीं है।

एक आदमी के मन म आलू ही उत्पन्न होने है और वह सोचता है कि लोगो को खुराक नहीं मिल रही है, तो मैं आलू उत्पन्न करके यथाशक्ति पूर्ति क्यो न करूँ? यही सोच-कर वह आलू की खेती करता है। दूसरा सोचता है कि तम्बाकू से दूसरो का स्वास्थ्य नष्ट होता है, तो भले हो। उसे किसी के स्वास्थ्य मे क्या मतलब! उसे तो पैसा चाहिए। इसीलिए वह तम्बाकू की खेती करता है। स्पष्ट है कि आलू की अपेक्षा तम्बाकू की खेती म अधिक पाप है। इस प्रकार आलू की खेती मे अन्न की खेती की अपेक्षा अधिक पाप है और तम्बाकू की खेती की अपेक्षा अल्प पाप है। यही अनेकान्त का निर्णय है।

अभिप्राय यही है कि किसी भी कार्य मे एकान्त रूप से आरम्भ की अल्पता या अधिकता का निर्णय होना कठिन है। 'अल्प और अधिक' दोनो ही ऐसे सापेक्ष शब्द हैं कि उन्हे कोई दूसरा चाहिए। हिन्दी भाषा मे जैसे 'छोटा' और बडा शब्द सापेक्ष है। दूसरे की अपेक्षा ही कोई छोटा या बडा कहलाता है, अपने आप मे कोई छोटा या बडा नहीं होता। यही बात 'अल्प' और 'अधिक' के विषय मे भी है। इस बात को ठीक तरह समझने के लिए एक उदाहरण ले लीजिए। किसी ने आपसे प्रश्न किया कि—त्रीन्द्रिय जीव की हिसा मे अल्प पाप है, या अधिक पाप है? तो आप उसे क्या उत्तर देगे? कोई भी शास्त्र का ज्ञाता यही कहेगा कि

एकेन्द्रिय और त्रीन्द्रिय की अपेक्षा अधिक पाप है और चतुरिन्द्रिय तथा पचेन्द्रिय की अपेक्षा अल्प पाप है।

हमारे कुछ साथी कृषि करने में महारंभ समझते हैं। यदि उनका मन्तव्य पूर्वोक्त अनेकान्तवाद के आधार पर हो तो मतभेद के लिए गुजाइश ही नहीं है। यदि वे महा' की अधिक में लक्षणा करके यह कहते कि कृषि-कार्य में वस्त्रादि के द्वारा आजीविका चलाने की अपेक्षा अधिक आरंभ है और कसाईखाना चलाने या सट्टा करने की अपेक्षा अल्प आरंभ है तो कोई विवाद न रहता। अपेक्षाकृत अधिक आरंभ और अल्प आरंभ मानने से कौन इन्कार कर सकता है? परन्तु जब कृषि में महारंभ बताया जाता है और वह महारंभ बतलाया जाता है जो कि नरक-गति का कारण है तो अनेकान्तवाद का परित्याग कर दिया जाता है और मतभेद खड़ा हो जाता है।

———

—: ८ :—

जीवन के चौराहे पर

जरा अपने से बाहर इस विराट विश्व की ओर दृष्टि-पात कीजिए। देखिए, जगत् मे कितने अगणित जीव-जन्तु भरे पडे हैं। नाना प्रकार के पशु-पक्षी, कीडे-मकोडे तो हैं ही, लाखो प्रकार की वनस्पति और दूसरे भी छोटे-बडे असख्य प्रकार के प्राणी आपको दिखाई देगे। उनकी आत्मा मे कोई मूलभूत अन्तर नही है। अन्तर है केवल शरीर का और आत्मिक शक्तियो के विकास का। इसी अन्तर ने मनुष्य मे और दूसरे प्राणियो मे बडा भेद पैदा कर दिया है। इसी लिए शास्त्र मानव-जीवन की गौरव-गाथा गाता है और मानव भी अपनी स्थिति पर गर्व करता है, अपने को धन्य मानता है। पर, मनुष्य को यह भी सोचना है कि इस जीवन के लिए उसे कितनी तैयारी करनी पडी है? किस प्रकार की साधनाएँ करनी पडी है?

बडी-बडी तैयारियाँ और साधनाएँ करने के बाद जो दिव्य-जीवन मिला है उसकी क्या उपयोगिता है? क्या, यह जीवन भोग-विलास मे लिप्त रहने के लिए है, धन सचय या मान प्रतिष्ठा के पीछे भटकते-भटकते समाप्त हो जाने के

मिए हैं ? क्या इसलिए है कि एक दिन संसार में यों ही
आए और यों ही चल गए ?

जो आया है वह जाएगा तो अवश्य ही। चाहे कोई
भिखारी हो दरिद्र हो अथवा राजा हो सेठ हो। यह आवा
गमन का क्रम अनादि काल से चलता आ रहा है आज भी
चल रहा है और भविष्य में भी चलता रहेगा। प्रकृति के इस
क्रम को रोकना आपके बस की बात नहीं है। चक्रवर्ती
सम्राट् की शक्तिशाली सत्ता भी इस बन्द नहीं कर सकती।
यहाँ तक कि असंख्य देवी-देवताओं पर शासन करने वाला
देवाधिपति इन्द्र भी इसे रोकने में असमर्थ है। संसार में कोई
ऐसी जगह नहीं कि जहाँ हम जम कर बैठ गए तो अब उठेंगे
ही नहीं। यद्यपि आप यही चाहते हैं कि हम न उठें किन्तु
आपके चाहने की यहाँ कोई कीमत नहीं है। आप तो क्या
बड़े-बड़े शक्तिशाली यहाँ आए और चले गए। जिनकी
मदमाती सत्ता ने एक दिन संसार में भूकम्प पैदा कर दिया
था जिनकी सेनाओं ने हिन्दुस्तान के कोने-कोने को रौंद
डाला था और अपना अड्डा जमा लिया था उनकी शक्ति
भी यहाँ विफल हो गई। लाखों वीरों की सुदृढ़ सेना एक ओर
बीच भाव से खड़ी रही और जो बड़े-बड़े मन्त्री यह कहते थे कि
बाल की खाल निकाल देंगे और कोई न कोई रास्ता निकालेंगे
परन्तु आवागमन के प्राकृतिक काम क्रम को रोकने में उनकी
विलक्षण बुद्धि भी कुछ काम न दे सकी। देवी-देवता खड़े
रहे उनसे भी कुछ नहीं बना। सारांश में हम देखते हैं एक
साधारण आदमी संसार से विदा होता है तो लाचार और

वेबस होकर जाता है। और जब धनी या सम्राट् विदा होते हैं, तो वे भी लाचार और बेबस होकर ही विदा होते हैं।

बिना वर्ग-भेद के सभी के लिए यदि एक राह नही होती तो दुनिया का फैसला होना मुश्किल हो जाता। यही राह गरीब और अमीर को एक करने वाली है, और झोपड़ियो तथा महलो तक का एक जैसा फैसला कर देती है। दुनिया में और कितनी ही राह क्यो न हो, पर श्मशान की राह तो एक ही है, जिस पर सब को चलना है और जहाँ भिखारी से लेकर सम्राट् तक को जलकर मिट्टी मे मिल जाना है। यहाँ दो राह नही बन सकती, दो मजिल नही हो सकती हैं। सब के लिए एक ही राह है, एक ही मजिल है और उसी मे से सब को गुजरना है।

यह देखा गया है कि इन्सान की जिन्दगी मे अभिमान, प्रतिष्ठा, आदि जो भौतिक अलकरण हैं, वे सब यही समाप्त हो जाते हैं। मनुष्य, आगे क्या लेकर जाता है? महल, सोना-चाँदी, जेवर वगैरह सब यही रह जाते है। कुटुम्ब-कबीला, समाज और राष्ट्र सभी यहाँ छूट जाते हैं।

मानव-जीवन की सब से बडी जो विशेषता है, वह यही है कि मनुष्य सोच सकता है कि उसे यहाँ से क्या ले जाना है, क्या नही ले जाना है? खाली हाथ दरिद्र होकर लौटना है, या सम्राट् की तरह ऐश्वर्य की विराट साज-सज्जा के साथ वापिस होना है।

भगवान् महावीर ने अपने अन्तिम प्रवचन मे एक सुन्दर

उदाहरण कहा है और उसके सहारे एक बहुत बड़ा सत्य प्रकाशित किया है। दूसरे शब्दों में यह कहना चाहिए कि एक लघुकाय शब्द-सूत्र के सहारे करोड़ों मन सत्य का भार उतार दिया है। यह एक छोटा-सा दृष्टान्त अवश्य है किन्तु उसके पीछे एक बहुत बड़ी सचाई, जीवन का महत्त्वपूर्ण अध्याय छिपा पड़ा है। उत्तराध्ययन सूत्र में आता है —

> जहा य तिन्नि वाणिया, मूलं घेत्तूण निग्गया।
> एगोऽत्थ लहए लाहं एगो मूलेण आगओ।।
> एगो मूलं पि हारित्ता आगओ तत्थ वाणिओ।
> ववहारे उवमा एसा एवं धम्मे वियाणह।।

भगवान् महावीर ने व्यापार करने वाले बनियों का उदाहरण दिया है और सौभाग्य से २५ वर्ष बाद आज वे ही मेरे सामने भी बैठे हैं। ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य और शूद्र ये चार वर्ण हैं। उनमें से वैश्य ही वाणिज्य-व्यवसाय करते हैं और उनकी ही बात उदाहरण रूप में यहाँ चलती है।

मानव की जिन्दगी में व्यापार का क्रम तो चलता ही रहता है। जिस आत्मा ने दुनिया की इस मंडी में आकर व्यापार नहीं किया उसने क्या किया?

एक सेठ के तीन पुत्र थे। तीनों बुद्धिमान् और विचार शील थे पर वे घर में ही पड़े रहते थे अतः उनकी बुद्धि को परखने का प्रसंग नहीं मिलता था। उनके विचारों को, चारित्र को और व्यक्तित्व को ठीक तरह पनपने का और विकसित होने का अवसर उपलब्ध नहीं होता था।

कभी-कभी ऐसा होता है कि जो बडे होते है, उनके सामने छोटे पनपने नही पाते। कभी-कभी पिता अपने सिर पर सब कामो का भार लादे रहता है और पुत्रो को कोई भी काम स्वाधीनता के साथ करने का अवसर नही देता। बात-बात मे वह निर्देशन करता है—इस काम को ऐसे नही, ऐसे करो, यो नही, त्यो करो। इस वातावरण मे लडको को अपनी बुद्धि को जाँचने और विकसित करने का मौका नही मिलता और वे बराबर सलाह लेने के ही आदी हो जाते हैं। फिर वे हर एक कार्य के लिए पूछते ही रहते हैं कि क्या करूँ, कैसे करूँ? किसी भी सामान्य प्रश्न को स्वतन्त्र रूप से निर्णय करने मे उनकी बुद्धि कुंठित-सी हो जाती है और फिर जीवन के अन्तिम क्षण तक उनकी यही परमुखापेक्षी प्रवृत्ति बनी रहती है।

किसी बडे वृक्ष के आस-पास कोई पौधा लगा दिया जाता है, तो वह बडा वृक्ष उसे पनपने नही देता। इसका अर्थ यह नही कि पिता, पुत्र की बुद्धि को विकसित नही होने देना चाहता। वह चाहे भले ही, पर वात्सल्य की गलत पद्धति के कारण वैसा हो नही पाता। पुत्र, पिता की सहायता का आदी हो जाता है और वह स्वतन्त्र रूप से अपने पैरो पर खडा नही हो पाता।

हाँ, तो वह सेठ बडा बुद्धिमान था। उसने सोचा—देखना चाहिए, कौन लडका कैसा है और आगे चलकर मेरे वश का उत्तरदायित्व कौन कितना निभा सकता है? कौन मेरे कुल की प्रतिष्ठा को स्थायी रूप से सुरक्षित रख सकता है?

मैं दुनिया भर की परीक्षा करता हूँ तो अपने लड़कों की परीक्षा भी क्यों न करूं ?

सेठ ने एक दिन तीनों लड़कों को बुलाया और कहा—तुम सब समझदार और योग्य हो गए हो। जीवन के कार्य क्षेत्र में काम कर सकते हो। जो कुछ मैं करता हूँ वह तो तुम्हारा है ही। उसे मुझे कहीं अन्यत्र ले नहीं जाना है। किन्तु तुम मुझे यह विश्वास दिला दो कि तुम मेरे पीछे मेरी जिम्मेदारियों को पूरी तरह निभा सकोगे।

लड़कों ने कहा—पिताजी फरमाइये क्या करें ?

हाँ तो 'क्या करें' ? इसी सवाल को हल करने के लिए तो पिता ने उन्हें बुलाया था। कमाने के लिए वह अपने लड़कों को बाहर नहीं भटकाना चाहता था। उसके पास आजीविका के सभी साधन मौजूद थे। परन्तु 'क्या करें' ? यह जो परमुखापेक्षी वृत्ति बन जाती है और बार-बार जो यह प्रश्न मन में पैदा हो-होकर रह जाता है इसी का उसे समुचित समाधान करना था।

सेठ ने कहा—करना क्या है ? भले जाओ। नाव को समुद्र में बहने दो और लंगर खोल दो डाँड़ तो तुम्हारे हाथ में है। वस्तुतः सफल जीवन का यही अर्थ है कि तुम कितने पुरुषार्थ से कितनी योग्यता से जीवन-नौका को सकुशल तट पर ले जाते हो ! जिस नाव में बैठे हो उसका लंगर यदि नहीं खोला है तो उसके चलाने का कोई अर्थ नहीं। खोल दिया जाए जीवन-नौका का लंगर और छोड़ दिया जाए लहरों पर ! जब जीवन-नौका लहरों के थपेड़े खाएगी

कभी-कभी ऐसा होता है कि जो बडे होते है, उनके सामने छोटे पनपने नही पाते। कभी-कभी पिता अपने सिर पर सब कामो का भार लादे रहता है और पुत्रो को कोई भी काम स्वाधीनता के साथ करने का अवसर नही देता। बात-बात में वह निर्देशन करता है—इस काम को ऐसे नही, ऐसे करो, यो नही, त्यो करो। इम वातावरण मे लडको को अपनी बुद्धि को जाँचने और विकसित करने का मौका नही मिलता और वे बराबर सलाह लेने के ही आदी हो जाते हैं। फिर वे हर एक कार्य के लिए पूछते ही रहते है कि क्या करूँ, कैसे करूँ? किसी भी सामान्य प्रश्न को स्वतन्त्र रूप से निर्णय करने मे उनकी बुद्धि कुंठित-सी हो जाती है और फिर जीवन के अन्तिम क्षण तक उनकी यही परमुखापेक्षी प्रवृत्ति बनी रहती है।

किसी बडे वृक्ष के आस-पास कोई पौधा लगा दिया जाता है, तो वह बडा वृक्ष उसे पनपने नही देता। इसका अर्थ यह नही कि पिता, पुत्र की बुद्धि को विकसित नही होने देना चाहता। वह चाहे भले ही, पर वात्सल्य की गलत पद्धति के कारण वैसा हो नही पाता। पुत्र, पिता की सहायता का आदी हो जाता है और वह स्वतन्त्र रूप से अपने पैरो पर खडा नही हो पाता।

हाँ, तो वह सेठ बडा बुद्धिमान था। उसने सोचा—देखना चाहिए, कौन लडका कैसा है और आगे चलकर मेरे वश का उत्तरदायित्व कौन कितना निभा सकता है? कौन मेरे कुल की प्रतिष्ठा को स्थायी रूप से सुरक्षित रख सकता है?

खूब भाई, पर सक्ष्मी का नशा तनिक भी नहीं आया। वह दुश्चरित्र नहीं बना।

मजा तो यह है कि समुद्र में डुबकी तो लगाए, किन्तु सूखा निकल आए। कोई तट पर बैठा रहे और कहे कि मैं सूखा हूँ भीगा नहीं तो ऐसे सूखेपन का कोई मूल्य नहीं है। यदि समुद्र में गोता लगा दें और वापिस सूखा निकल आए भीगे नहीं तब कहा जा सकता है कि वास्तव में जादू है चमत्कार है। इसी प्रकार यदि कोई धन वैभव पाकर भी सच्चरित्र बना रहे उस नशा न चढे तब हम कहेंगे कि समुद्र में गोता तो लगाया किन्तु फिर भी सूखा ही निकला। जब चारों ओर सक्ष्मी की झनकार हो रही हो फिर भी सक्ष्मी की मादकता से ठोकर न लगे और वासना की बौछार से बिना भीगे बाहर आ जाए तब तो कह सकते हैं कि यह एक कला है। आनन्द श्रावक ने संसार-समुद्र में गोते लगाए थे फिर भी वह सूखा ही निकला। महावीर के परम भक्त राजा चेटक आदि सभी ने संसार-समुद्र में गोते लगाए हुए थे किन्तु सभी सूखे थे। चक्रवर्ती भरत भी संसार-समुद्र में गोते लगाकर भी सूखे ही रहे थे। सारांश में यही अभिमत पर्याप्त होगा कि सांसारिक कार्यों में संलग्न रहते हुए भी फल की प्राप्ति में लिप्त नहीं रहना चाहिए।

"न लिप्पए भवमज्झे वि सन्तो जलेण वा पोक्खरिणीपलासो।

और—

च ! पोम्मं जले जायं नोवलिप्पइ वारिणा।"

यदि मनुष्य सफल जीवन की कला सीखना है तो कमल

और नाना प्रकार के विघ्न उपस्थित होंगे, तब पता लगेगा कि तुम्हारे अन्दर कितनी योग्यता है। यदि समुद्र में तूफान आया है तो नाव को कैसे ले जाएँ, और कहाँ मन्द गति और कहाँ तीव्र गति दी जाए, आदि-आदि योग्यताएँ ही तो जीवन के सफल संचालन के लक्षण हैं।

पिता की बात सुनकर पुत्रों ने कहा - बात ठीक है। आपका विचार सही है। हम अपनी योग्यता की जाँच करेंगे।

अब उनको योग्य पूँजी दे दी गई। टीकाकार कहते हैं कि एक-एक लाख रुपया तीनों को दे दिया और उनसे कह दिया गया कि - तीनों, तीन दिशाओं में अलग-अलग चले जाएँ। अपनी दिशाएँ इच्छा के अनुरूप निश्चित कर सकते हैं।

तीनों पुत्रों ने अपनी-अपनी इच्छा के अनुसार विभिन्न देशों में जाकर बड़ी-बड़ी पेढ़ियाँ स्थापित कीं।

उनमें एक बड़ा चतुर और बुद्धिमान् था। उसने अपनी पूँजी ऐसे व्यवसाय में लगाई कि वारे-न्यारे होने लगे। दिन दूना और रात चौगुना धन बढ़ने लगा। वह बड़ा सच्चरित्र था। जैसे-जैसे लक्ष्मी आती गई, वह नम्र होता गया। उसने आस-पास के व्यापारियों में अपनी धाक जमा ली। जहाँ कहीं भी रहा, बेगाना बनकर नहीं रहा। ऐसे रहा, मानो उन्हीं के घर का आदमी हो और किसी को लूटने नहीं आया, किन्तु अपने-पराये सब का समुचित संरक्षण करने आया है। इस तरह उसने अपनी चारित्रिक प्रतिष्ठा जमा ली। उसके पास लक्ष्मी

खूब मार्ई पर लक्ष्मी का नशा तनिक भी नहीं आया। वह दुश्चरित्र नही बना।

मजा तो यह है कि समुद्र में डुबकी तो लगाए, किन्तु सूखा निकल आए। कोई तट पर बैठा रहे और कहे कि मै सूखा हूँ भीगा नहा तो ऐसे सूखेपन का कोई मूल्य नही है। यदि समुद्र में गोता लगा ले और वापिस सूखा निकल आए भीगे नहीं तब कहा जा सकता है कि वास्तव में जादू है चमत्कार है। इसी प्रकार यदि कोई धन वैभव पाकर भी सच्चरित्र बना रहे उसे नशा न चढ़े तब हम कहेंगे कि समुद्र में गोता तो लगाया किन्तु फिर भी सूखा ही निकला। जब चारों ओर लक्ष्मी की झनकार हो रही हो फिर भी लक्ष्मी की मादकता से ठोकर न लगे और वासना की बौछार से बिना भीगे बाहर आ जाए, तब तो कह सकते है कि यह एक कला है। आनन्द श्रावक ने संसार-समुद्र मे गोते लगाए थे फिर भी वह सूखा ही निकला। महावीर के परम भक्त राजा चेटक आदि सभी ने ससार-समुद्र मे गोते लगाए हुए थे किन्तु सभी सूखे थे। चक्रवर्ती भरत भी ससार-समुद्र में गोते लगाकर भी सूखे ही रहे थे। सारांश में यही अभिमत पर्याप्त होगा कि सांसारिक कार्यों में संलग्न रहते हुए भी फल की प्राप्ति मे लिप्त नहीं रहना चाहिए।

न लिप्पइ भवमज्झे वि संतो जलेण वा पोक्खरिणीपलासो।

और—

जहा पोम्मं जले जायं नोवलिप्पइ वारिणा।

यदि मुझे सफल जीवन की कला सीखना है, तो कमल

और नाना प्रकार के विघ्न उपस्थित होगे, तब पता लगेगा कि तुम्हारे अन्दर कितनी योग्यता है। यदि समुद्र मे तूफान आया है तो नाव को कैसे ले जाएँ, और कहाँ मन्द गति और कहाँ तीव्र गति दी जाए, आदि-आदि योग्यताएँ ही तो जीवन के सफल सचालन के लक्षण हैं।

पिता की बात सुनकर पुत्रो ने कहा - बात ठीक है। आपका विचार सही है। हम अपनी योग्यता की जांच करेगे।

अब उनको योग्य पूँजी दे दी गई। टीकाकार कहते है कि एक-एक लाख रुपया तीनो को दे दिया और उनसे कह दिया गया कि-तीनो, तीन दिशाओ में अलग-अलग चले जाएँ। अपनी दिशाएँ इच्छा के अनुरूप निश्चित कर सकते हैं।

तीनो पुत्रो ने अपनी-अपनी इच्छा के अनुसार विभिन्न देशो मे जाकर बडी-बडी पेढ़ियाँ स्थापित कीं।

उनमे एक बडा चतुर और बुद्धिमान् था। उसने अपनी पूँजी ऐसे व्यवसाय मे लगाई कि वारे-न्यारे होने लगे। दिन दूना और रात चौगुना धन बढने लगा। वह बडा सच्चरित्र था। जैसे-जैसे लक्ष्मी आती गई, वह नम्र होता गया। उसने आस-पास के व्यापारियो मे अपनी धाक जमा ली। जहाँ कही भी रहा, बेगाना बनकर नही रहा। ऐसे रहा, मानो उन्ही के घर का आदमी हो और किसी को लूटने नही आया, किन्तु अपने-पराये सब का समुचित सरक्षण करने आया है। इस तरह उसने अपनी चारित्रिक प्रतिष्ठा जमा ली। उसके पास लक्ष्मी

आखिर, उसे भी यह कला सीखनी ही पड़ेगी। यह अपार संसार है यह दुर्गम दुनिया है। इसी में से रुख-पान भी लेना है अंधेरे झियों और महलों में भी जाना है। आँख बन्द करके नहीं बस सकते नाक बन्द करके नहीं जी सकते और हाथ पैर बाँधकर निष्क्रिय बैठ भी नहीं सकते। सब इन्द्रियाँ अपने गुण-कर्म स्वभाव के अनुरूप अपना काम करती ही रहेंगी। फिर साधु तो ऐसी कला सीखते है कि खाते पीते सुनते और देखते हुए भी मोह-वासना के कीचड़ में नहीं फँसते। दैनिक व्यवहार में प्राय वे निन्दा भी सुनते हैं स्तुति भी सुनते हैं अच्छा या बुरा जैसा भी रूप आँखो के सामने से गुजरता है उसे देखते भी हैं। किन्तु निर्लिप्त भावना के कारण वे मोह-जन्य वासना के कुचक्र में नहीं फँसते सदैव उससे परे ही रहते हैं क्योंकि सासारिक मोह-वासना का कुचक्र साधु-जीवन को अधःपतन के गर्त में ले जाने वाला है।

अस्तु, कमल की यही कला आपको भी सीखना है। यदि भागना भी चाहोगे तो कब तक भागोगे ? भगवान् महावीर का यह अटल सिद्धान्त है कि— "जिस किसी भी स्थिति में रहो किन्तु यह कला सीख लो कि कमल जल मे रहता है और जल मे रह कर भी सूखा ही रहता है। यदि यह दिव्य-दृष्टि जीवन में मिल गई, तो समझ लो कि जीवन की सफल कला मिल गई। जिसे जीवन की यह मंगलमयी कला मिल गई, वह साधक उत्तरोत्तर ऊपर ही उठता जाता है और सासारिक मोह-वासना का कोई विकार उसकी प्रगति में बाधक नहीं होता।

से सीखो। जीवन-व्यापार को सफलता पूर्वक चलाने की महत्त्वपूर्ण कला जल मे खडे कमल से ही सीखी जा सकती है। कमल कीचड मे पैदा होता है, पत्थर की चट्टान, रेत या टीले पर नही। निस्सन्देह वह गहरे सरोवरो मे जन्म लेता है, फिर भी वह पानी से नही भीगता, क्योकि वह पानी से ऊपर रहता है। कमल की यह विशेषता है कि यदि उसके ऊपर पानी डाला जाए, या वर्षा का पानी पडे, तब भी उसमे ऐसी चिकनाहट होती है कि सब पानी बह जाएगा और वह अपने निर्लिप्त गुण के कारण सूखा का सूखा ही रहेगा। हाँ, तो जैसे कमल पानी मे पैदा होता है, फिर भी पानी के प्रभाव से सर्वथा अलग रहता है। इसी प्रकार सफल जीवन का भी आदर्श होना चाहिये।

ऐसा भूलकर भी न समझो कि कमल पानी मे भीगने के भय से बाहर क्यो नही भागता। यदि भागने का प्रयत्न करे तो वह एक क्षण भी जिन्दा नही रह सकता। इसी प्रकार तुम भी ससार के बाहर कैसे भाग सकते हो ? और भाग कर जाओगे भी कहाँ ? इस विश्व से बाहर कहाँ तुम्हारा ठिकाना है ? कही भी जाओ, रहोगे तो ससार के वायुमडल मे ही। इसलिए, जब तक गृहस्थ हो, ससार मे रहते हुए ही, कमल की भाँति निर्लिप्त रहने की कठिन साधना करो। ससार-सागर मे जीवन जहाज को सफलता पूर्वक चलाने के लिये इसके सिवाय और कोई दूसरा चारा नही है।

यदि साधु गोचरी के लिए जाए और वहाँ किसी आकर्षण वश उसका मन डगमगाने लगे तो, यह कैसे चलेगा ?

आखिर, उसे भी यह कला सीखनी ही पड़ेगी। यह अपार संसार है यह दुर्गम दुनिया है। इसी में से वस्त्र-पात्र भी लेना है झोंपड़ियों और महलों में भी जाना है। आँख बन्द करके नहीं चल सकते नाक बन्द करके नहीं जी सकते और हाथ-पैर बाँधकर निष्क्रिय बैठ भी नहीं सकते। सब इन्द्रियाँ अपने गुण-कर्म-स्वभाव के अनुरूप अपना काम करती ही रहेंगी। फिर साधु तो ऐसी कला सीखते हैं कि बातें पीछे सुनते और देखते हुए भी मोह-वासना के कीचड़ में नहीं फँसते। दैनिक व्यवहार में प्रायः वे निन्दा भी सुनते हैं स्तुति भी सुनते हैं अच्छा या बुरा जैसा भी रूप आँखों के सामने से गुजरता है उसे देखते भी हैं। किन्तु निर्लिप्त भावना के कारण वे मोह-जन्य वासना के कुचक्र में नहीं फँसते सदैव उससे परे ही रहते हैं क्योंकि सांसारिक मोह-वासना का कुचक्र साधु-जीवन को अधःपतन के गर्त में ले जाने वाला है।

अस्तु, कमल की वही कला आपको भी सीखना है। यदि भागना भी चाहोगे तो कब तक भागोगे? भगवान् महावीर का यह अटल सिद्धान्त है कि— 'जिस किसी भी स्थिति में रहो किन्तु यह कला सीख लो कि कमल जल में रहता है और जल में रह कर भी सूखा ही रहता है।' यदि यह दिव्य दृष्टि जीवन में मिल गई तो समझ लो कि जीवन की सफल कला मिल गई। जिस जीवन को यह अमृतमयी कला मिल गई, वह साधक उत्तरोत्तर ऊपर ही उठता जाता है और सांसारिक मोह-वासना का कोई विकार उसकी प्रगति में बाधक नहीं होता।

हाँ, तो उस सेठ के लड़के ने नाना-करोड़ों कमाए। वह धन भी कमाता रहा और सदाचारी भी बना रहा। वह धन कमाकर जब घर लौटा तो नगर के लोग उसके स्वागत के लिए उमड़ पड़े। सेठ भी अपने परिवार के साथ हर्षोल्लास से गद्गद स्वागतार्थ दौड़ा। बड़े सम्मान के साथ, उत्सव के साथ और धूमधाम के साथ उसने नगर में प्रवेश किया। वह तो प्रफुल्लित था ही, साथ ही हर एक नगर निवासी भी हर्षोल्लास से भरपूर था।

सेठ का दूसरा लड़का भी बाहर गया, उसने भी किसी व्यवसाय में पूँजी लगाई। किन्तु वह अपनी बुद्धि एवं प्रतिभा का अच्छी तरह उपयोग न कर सका, फलतः उसने कुछ पाया नहीं, किन्तु साथ ही खोया भी नहीं। पिता की दी हुई पूँजी को बराबर बनाए रखा। यही उसकी बहुत बड़ी बुद्धिमानी थी। उसने ठीक ही सोचा—यदि पूँजी में बढ़ोतरी नहीं होनी है तो अब चल देना चाहिए। घर पहुँचने पर यद्यपि उसका बड़े भाई की भाँति स्वागत नहीं हुआ, किन्तु अनादर भी नहीं हुआ। पिता ने उससे कहा—बेटा, खेद की कोई बात नहीं। तुम जैसे गए थे, वैसे ही लौट आए। कुछ खोकर तो नहीं आए यह भी तो एक कमाई है। कुछ न खोना भी तो कमाने के ही बराबर है।

सेठ का तीसरा लड़का लक्ष्मी की गर्मी में और नशे में पागल हो गया, फलतः वह दुराचार में फँस गया। उसने सारी पूँजी भोग-विलास और ऐश-आराम में उड़ा दी। जब सर्वस्व लुट चुका तो खाने को भी मुहाल हो गया। अन्त

में उसने भी घर लौटने की सोची किन्तु शोभनीय पोशाक की जगह चीथड़े पहिने हुए था प्रसन्नता की जगह आँसू बहा रहा था और स्वादिष्ट भोजन के नाम पर भीख माँगता आया था। जब उसने गाँव में प्रवेश किया तो कोई सूचना नहीं भेजी और बीच बाजार से न होकर अन्धेरी गली में से ही घर की ओर भागा। उसने मुँह पर कपड़ा ढँक लिया था जिससे कोई पहचान न सके। आखिर घर में आकर वह रो पड़ा। घर वालों ने कहा—अरे मूर्ख! तू तो मूल पूँजी को भी गँवा आया ?

हाँ तो यह संसार जीवन-व्यापार का एक बाजार है। हम मानव गति-रूप मार्ग से पहुँच गए हैं और व्यापार करने के लिये यहाँ बाजार में एक स्थान मिल गया है। जो पहले नम्बर का व्यापारी होगा वह यहाँ और वहाँ अर्थात्—लोक और परलोक दोनों जगह आनन्द पाएगा। जब लौटेगा तो पहले से उसके स्वागत की तैयारियाँ होंगी। जब यहाँ रहेगा तब यहाँ भी जीवन का महत्त्वपूर्ण सन्देश देगा और जहाँ कहीं अन्यत्र भी जाएगा वहीं सुखद सन्देश सुनाता रहेगा। उसके लिए सर्वत्र आनन्द-मंगल और जय-जयकार होंगे। वह स्वर्गीय जीवन का अधिकारी है।

जो मूल पूँजी लेकर आया है अर्थात्—जिसने इन्सान की यह जिन्दगी पाई है और जो आगे भी इन्सान की जिन्दगी पाएगा उसके लिए कह सकते हैं कि उसने कुछ नया कमाया नहीं तो कुछ अपनी गाँठ का गँवाया भी नहीं।

परन्तु जो आता है इन्सान बनकर और वापिस लौटता है

कूकर-सूकर बनकर, वह फिर क्या हुआ ? यदि वहा पचास, या सौ वर्ष रहा, और लौटा तो कीडा-मकोडा बना, गधा-घोडा बना, या नरक का मेहमान हुआ तो वह हारा हुआ व्यापारी है। वस्तुत वह ऐसा व्यापारी है, जिसने अपने जीवन के लक्ष्य का अच्छी तरह निर्णय नही किया है।

हाँ, तो भारतीय चिन्तन की गूढ भाषा मे भावार्थ यह है कि इन्सान की जिन्दगी श्रेष्ठतम जिन्दगी है। अत जो करना है और जो करने योग्य है, वह सब यहाँ ही कर लेना चाहिए। यदि ऐसा नही किया गया, तब फिर कहाँ करेंगे ?

" इह चेदवेदीदय सत्यमस्ति, न चेदिहावेदी महती विनष्टि ।"

—केनोपनिषद्

"यहाँ का नाश सबसे बडा नाश है ! यहाँ की हार सब से बडी हार है !! यहाँ यदि अच्छी बाते न हुई तो यहाँ-वहाँ सर्वत्र सब से बडा अनादर है, अपमान है।"

मानव, जीवन के चौराहे पर खडा है। यहाँ से एक रास्ता—स्वर्ग एव मोक्ष को जाता है, दूसरा—नरक को जाता है, तीसरा—पशु-पक्षी की योनि को, और चौथा—मनुष्य-गति को जाता है। अब यह तय करना है कि किस रास्ते पर चलना है ? चारो रास्तो के दरवाजे खुले पडे हैं। चारो ओर सडके चल रही हैं। एक ओर प्रकाश चमक रहा है, तो दूसरी ओर अन्धकार घिर रहा है। अब तू विचार ले कि अपनी जिन्दगी को किधर ले जाना चाहता है ! यदि तू सत्य और अहिसा के सन्मार्ग पर चलेगा तो तू यहाँ भी आनन्द-

मसल पाएगा और आगे जहाँ कहीं भी जाएगा जग-संसार को दु:ख के बजाय सुख की ही जिन्दगी देगा। देख ! यह दिव्य प्रकाश का आदर्श मार्ग है। यह वह प्रकाश है जो कभी बुझता नहीं पड़ता अन्धकार से नहीं घिरता।

इस सम्बन्ध में भगवान् महावीर ने कहा है कि—'हृदय में जब धर्म के आचरण करने की पवित्र भावना उत्पन्न हो और संकल्प भी पक्का हो तो फिर टालमटोल करने की क्या आवश्यकता है? 'मा पडिबंधं करेह' अर्थात्—'देरी मत करो। भूखे को जब भूख के समय भोजन मिल जाए तब क्या भूखा इन्तजार करेगा? नहीं उसी वक्त खाएगा और दौड़कर खाएगा।

हाँ तो जब आध्यात्मिक भूख लगी हो जीवन-निर्माण की सच्ची लालसा जागृत हुई हो तो उस समय जीवन का जो महत्त्वपूर्ण मार्ग है सच्चाई का मार्ग है समाज एवं राष्ट्र के हित का कल्याण-पथ है सत्यनिष्ठ होकर उसी पर चल पड़ो! तनिक भी इन्तजार मत करो!! इस रूप में तत्क्षण कारिता ही जीवन-निर्माण का एक महत्त्वपूर्ण आदर्श है जो साक्षात् रूप में हमारे सामने है। परन्तु लोग बहुधा कहा करते है जी हाँ बात ठीक है! पर, अभी अवकाश नहीं है। यह क्या विचित्र चिन्तन है? हृदय की इस प्रलोभन दुर्बलता को जितना भी जल्दी हो दूर कर देना चाहिए और जो कुछ भी सत्कर्म करना हो उसे यथाशीघ्र कर लेना चाहिए। क्योंकि समय की गति तेज है वह किसी की प्रतीक्षा नहीं करता किन्तु अवसर को अवसर प्रकट कर देता है। अवसर भी

साकार रूप में प्रकट नहीं होता, पक्षी की भाँति अपने पख ही फडफडाता है। जो अपनी कुशाग्र बुद्धि से अवसर के पख को पहिचान लेता है और अपने अभीष्ट कार्य को उस पख से सुसम्बद्ध कर देता है, वह समय की द्रुतगामी गति के साथ प्रगति करता हुआ एक दिन अवश्य ही उन्नति के शिखर पर पहुँच जाता है।